

पं. राधेश्याम कथावाचक

रंगायन

सम्पादन : हरिशंकर शर्मा

पं. राधेश्याम कथावाचक

रंगायन

सम्पादन : हरिशंकर शर्मा



हरिशंकर शर्मा

जन्म : 20 जुलाई 1953

स्थान : बरेली (उ.प्र.) में

शिक्षा : एम. ए. हिन्दी, इतिहास बी.एड.

प्रकाशन : आज़ाद हिन्दुस्तान के गुलाम (कहानी संग्रह), पत्रकारिता के अछूते प्रसंग (पत्रकारिता), कबीर की बेदाग़ चादर (गद्य-संग्रह), पं. राधेश्याम कथावाचक : सफ़र एक सदी का, हिन्दी-व्याकरण, यायावरी के रंग, शहर की पगडंडियां, कला का लोकतंत्र, जीवन विमर्श, कविता के बहाने, लघुकथा एक कोलाज, लिखि-लिखि भेजैं पाती, तू हमको पुकारे हम नहीं, संवादहीनता के युग में, पं. राधेश्याम कथावाचक : डायरी का व्याकरण। डॉ. नितिन सेठी द्वारा सम्पादित-हरिशंकर शर्मा : सृजन का आलोक पर्व, 'पं. राधेश्याम कथावाचक : रंगायन'। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित।

सम्मान : साहित्यश्री-2012, अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद (उ.प्र.)। सेवक स्मृति सम्मान-2013, साहित्यिक संघ, वाराणसी। साहित्य सेवा रत्न-2014, राजस्थान साहित्यकार परिषद, नाथद्वारा। विश्व हिन्दी दिवस आयोजन समिति साहित्य सम्मान-2015, मुरादाबाद (उ.प्र.)। साहित्य भूषण-2015, साहित्य, कला एवं संस्कृति संस्थान हल्दीघाटी, नाथद्वारा। अखिल भारतीय शब्द-निष्ठा सम्मान-2015, सरबाड़, अजमेर (राज.)। के.वी. हिन्दी साहित्य समिति, बिसौली, बदायूँ (उ.प्र.) द्वारा 'शहर की पगडंडियां' पुस्तक के लिए हिन्दी विभूषण-2016, साहित्य मण्डल, नाथद्वारा की ओर से भगवती प्रसाद देवपुरा स्मृति समारोह में 'साहित्य सुधाकर सम्मान-2018'। पं. राधेश्याम कथावाचक सम्मान-2018।

प्रकाशनाधीन : 'भ्रमर पत्रिका का शताब्दी वर्ष', 'पं. राधेश्याम कथावाचक : जीवन की नींव'

सम्प्रति : केन्द्रीय विद्यालय में भाषा शिक्षक पद से सेवानिवृत्त।

सम्पर्क :
प्लाट नं. 213, 10-बी स्कीम, गोपालपुरा बाईपास
निकट शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, जयपुर-302018 (राज.)
मो. : +91-9461046594, 8890589842 (वॉट्सएप्प)
ई-मेल : harishankersharma53@rediffmail.com

9461046594

पं. राधेश्याम कथावाचक

रंगायन

सम्पादन

हरिशंकर शर्मा

बोधि
साहित्य जन-जन के लिए

बोधि
साहित्य जन-जन के लिए

बोधि प्रकाशन
सी-46, सुदर्शनपुरा इंडस्ट्रियल एरिया एक्सटेंशन
नाला रोड, 22 गोदाम, जयपुर-302006
फोन : 0141-2213700
ई-मेल : bodhiprakashan@gmail.com

प्रथम संस्करण : 2020

ISBN : 978-93-90419-08-1

कम्प्यूटर ग्राफिक्स : बनवारी कुमावत

आवरण संयोजन : बोधि टीम

मुद्रक
तरु ऑफसेट, जयपुर

मूल्य : ₹ 299/-

P. RADHEYSHYAM KATHAWACHAK : RANGAYAN (ARTICLES)
Edited by Harishankar Sharma

समर्पण



डॉ. भोला शंकर शर्मा

(वर्ष 1906–1960 ई.)

प्रेरणा

श्रीनिका (पौत्री)

(द्वितीय जन्मदिवस 23 अगस्त, 2020)

वीर अभिमन्यु जहाँ एक ओर पारसी थियेटर में धार्मिक चरित्र बनकर आया, वहीं आधुनिक हिन्दी प्रबंधकाव्य चरित्र बनकर भी आया। ...अभिमन्यु जहाँ एक महान योद्धा था, वहीं दूसरी ओर देश पर प्राण न्यौछावर करने वाला एक स्वतंत्रता सेनानी भी था। अपने कुल, देश और धर्म के नाम पर कथावाचक का अभिमन्यु अपना जीवन कुर्बान कर देता है।

पारसी थियेटर के पुरोधा



आगा हश्र 'कश्मीरी'

वाराणसी



नारायण प्रसाद 'बेताब'

दिल्ली



पं. राधेश्याम कथावाचक

बरेली

कॉपीराइट विवादों के कारण राधेश्याम कथावाचक के 'उद्धार' (जनवरी, 1943 ई.), 'आजादी' (20-10-1951 ई.), 'धनाभगत' (02-11-1951 ई.) आदि नाटक अप्रकाशित ही रहे। डायरी पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि वे 'रावण-राज्य' (राजनीति विषय का) नाटक लिखने की भूमिका में थे। लेकिन कथावाचक का यह सपना अधूरा ही रहा। राघवाचार्य ने कथावाचक के नाटक 'सुख-दुःख' की चर्चा की है। इसकी पाण्डुलिपि मुझे नहीं मिली। फ़िल्म/नाटक 'सत्यनारायण' की मूल प्रति मेरे संग्रह में है।

अनुक्रम

सम्पादकीय

पारसी नाटक की त्रयी में आगाहश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। कथावाचक की भूमिका इस त्रयी में सबसे अलग है। पारसी थियेटर कभी एक बड़े साम्राज्य की तरह था, लेकिन आज यह इतिहास का विषय बनकर रह गया है। पं. राधेश्याम कथावाचक के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ। पं. राधेश्याम कथावाचक का साम्राज्य उन्हीं के सामने हिलने लगा था। परिवार के लोगों में मतभेद, विवाद, शरीर में लगा रोग, उपेक्षा तथा रायल्टी के पैसों से जीवनयापन करने को मजबूर राधेश्याम। ऐसा अनुभव उनकी डायरियों को पढ़ने पर हुआ। उन्होंने 'बहुरंगी जीवन' के स्थान पर एक रंग में रंगने का महत्व समझा और जीवन के अन्तिम पड़ाव तक इसका पालन किया। कथावाचक ने अपने जीवन काल में ही लगभग स्वयं की लगभग 50 पुस्तकों का लेखन किया। लगभग 150 से अधिक पुस्तकों का सम्पादन-प्रकाशन किया। रामायण की सवा लाख प्रतियाँ उनके जीवन काल में भारत के परिवारों तक पहुँच चुकी थीं। केवल 'अभिमन्यु' नाटक की एक लाख से अधिक प्रतियाँ भी उनके जीवन काल में पाठकों तक पहुँची। राधेश्याम प्रेस (1917 में स्थापित) की धूम पूरे भारत में थी। लेकिन आज यह प्रेस मात्र नाम से पहचाना जाता है। नाटक और कथावाचन के क्षेत्र में समानरूप से वे पचास वर्ष तक 'बेताज बादशाह' बने रहे। आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो मानते हैं कि राधेश्याम कथावाचक आज भी प्रासंगिक हैं और व्यावसायिक रंगमंच के निर्माण एवं विकास में उनके योगदान से बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

डॉ. जीवन सिंह ने कथावाचक की इस लोकप्रियता को तीसरी दर्जे की माना है, 'जो स्थाई नहीं होती, किन्तु जब उस समय की स्मृति हो आती है तो वह भी सामने आ जाती है। ...उनको ऐसी लोकप्रियता बीसवीं सदी को पूर्वार्ध में अपने सामने ही मिल गयी थी।' इस विषय में स्वयं कथावाचक कहते हैं- ''मैं सोचते-सोचते थक गया कि

कैसे मैं सर्वप्रिय और सर्वविख्यात हो गया मेरी 'रामायण' के सवा करोड़ प्रतियाँ कैसे छप खप गयीं। 'वीर अभिमन्यु' नाटक कैसे लाखों तक प्रिय हुए। जबकि मैं हाईस्कूल तक पास नहीं... यह मेरी ईमानदारी का नतीजा है।'' (27 जनवरी 1960 ई. डायरी से) साथ ही कथावाचक का यह कथन उनके महत्व को समझने के लिए महत्वपूर्ण है-'कला और धंधा दोनों अलग-अलग हैं। कला धंधे के रूप में नहीं रह जाती केवल धंधा व्यापार रह जाती है। यही सरस्वती पर लक्ष्मी की विजय है वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रहलाद लिखने के समय मैं कलाकार था। अपनी रामायण का अयोध्याकाण्ड लिखने तक मैं कलाकार था। नाटकों से अधिक धन मिलने तथा रामायण की अधिक बिक्री से कला का गला घुटने लगा।' (25 सितम्बर 1959 ई. कथावाचक की डायरी से)

वस्तुत: राधेश्याम कथावाचक (25 नवम्बर 1890 से 26अगस्त 1963 ई.) अपने दोनों समकालीन नाटकारों (आगाहश्र कश्मीरी एवं नारायण प्रसाद बेताब) से बेहतर स्थिति में थे। वे प्रसिद्ध कथावाचक के रूप में स्थापित हो चुके थे। रामायण और महाभारत के कथा प्रसंगों पर पौराणिक नाटक लिखने में उन्हें कोई अतिरिक्त काम नहीं करना पड़ा। कथावाचक ने नाटक तथा एकांकी सहित अनेक ग्रंथों का सृजन भी किया है। राधेश्याम कथावाचक द्वारा रचित नाटकों का विवरण इस प्रकार है- वीर अभिमन्यु (1915 ई.) श्रवण कुमार (1916ई.); ऊषा अनिरूद्ध (1924 ई.) श्री कृष्ण अवतार (1926ई.); मशरिक़ी हूर (1926ई.) रुकमणि-मंगल (1927 ई.); ईश्वर भक्ति (1929 ई.); द्रोपदी स्वयंवर (1919 ई.); महर्षि वाल्मीकि (1932 ई.); देवर्षि नारद (1961 ई.); सती-पार्वती (1939 ई.)।

एकांकी नाटकों में- कृष्ण सुदामा; घंटा-पंथ; शान्ति के दूत भगवान श्री कृष्ण, सेवक के रूप में भगवान श्रीकृष्ण, भारत-माता। एकांकी 'घंटा-पंथ' महर्षि वाल्मीकि नाटक के प्रहसन (नाटक) से अलग करके बाद में प्रकाशित हुआ था तथा 'द्रोपदी-हरण' का संशोधन कवि नाथूलाल अग्निहोत्री 'नम्र' ने किया था- 'महर्षि वाल्मीकि नामक प्रहसन नाटक पुस्तक से अलग करके 'घंटा पंथ' पुस्तक के रूप में छपने प्रेस में दिया गया। इस दौरान कवि नाथूलाल अग्निहोत्री 'नम्र' ने द्रोपदी हरण का संशोधन किया।' (कथावाचक की डायरी का व्याकरण पृष्ठ : 29, 26 जुलाई 1939 ई.)

महाभारत के प्रसंग पर आधारित 'वीर अभिमन्यु' कथावाचक का पहला नाटक था, इसकी धूम पूरे भारत में थी। भारत का शायद ही कोई समाचार पत्र या पत्रिका बची हो जिसने इस नाटक की सफलता पर अग्रलेख न लिखें हों। इस नाटक की चर्चा आलेख रूप में है। कथावाचक के नाटकों में समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम, स्त्री-शिक्षा, वेश्या सुधार, खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार की अनुगूँज है। नवजागरण के अनेक पक्षों से नाटककार भलीभांति परिचित है। सनातन धर्म की पताका लिए कथावाचक आर्यसमाज तथा बंगाल के समाज सुधार का पक्ष लेकर चले हैं। देश की आजादी की लड़ाई उन्होंने सीधे-सीधे भले ही न लड़ी हो, लेकिन कथावाचक का मन अंग्रेजी साम्राज्य की दमनकारी नीतियों तथा कम्युनिष्टों की कुत्सित चालों से दु:खी था। वे जीवन भर कांग्रेस के मान्यता प्राप्त सदस्य बने रहे। उनकी निगाह कांग्रेस पार्टी की कमजोरियों पर भी थी।

कथावाचक ने 'रामराज्य' की कल्पना को 'रमाराज्य' कहा है। कथावाचक राजनीति क्षेत्र के आदमी नहीं थे अत: उन्होंने लिखा- ''राजनीति की बातें सूत्र रूप में हो सकती हैं... अन्यथा हम धर्माचार्य भी कब हैं? कवि या कथाकार हैं।'' (4 नवम्बर 1960 ई.)

वस्तुत: राधेश्याम कथावाचक मूलत: कथावाचक थे, पारसी थियेटर से उनका जुड़ाव और विभिन्न नाट्य कम्पनियों के लिए उनका नाट्य लेखन उनका शौक था। कथावाचक ने अपनी शर्तों पर, गरिमापूर्ण तरीके इस कार्य का निर्वाह किया। कथावाचक नाट्य मंच छोड़कर फ़िल्मों की ओर भी गये लेकिन जल्दी ही उनका मोहभंग हो गया। उन्हें फ़िल्मी दुनिया की ज़िन्दगी और सनातनी विचारों के विरोधाभास के कारण ऐसा करना पड़ा।

मैंने अपनी पहली पुस्तक 'पं. राधेश्याम कथावाचक सफ़र एक सदी का' में- कथावाचक ने रामायण, नाटक, प्रकाशन आदि के माध्यम से जिस प्रवृति, गायन शैली (राधेश्याम छंद) को जन्म दिया, उसका दामन थामे अनेक कलाकार, लेखक नाटककारों को अनुकूल परिवेश मिला। फिदा हुसैन नरसी तथा ललित गोस्वामी कथावाचक की ही खोज का परिणाम हैं। 'भ्रमर' पत्रिका की फाइलों पर केन्द्रित मेरी पुस्तक - 'भ्रमर का शताब्दी वर्ष' (1922-1929 ई.) प्रेस में है। इस पुस्तक के आने

पर लोगों को कथावाचक के पत्रकारिता गुण से परिचित होने का सौभाग्य मिलेगा। यह यशोधन पत्रिका थी। पत्रकारिता के इतिहास में इसे ओझल क्यों कर दिया?

कथावाचक के 'कृष्णायन' पर केन्द्रित पहली समीक्षात्मक पुस्तक यथाशीघ्र पाठकों के बीच होगी- 'कृष्णायन: जीवन की नींव'।

कथावाचक ने अपने जीवन के तीन कार्यों का उल्लेख डायरी में किया है- ''कथावाचन, लेखन और प्रकाशन।' हिन्दी का प्रचार-प्रसार के पक्षधर थे अत: उनकी रामायण नाटकों व फ़िल्मों दुनिया में किये गये कार्यों का एक ही उद्देश्य था। उर्दू के गढ़ में हिन्दी का प्रचार-प्रसार। अत: उनकी भाषा 'हिन्दुस्तानी' के निकट जान पड़ती है जिसे हिन्दी-उर्दू के बीच का सेतु बनाकर महात्मा गाँधी जैसे लोगों ने उनकी अवधारणा प्रस्तुत की थी। ... यह भाषिक कटुता-विवाद को दूर करने में दूर तक सफल हुई थी। ... अपने जमाने में उनका कथा भाषा के विकास में योगदान देवकी नन्दन खत्री जैसा था।'' (राधेश्याम कथावाचक 'मधुरेश', पृष्ठ : 143)

कथावाचक मिशनरी भावना (एक बेड़े मिशन के तहत) से अपने चुने हुए कार्य में सक्रिय रहे। स्वाधीनता आन्दोलन की मूल-दृष्टि उनकी रचनाओं का प्राण है। इसी कारण अपने युग में उन्हें अपार सफलता और स्वीकृति मिली। उनके योगदान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में चर्चा एवं मूल्यांकन हो, तभी उनके रचनाकर्म की सार्थकता को रेखांकित किया जा सकता है (मधुरेश, बही पृष्ठ)

कथावाचक के सन्दर्भ में मेरी दूसरी पुस्तक- ''पं. राधेश्याम कथावाचक : डायरी का व्याकरण (संस्करण-2019) डायरियों पर केन्द्रित है। कथावाचक की ये डायरियाँ उनकी आत्मकथा 'मेरा नाटककाल' से पृथक धरातल का निर्माण करती हैं। इन डायरियों के अध्ययन के बिना कथावाचक के व्यक्तित्व पर लिखना अधूरा ही रहेगा।

कथावाचक पर लिखने के लिए बहुत कुछ है और पृष्ठों की संख्या सीमित। अत: राधेश्याम कथावाचक पर सम्पादित प्रस्तुत पुस्तक 'रंगायन' की ओर लौटता हूँ। कथावाचक के आलेखों पर केन्द्रित सम्पादित पुस्तक का सर्वप्रथम सुझाव आलोचक 'मधुरेश' ने दिया था। कथावाचक की डायरियों पर केन्द्रित मेरी पुस्तक वे पढ़ चुके थे। इस कार्य में सबसे बड़ी चुनौती थी लोगों से सम्पर्क करना और उनसे आलेख प्राप्त

करना। डॉ. जीवन सिंह (अलवर) तथा श्री रणवीर सिंह (जयपुर) से आलेख मुझे उन्हीं की कृपा, अनुरोध पर प्राप्त हो सके। 'मधुरेश' ने अपने लेख की मौखिक स्वीकृति मुझे मिल चुकी थी। डॉ. हेतु भारद्वाज का आलेख मुझे अंतिम चरण में प्राप्त हुआ, इस सहयोग-आशीर्वाद का मैं आभारी हूँ। डॉ. पामेला लोथस्पिच (मूल लेखिका, अमेरिका) के 'वीर अभिमन्यु' शीर्षक से उनके आलेख का अनुवाद डॉ. नितिन सेठी ने बड़े श्रम से किया है। दोनों का आभार।

बरेली की पृष्ठभूमि तथा कथावाचक के प्रति आस्था रखने वाले लेखक-भाई सुधीर विद्यार्थी, डॉ. लवलेश दत्त, डॉ. नितिन सेठी; डॉ. अशोक उपाध्याय, प्रभात तथा रणजीत पांचाले का मैं आभारी है, जिन्होंने मेरे इस यज्ञ की पूर्णाहुति में समय-समय पर सहायता की। कथावाचक के प्रति आस्था रखने वाले इन लेखकों का सहयोग प्राप्त होने के पश्चात मेरा पचास प्रतिशत कार्य पूर्ण हो गया। अब बारी थी- पत्र-पत्रिकाओं तथा कथावाचक के ग्रंथों को खंगालने की। इस दौरान मुझे नाटकों तथा विविध विषयों पर केन्द्रित महत्वपूर्ण विषय मिले। कथावाचक जी के प्रपौत श्री संजय शर्मा ने भी इस कार्य में मेरी पर्याप्त सहायता की। अनेक आलेख उन्होंने मुझे उपलब्ध कराये हैं। इस प्रकार कथावाचक पर पुस्तक 'रंगायन' को गति मिलती गयी। साहित्य अकादमी (नई दिल्ली) में कार्यरत अजय शर्मा के अथक सहयोग से मुझे 'अमर उजाला' में प्रकाशित सुरेन्द्र मोहन मिश्र का आलेख 'बरेली की विक्टोरिया ड्रामेटिक कम्पनी' प्राप्त हुआ है। मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

पुस्तक के दो खण्ड हैं- 'रंगायन' और 'रूपायन'। यह शब्दावली नाटक शब्दकोश का ही हिस्सा हैं। नाटक, नाटकों की प्रवृत्तियाँ तथा अन्य विषय (जो नाटक तथा अन्य पक्षों को लेकर चले हैं) 'रंगायन' 'रूपायन' का विषय हैं। आलेखों की प्रस्तुति, विषय, चयन तथा क्रमानुसार वर्णन में जन्मतिथि, वरिष्ठता तथा वरियताक्रम आदि की ओर ध्यान न देकर केवल विषय पर दृष्टि है। अत: यह मात्र संयोग नहीं, एक योजना की तरह पुस्तक-'राधेश्याम कथावाचक : रंगायन' में दिवगंत पीढ़ी, कथावाचक के समकालीन तथा वर्तमान पीढ़ी को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। ताकि वर्तमान पीढ़ी कथावाचक के योगदान के विविध पक्षों, विशेषकर नाटकों के योगदान की एक साथ पढ़ सके। इससे खोज के नये आयाम जुड़ेंगे।

यह पुस्तक प्रो. भोलाशंकर शर्मा (1906-1960) को समर्पित है। मैं उन सभी लेखकों/ रचनाकारों का आभारी हूँ जिनके सहयोग से यह पुस्तक आप तक पहुँचा रहा हूँ। आभारी हूँ- डॉ. हेतु भारद्वाज (जयपुर) तथा डॉ. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी (शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालय पं. बंगाल) तथा देवर्षि कलानाथ शास्त्री का जिनके अमूल्य सुझाव मुझे समय-समय पर मिलते रहे। प्रकाशक मायामृग तथा उनकी टीम को सलाम जिसका परिणाम है यह पुस्तक।

पाठकों/लेखकों को सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी। सधन्यवाद!

-हरिशंकर शर्मा

213/10-वी स्कीम गोपालपुरा बाईपास,

जयपुर (राज.) पिन-203018

मो. : 09461046594

रंगायन



हारमोनियम पर रामायण कथावाचन की मुद्रा में पं. राधेश्याम कथावाचक। कथावाचक जी का यह चित्र सर्वप्रथम इण्डियन प्रेस, प्रयाग के संस्करण में सन् 1917 में प्रकाशित हुआ था।

राधेश्याम कथावाचक

मेरा नाटकीय जीवन और उसके कुछ अनुभव

सन् 1910 ई. से मुझे इस कला से प्रेम है। बरेली ही में-जहाँ मैं रहता हूँ-पंजाब के स्वर्गीय बाबू नानकचन्द की न्यू अलफर्ट कंपनी आई थी। उनके रामायण नाटका का मुझे संशोधन करना पड़ा था। बात यह हुई थी कि उस कंपनी ने अपना 'रामायण नाटक' स्वर्गीय जयपुर-नरेश सवाई माधवसिंह जी को हरिद्वार में दिखाया था। उन्होंने उसमें कुछ त्रुटियां बतालाईं और उसी समय उक्त महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रायबहादुर श्री अविनाश चन्द्र जी ने मेरा नाम मालिक कंपनी को बताया कि उनसे शुद्ध कराइये-यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन दिनों जयपुर-दरबार के रत्नों पर मेरा खूब प्रभाव था; कारण, कि मैं अपनी रामायण सुनाने प्रायः बुलाया जाता था-हुआ यह कि बरेली में ही मैंने उनकी रामायण का संशोधन किया और वह लोगों को खूब पसन्द आया। उन दिनों उस कंपनी में वे ऐक्टर काम करते थे, आज नाटक के सितारे कहला रहे हैं; जैसे-कि. काबुली, मास्टर निसार और मि. रहीमबख्श, मास्टर रहमत आदि। हिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दू भाई बहुत ही थोड़े थे, जिनको मैंने 'रामायण' में लिया था। इसके उपरान्त बम्बई की न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कंपनी बरेली आई। उसके मालिक ने खासतौर पर मुझे एक हिन्दी नाटक लिखने के लिये उत्साहित किया। मैंने उनके उत्साह दिलाने पर वीर अभिमन्यु लिखा। उस समय मैंने यह इरादा कर लिया था, कि पूर्ण हिन्दी का नाटक लिखकर दूंगा। और यही हुआ भी। तब से आज तक हिन्दी का इतना प्राधान्य हो। इस नाटक की सफलता के संबंध में मुझे इतना ही कहना है कि महामना मालवीय जी तक ने देखकर इसकी प्रशंसा की, पंजाब यूनिवर्सिटी के 'हिन्दी भूषण' और इण्टरमीडियट क्लासों के कोर्स में होने का इसे मान मिला। यह मान आज तक पारसी मंच के किसी नाटक को भी नहीं मिला है। इसी को सामने रखकर पिछले वर्ष मेरे मित्र जौहर जी ने देश का लाल लिखकर मंडल थिएटर को दिया, और उसके गानों को पुस्तक में इसका हवाला दिया, तथा इसी प्लाट पर अब बम्बई की किसी कंपनी ने टाकी में भी 'वीर अभिमन्यु' निकाला है।

हिन्दी के पत्रों ने उस समय इसकी खूब प्रशंसा की थी। पूज्य द्विवेदी जी ने सरस्वती में, अमरशहीद विद्यार्थी जी ने प्रताप में, प्रोफेसर इन्द्रजी ने विजय में, पं. कृष्णकांत जी ने अभ्युदय में-कहाँ तक गिनाऊँ। सभी विद्वान कृपालुओं ने अपने-अपने पत्रों में इसकी प्रशंसा करके मुझे प्रोत्साहित किया। इसकी सफलता के कारण इस जगत में मेरी पूर्ण ख्याति हो गई और तब सूर विजय नाटक समाज ने मुझसे श्रवण कुमार, बाल कृष्ण, ऊषा-अनिरुद्ध आदि नाटक लिखवाये और गंगावतरण, सीता-वनवास आदि नाटक शुद्ध करवाये। 'न्यू अल्फ्रेड' वाले भला कब चुप रहने वाले थे। उनके डायरेक्टर मि. सोराबजी-फ्रामजी ओग्रा ने-जिन्हें मैं आज तक पारसी स्टेज का सर्वश्रेष्ठ डायरेक्टर समझता हूँ-दूसरा नाटक लिखने को मुझे उत्साहित किया और मैंने प्रहलाद लिखकर दिया, जो तीन वर्ष तक बराबर उस कंपनी में प्रत्येक शनिवार को खेला जाता रहा। उन दिनों इस कंपनी में अच्छे काम करने वाले नट थे, जैसे मि. भोगीलाल मि. फूलचन्द मारवाड़ी आदि आगे तो उक्त कंपनी से मेरा वैतनिक संबंध हो गया। कंपनी में एक्ट्रेसें नौकर नहीं रखी जाती थीं-स्त्री पार्ट भी पुरुष ही करते थे-और धार्मिक पार्ट ब्रह्मणों ही से कराये जाते थे; इसलिये मैंने सहर्ष उस संबंध को स्वीकार कर लिया और क्रमशः परिवर्तन, मशरिकी हूर, श्रीकृष्णावतार, रूक्मिणीमंगल श्रवण कुमार, ईश्वरभक्ति, द्रौपदी-स्वयंम्बर आदि नाटक लिखकर अपने डारेक्शन में स्टेज कराये; क्योंकि मेरे श्रद्धेय मि. सोराबजी ने अस्वस्थ रहने के कारण कंपनी को छोड़ दिया था। यह सभी नाटक सफल रहे। 'परिवर्तन' लगातार नौ दिन तक दिल्ली में खेला गया था, 'श्रीकृष्णावतार' को पूज्य महामहोपाध्याय पं. गिरधर जी शर्मा और भाई हरिहर स्वरूप शास्त्री बी.ए.-व्याख्यान वाचस्पति पं. दीनदयालुजी के सुपुत्र-ने देखकर यह कहा-'यह सच्ची सनातन धर्म की सेवा है।' मुझे याद है कि दिल्ली में जब यह स्टेज होता था, तो टिकट की खिड़की पर पुलिस को पहुंचकर भीड़ का इंतजाम करना पड़ता था, इसी एक नाटक की सफलता ने लाहौर में इम्पीरियल कंपनी को 'मैडन' के हाथ बिकवा दिया। मेरे कृपालु मित्र बाबू प्रेमचन्द जी तो इस नाटक पर इतने मुग्ध हुए कि आपने इसके कुछ सीनों के ब्लॉक बनवाकर प्रशंसा के साथ 'माधुरी' में एक पूरा लेख प्रकाशित किया था। बड़े अच्छे-अच्छे नटों ने इसमें काम किया था। सर्वश्रेष्ठ पार्ट नारद का होता था जिसको करने वाले मेरे प्रिय शिष्य पं. रामकृष्ण चौबे थे, जो आजकल मद्रास की किसी फ़िल्म-

कंपनी में अच्छे वेतन पर काम कर रहे हैं। 'श्रवणकुमार' का तो प्रारंभिक उद्‌घाटन करने विद्यावाचस्पति प्रोफेसर इंद्रजी-अमर संयासी श्रद्धानंदनजी के पुत्र-पधारे थे- कैसा प्यारा था वह दिन? मेरे मित्र बाबू प्रवासीलाल वर्मा मालवीय (जो अब हंस के सहकारी संपादक हैं) मेरे साथ उस कंपनी में थे। यह ऐक्टर का हिन्दी उच्चारण ठीक कराया करते थे तथा प्रेस-संबंधी संपूर्ण कार्य किया करते थे।

'ईश्वर-भक्ति' नाटक उस कंपनी का पूर्ण प्रकाशमान नक्षत्र था। पहले दिन इसका श्रीगणेश कराने स्वयं वैकुण्ठवासी राजर्षि पं. मोतीलाल नेहरू पधारे थे। वह भी उस वर्ष, जिस वर्ष वे इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रेसीडेन्ट थे। इतना बड़ा जनसमूह किसी थिएटर में खुद मैंने आज तक नहीं देखा है-मुझे तक खड़े रहने को जगह नहीं थी-उस रात की, इस नाटक की सफलता आज भी इन आँखों को देखने को मिलेगी या नहीं, इसमें संदेह है। यहाँ यह कह देना परम आवश्यक है कि उस कंपनी के मालिक मि. मेहर्बानजी-खुरशेदजी कापड़िया और मि. माणिक शाह-कोलाभाई बलसारा की मुझ पर पूर्ण कृपा थी, उसी कृपा यह सुंदर फल था, कि मैंने उस कपंनी को पूर्ण हिन्दुत्व और हिन्दीत्व के पद पर पहुँचा दिया था, जहाँ उपर्युक्त बड़े-बड़े नेता भरतपुर, जयपुर, कश्मीर, टेहरी आदि के अनेकानेक नरेश तथा सनातन धर्म और आर्य समाज के महान से महान विद्वान सहर्ष पधारते थे और यह समझते थे कि 'न्यू अल्फ्रेड' हमारी है। अन्त में सन् 1930 में मेरा स्वास्थ्य भयानक रूप से खराब होने लगा, खांसी के साथ-साथ दमें का रोग लगा और मुझे बड़े दु:ख के साथ 850 रुपये मासिक की नौकरी, मालिकान कंपनी से प्रेमपूर्वक विदाई लेकर छोड़नी पड़ी। करीब डेढ़ वर्ष के आराम और चिकित्सा से अब मैं स्वस्थ अवश्य हुआ हूँ, पर यह नहीं कह सकता कि मेरा स्वास्थ्य फिर उतना बड़ा कार्य मुझसे करा सकेगा। यद्यपि पिछले मास 'मेडन थियेटर्स' की एक टाकी फ़िल्म के लिए एक ड्रामा शकुंतला मालिकान के आज्ञानुसार 15 दिन में ही लिखकर मुझे निकालना पड़ा है; परन्तु कह नहीं सकता कि कहां तक स्वास्थ्य मुझसे हिन्दी माता की यह सेवा करा सकेगा। यह तो मेरे नाटकीय-जीवन की कथा है और अनुभव यह है, जिन्हें संक्षिप्त में मैं हंस के पाठकों को बताता हूँ-

1. वर्तमान नाटक कंपनियों में तीन जातियों का प्रवेश है-पारसी, मुसलमान और हिन्दू; इसमें हिन्दू भाई प्राय: बम्बई प्रान्त के रहने वाले हैं, जिनकी मातृभाषा

हिन्दी नहीं। पारसी और मुसलमान भाई तो हिन्दी भाषा के अच्छे जानकार अधिकतर होते ही नहीं है। गुजराती और उर्दू उनकी मातृभाषायें हैं-यही कारण है कि बम्बई प्रान्त में गुजराती नाटकों का और उर्दू नाटकों का जोर है; अतएव हिन्दी की पूर्ण सेवा तभी हो सकती है, जब हिन्दी भाषी प्रान्तों के युवक, नटों के रूप में वहाँ पहुँचकर कार्य करें। श्री नन्दकिशोर, दिलीप गुप्ता और मास्टर जगन्नाथ जो न्यू अल्फ्रेड और अल्फ्रेड में श्रेष्ठ नट हैं, वे इसलिये कि हिन्दी भाषा भाषी प्रान्त के हैं।

2. हिन्दू भावों के धार्मिक नाटक, जो मेरे द्वारा या मेरे मित्र बेताबजी, जौहरजी द्वारा पहुँचे हैं, इसका कारण जनता की मांग है, या बम्बई प्रान्तवासी होने पर भी उन हिन्दुओं का संयोग है-जो इस जगह काम कर रहे हैं। अहमदाबाद के आसपास 'नायक' नाम की एक जाति है। कहा जाता है, कि ये जाति ब्राह्मण है। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि वर्तमान नाटक कंपनियाँ इसी जाति के सहयोग के कारण बनीं और चल रही हैं। इस जाति में जन्म लेने वाला प्रत्येक बालक मानों नाटक का ऐक्टर बनने के लिए जन्म लेता है। इन लोगों के यहाँ यही धन्धा होता है-दूसरा नहीं। वर्तमान प्रख्यात नट-श्री नर्मदाशंकर नायक-मैडन थियेटर में काम करने वाले-तथा स्वर्गीय स्वनामधन्य अमृतलाल और बालाभाई इसी जाति के रत्न है। यदि यह भाई हिन्दी के पूर्ण शिक्षित बन जाये, तो निःसंदेह स्टेजों की हिन्दी अत्यंत शीघ्र और बड़ी आसानी से खिले हुए पुष्प की तरह महक उठे। मैंने अब तक इस जाति में एक ही ऐसा व्यक्ति हो पाया है, जो हिन्दी के पूर्ण ज्ञाता तथा पूर्ण भक्त हैं, वे हैं उपर्युक्त नर्मदाशंकर नायक, जो मैडन थियेटर्स में इन दिनों काम कर रहे हैं। यदि मेरी यह लाइनें उनके दृष्टिगोचर हों, तो मेरी उनसे अपील है कि वे अपने भाइयों में हिन्दी के लिए कुछ करें।

3. शिक्षितों का इस संसार में अभाव है। चरित्र का यहाँ दर्शन तक नहीं है। 'परस्पर की ईर्ष्या और स्वार्थ ने इस कला के कलाघरों को इस तरह दबोच रखा है, कि मानों उन्होंने मनुष्य-योनि में जन्म ही नहीं लिया है। यही कारण है कि कोई विद्वान, चरित्रवान इधर आता तक नहीं, और आ भी जाता है तो थोड़े दिनों टक्करें मारकर सदा के लिए नमस्कार कर लेता है। स्वयं मुझ पर ऐसे-ऐसे समय आये हैं कि नाटक लिखना तो क्या 'नाटक' के नाम तक से घृणा हुई है; पर क्या करूँ आखिर तो लंका में जाकर ही सीता माता की सुधि हनुमानजी को लेनी पड़ी थी, इस वातावरण में रहकर ही तो हिन्दी-माता और हिन्दू-जाति की कुछ सेवा, कुछ कल्याण कर सकूँगा-

इसी उद्देश्य से जो कुछ बन पड़ता है, करता हूँ और करूँगा। जरूरत है कि 'हिन्दी रंगमंच लिमिटेड' बनाया जाये और उसमें सुयोग्य, सुशिक्षित एवं चरित्रवान व्यक्ति रखकर इस कला का उद्धार किया जाये।

अमेच्योर क्लब को जब मैं देखता हूँ, तो और भी रो उठता हूँ। उनके यहाँ, इस बात का तो आंदोलन है कि पारसी कंपनियों के नाटक अच्छे नहीं होते, पर स्वयं किसी ने भी कोई अच्छा नाटक लिखकर और खेलकर हिन्दी-जगत में धूम नहीं मचायी। अत्युक्ति नहीं होगी, अगर यह लिख दूं कि मेरे 'वीर अभिमन्यु', 'परिवर्तन' और 'श्रवणकुमार' आदि नाटकों को सभी 'अमेच्योर क्लब' वालों ने खेला है, कोई भी भारत में ऐसा अमेच्योर क्लब नहीं है, जिसने ने खेला हो। यद्यपि उन्हें खेलने का अधिकार नहीं है-न मेरी आज्ञा है, न मालिकान कंपनी का। यह तो मेरी कंपनी के मालिकान की मुझ पर पूर्ण कृपा रही है कि मैंने उनके आज्ञानुसार अपने नाटक अपने राधेश्याम प्रेस से प्रकाशित कर दिये हैं, नहीं तो इस क्लब वालों को यह भी नहीं मिलते। भाइयों, नवयुवकों! कुछ कर दिखाओं, कुछ कर दिखाने का जमाना है। हिन्दी के नाटक बंगला, मराठी, अंगरेजी तथा जर्मन भाषाओं के नाटकों से आगे बढ़ गए हैं। यह शुभ संकेत हैं।

'हंस' (आत्मकथा अंक)
सम्पादक : प्रेमचंद
जनवरी-फरवरी 1932 ई.

'भारतमाता' नाटक की प्रेरणा

'हिन्दी-मौलिक ग्रंथावली' की यह प्रथम पुस्तक 'भारतमाता' लेकर आज हम हिन्दी प्रेमियों के समक्ष उपस्थित हुए हैं। उपस्थित तो हुए, परन्तु संकोच हो रहा है। संकोच इसलिए कि इस पुस्तक में ऐसा कौनसा लोकोत्तर चमत्कार है जिसके कारण हमारी यह धृष्टता क्षम्य समझी जा सके। इसका केवल एक ही उत्तर है, और वह यह कि अपनी स्वल्प क्षमता और योग्यता के अनुसार मातृभाषा की सेवा करके हम भी अपने को कृतकृत्य करने का अवसर प्राप्त करें। अतएव भला या बुरा जैसा कुछ है, मातृभाषा की सेवा का यह एक तुच्छ निदर्शन है।

आज से एक वर्ष पहले की बात है कि जालन्धर कन्या महाविद्यालय की प्रधानाध्यापिका श्रीमती लज्जावती पण्डिता महोदया ने हमसे स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी एक नाटकीय ढंग का निबन्ध लिख देने के लिए अनुरोध किया था। उनकी अभिलाषा थी कि विद्यालय के वार्षिकोत्सव पर विद्यालय की छात्राएं उसे ले लें। श्रीमतीजी के अनुरोध का पालन करते हुए हमने उक्त निबन्ध यथासमय लिख तो दिया, किन्तु पंजाब में आकस्मिक घटनाओं को घटाटोप उमड़ आने के कारण वह यथासंभव विद्यालय में खेला न जा सका। अन्त में यह सोचकर कि उसका पुस्तक रूप में ही प्रकाशित हो जाना सार्थक होगा, हम उसे 'भारतमाता' के नाम से प्रकाशित करते हैं। वास्तव में पण्डिता लज्जावती महोदया का अनुरोध और अनुग्रह ही इस पुस्तक का हेतु है। अतएव हम श्रीमतीजी के कृतज्ञ हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत पुस्तक 'हिन्दी-मौलिक ग्रंथावली' का पहला ग्रंथ है। अथवा यों कहना चाहिए कि 'मौलिक पुस्तकमाला' का यह पहला पुष्प है। यह पहला पुष्प जिस देवता को समर्पित किया गया है वे भारतवासियों के हृदय मन्दिर में अब से बहुत समय पहले स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इस दिव्यसुरभिविहीन 'पुष्प' को भी अंगीकृत करके उन्होंने अपनी भक्तवत्सलता का परिचय दिया है। हमारे ऐसे अल्प

प्रतिभा वाले लेखक के लिए यह कुछ कम सौभाग्य का विषय नहीं है। आशा है कि इस 'ग्रंथावली' के अन्यान्य ग्रंथ उनके आशीर्वाद तथा पाठकों के प्रोत्साहन से उत्तरोत्तर सुरुचिवर्द्धक और सामयिक हो सकेंगे।

बसंतपंचमी १९७६, सन् 1953
(नाटक की भूमिका से)

कीर्तन राधेश्याम का

काहू के बल बाहु को, काहू के बल दाम।
एक तुम्हारे बल सदा, निर्भय 'राधेश्याम'।।

पुस्तक बनाते और पढ़ते हैं, ज्ञान के लिए। कथा भागवत कहते और श्रवण करते हैं, प्रेम और सुधार के लिए। गायन गाते और सुनते हैं, मन को रोकने और आनन्द के लिए।

वर्तमान काल में-यदि आप पक्षपात छोड़कर देखें तो-पुस्तकें शायद कुछ मिल जांय, किन्तु ऊपर लिखे जैसे कथावाचक और गायन गिने चुने ही दिखलाई देंगे।

नहीं तो पुस्तकों में तो झूठे गन्दे किस्सों की, 'गुलो बुलबुल' के झगड़ों की, तादाद बढ़ रही है और कथावाचकों में 'चुन्नटदार' डुपट्टा डालकर, छर्रेदार तिलक लगाकर, मजेदार हाव-भाव करके पुरुषों को रिझाने व स्त्रियों को लुभाने का, और चुहचुहाते लतीफे सुना-सुनाकर धानोपार्जन करने का चक्र चल रहा है।

पुरुषों को उपदेश देना नहीं जानते, स्त्रियों को माता बहन ही समझते, हम व्यासगद्दी पर बैठे हैं, इस बात का विचार ही करते।

मेरी इस 'खरी-खरी' आलोचना से मेरे कथानक भाई चिढ़ें नहीं। कारण, बादल गर्मी करके ठंडा जल बरसाता मृदंग खिंचकर और चोट खाकर आनन्द देता है।

जिनमें उपर्युक्त बातें हैं और जो हमारी कथा और व्यासगद्दी के नाम को कलंकित कर रहे हैं उन्हीं के सुधार के लिए, उन्हीं के जानने के लिए लिख रहा हूँ।

नहीं तो जो सच्चे व्यास हैं, सच्चे कथानक हैं, सच्चे उपदेशक हैं, वे मेरे पूज्य, मेरे माननीय, मेरे शिरोधार्य, मेरे धर्मगुरु हैं।

अब रहे 'गायक', सो इनमें भी 'सैयां की सिजिया करवटियां लेने न देय' ऐसे गानों का घोर प्रचार है। इस में गायन के अलावा सुनने वालों का भी दोष है। नहीं तो शिवडमरू में निवास करने वाली, देवर्षि नारद द्वारा धारणा की हुई, मीराबाई के प्रेम से सींची हुई। स्वामी हरिदास, बैजू बावरे, तानसेन प्रभृति महानुभावों द्वारा शोभा पाई हुई, 'गन्धर्ववेद' नामधारिणी विद्या की यह दीन-हीन दशा न हो तो।

आजकल गाने के कई रूप हो रहे हैं। एक तो ध्रुपद, धम्माल आदि तालों का गाना, दूसरे-तान टप्पों की चलत फिरत तीसरे-सुरीली आवाज में ग़ज़ल, ठुमरी।

कमी है तो वही एक बात की, सब से बड़ी बात की अर्थात् शुद्ध राग रागनियों द्वारा, उपदेशक, आत्म-दर्शक गाने के गाये जाने की।

अब भी कहीं-कहीं कभी-कभी राग रागिनी द्वारा जब सुनते हैं-जगत को बतला दो सद्ज्ञान तो ख्याल आ जाता है-

मुझे बाल्यावस्था से ही मेरे पूज्य पिता श्री पंडित बांकेलाल जी ने गायन हारमोनियम और कथा का अभ्यास कराया था। मुझे खूब याद है कि मैंने अपनी नौ वर्ष की अवस्था में अच्छी तरह हारमोनियम बाजा बजाकर, ताल स्वर से, श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण बांची थी।

ज्यों-ज्यों शौक बढ़ता रहा मैं पिताजी के साथ परदेश पर्यटन करता रहा। साथ-साथ हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं का पठन भी होता रहा। कहां-कहां गया, क्या-क्या किया, वह सब नहीं लिखना है, इसके लिए तो एक स्वतंत्र जीवनी चाहिए।

जिन दिनों मेरी बारह बरस की अवस्था थी, उन्हीं दिनों मेरे पिता के सद्गुरु श्री १०८ स्वामी रामदासजी का काशी से बरेली आगमन हुआ।

मैं नित्य पिता जी के साथ, स्वामी जी के दर्शनों को जाने लगा और सत्संग, आत्मविचार, रामकथा सुनने लगा। उसी दरबार से मुझे 'तुकबंदी' का शौक लगा। नये-नये पद बनाकर ले जाया करता था। सुनकर स्वामीजी और पिता जी मेरी बालबुद्धि पर प्रसन्न होते थे और अवस्थादोष से जो अशुद्धियाँ रह जाती थीं उन्हें सुधार कर समझा देते थे। (यह बालब्रह्मचारी आत्मदर्शी परमहंस थे। ११० वर्ष की

अवस्था में शरीर छोड़कर निजस्वरूप में लीन हुए हैं। इनकी समाधि बरेली के समीप ही बुधौली नामक ग्राम में है जहां अब भी प्रति शरदपूर्णिमा को मेला होता है।)

आज उसी दरबार के कई पद इस पुस्तक में दर्ज कर रहा हूँ। शेष सब नवीन विचार के हैं।

समय पाय स्वामी जी का शरीरपात हुआ। और मैं, 'श्रीकृष्णप्रेम' की ओर झुका। उन्हीं दिनों मित्र मंडली की कृपा से मुझे नाटक देखने का शौक लग गया। नाटक देखते ही देखते एक दिन प्रण किया कि इन विषैले भद्दे गानों की चाल पर हरि संबंधी गाने बनाऊँगा और आज से अपनी कथा में, समाज में, कभी कोई विषैला भद्दा गाना नहीं गाऊँगा।

उन्हीं दिनों नाटक की तर्ज के गानों में 'राधेश्यामविलास' नामक कृष्णभक्ति की पुस्तक बनाई-जो कि छपी भी। धीरे-धीरे मेरी अवस्था बढ़ी, फैशनएबिल बना, उपन्यासों, समाचार-पत्रों से अनुराग हुआ, देशोन्नति के भजन भी बनाये। किन्तु यह ख्याल अत्यंत शीघ्र छूट गया। यह खब्त हटते ही राम-चरित्र को छन्द (गानों) में बनाना प्रारंभ किया।

क्रमश: रामभक्ति बढ़ी। क्रमश: श्रोताओं को यह रामायण भी रुचिकर हुई। क्रमश: सीताहरण, सुग्रीव मिताई, लंकादहन आदि पुस्तकें छपीं। नतीजा यह कि इस रामकथा रूपी महासागर में अभी तक तर रहा हूँ। पार लगाना राम जी और गुरुदेव के हाथ है।

पं. राधेश्याम कथावाचक ने अपनी पुस्तक राधेश्याम कीर्तन की भूमिका में उक्त बातें लिखी हैं। इन्हें पढ़कर आंखें खुल जाती हैं। काश! आज के उपदेशक कथावाचकों तथा धर्मगुरुओं की दृष्टि इस ओर जाए। एक बात और लिखकर समाप्त करता हूँ। बात वही बात, सबसे बड़ी बात, कथा और गायन के सुधार होने की बात।

यदि इस विद्या को 'भविष्य में' विद्या बनाये रखना है, तो पाठक, लेखक, कथावाचक, गायक, मेरी इस तुच्छ विनती पर ध्यान देवें। यह ब्राह्मणकुमार आज यही भिक्षा मांग रहा है।

श्रेष्ठ गायन से विचार होगा, विचार होने पर विकार का नाश होगा, विकार-नाश होने पर परमात्मा में मन लगेगा, परमात्मा में मन लगने पर 'निजानन्द' को प्राप्त हो जायेंगे।

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन, मोक्षमार्गं से गच्छति।।

सन् 1910 ई.

बरेली

हिन्दी रंगमंच और कथावाचक

कम्पनी जब कानपुर आई तो गणेश शंकर विद्यार्थीजी (प्रताप सम्पादक) ने मुझे गले से लगाकर कहा-'अब तुम बहुत बढ़ गए'। कानपुर ही में प्रसिद्ध कहानी तथा उपन्यासकार श्री प्रेमचंद जी मुझसे मिले। वे तब माधुरी के सम्पादक थे-'कानपुर' भी अक्सर आते जाते रहते थे। क्यों? यह ठीक तरह मालूम न हो सका। 'श्रीकृष्णावतार' और 'रुक्मिणीमंगल' देखकर वे बहुत ही प्रभावित हुए। ऐक्टरों के फोटो खिंचवाए और माधुरी में एक सचित्र लेख-निकाला। इस में उन्होंने अपना नाम 'नाटक प्रेमी' लिखा था-निश्चय ही वे 'नाटक प्रेमी' थे। इस लेख की सामग्री इकट्ठी करने में-'हिन्दी' ही नहीं-'गुजराती' पत्रों से उन्होंने सहायता ली थी। 'श्रीविश्वम्भरनाथ कौशिक' से भी राय मिलाई थी-और कम्पनी के कुछ ऐक्टरों से। इसी लेख से मिलता जुलता एक लेख-बम्बई के गुजराती साप्ताहिक 'चित्रपट' में भी निकला है-किन्हीं 'चिम्मनलाल शाह' के नाम से। निकला तो प्रयाग के 'चाँद' में भी है। अपने 'ग़बन' उपन्यास में भी एक जगह-श्री प्रेमचंद ने यह लिखा है कि-''एक दिन 'मनोरमा थिएटर' में राधेश्याम का कोई नया ड्रामा होने वाला था, इस ड्रामे की बड़ी धूम थी, एक दिन पहले ही से लोग अपनी जगह रक्षित करा रहे थे।''

एक समय था, जब भारतवर्ष में नाट्यकला की बड़ी उन्नति थी। यह हम समय की बात कह रहे हैं, जब यहाँ संस्कृत का पूरा प्रचार था, और 'उत्तररामचरित' तथा 'शांकुतल' जैसे नाटक खेले जाते थे। अधिकतर इतिहासज्ञ तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्य कलाओं की भाँति नाट्यकला की जन्मभूमि भी यही भारत भूमि है। नाटक के प्रथम आचार्य कोई भरत मुनि को बताता है, कोई लवकुश को। शंकर, नारद और हनुमान को तो सभी एक स्वर से मानते आए हैं। खैर, इधर कई शताब्दियों से और बातों के अध:पतन के साथ-साथ इस साहित्य का भी अध:पतन होना प्रारंभ हुआ। संस्कृत का तो जिक्र ही क्या, हिन्दी तक में-चंदरबरदाई के समय से-कोई उल्लेख

योग्य नाटक नहीं निकला। मुसलमानी शासन के अंत में और ईस्ट इंडिया-कम्पनी के शासन के प्रारम्भ में, समुद्र पार से यह लहर नए रूप में यहाँ आई। भारत के दुर्भाग्य से अब तक यहाँ प्रान्तीय भाषाएँ चल रही हैं, उन्हीं भाषाओं में नाटक खेले जाने आरम्भ हुए। महाराष्ट्र तथा बंगाल वालों ने इसमें यथेष्ट उन्नति की, पर वह उन्नति कहलाई मराठी रंगमंच और बंगीय रंगमंच ही के रूप में, हिन्दी के रूप में नहीं। गुजराती नाटक वालों ने भी अपनी भाषा के नाटकों की भरमार की, और कितने ही अच्छे नाटक निकाले, जिनको अदल-बदलकर आजकल के हिन्दी-नाटककार हिन्दी में ला रहे हैं। और अपने लिए इतना बड़ा परिश्रम करने के कारण महाकवि समझ रहे हैं। बरसों तक बेचारी हिन्दी का, उर्दू की यमुना से मिलकर वह रूपांतर रहा कि यह पहचानना कठिन हो गया कि इस त्रिवेणी में कालिंदी का नील जल कितना और गंगा का स्वच्छ, श्वेत कितना है।

घूम-फिर कर व्यवसाय करने वाली कम्पनियों के बनाने में पारसी जाति ने इधर उत्तर-भारत की ओर अपना कदम बढ़ाया। उन दिनों इधर न नाटक थे न नाटककार, गानों की प्रधानता थी, और थी ऊटपटांग उर्दू जबान में लिखे हुए इन्दरसभा, हवाई-मजलिस जैसे इश्किया नाटकों की। हम अगर भूलते नहीं हैं तो हिन्दी नाटकों का श्रीगणेश करने का श्रेय सबसे पहले स्वनामधन्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को प्राप्त हुआ। परन्तु उनके नाटक 'अमेच्योर क्लब' ही तक खिलकर रह गए, किसी व्यवसायी कम्पनी के रंगमंच पर नहीं पहुँचे। भलो हो मुंशी विनायकप्रसादजी तालिब बनारसी का कि उन्होंने उन दिनों की विख्यात 'बालीवाला विक्टोरिया कम्पनी' को 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण', 'कनकतारा', 'भर्तृहरि' आदि हिन्दी के ड्रामे सबसे पहले लिखकर दिए और लिखवाए। इस खूबी के साथ उन्होंने उन नाटकों में हिन्दी दी थी कि उर्दू हिन्दी के सम्मिश्रण में, हिन्दी की चाश का आनन्द ही नाटक प्रेमी जनता को प्राप्त हुआ, और नाटक भी 'पास' हो गए। फिर कोई थोड़े ही वर्षों के बाद 'बेताबजी' का महाभारत, 'हश्रजी' का सूरदास, स्टेज पर आ गया। यद्यपि इन नाटकों की भाषा भी उर्दू-हिन्दी मिश्रित थी, और इनका कथानक तथा इनके भाव, गुजराती के 'सती द्रौपदी' और 'विल्वमंगल' के रूपान्तर थे, तथापि इसमें संदेह नहीं कि इन नाटकों को बड़ा मान मिला और पारसी कम्पनियों के मालिकों को यह अनुभव हुआ कि हिन्दी-नाटक निकालने चाहिए। उन दिनों के उर्दू नाटक ज़हरी-साँप और खूबसूरत बला

आदि को जब हम देखते हैं, तो इतना तो नि:संकोच कह सकते हैं कि प्राय: इस श्रेणी के समस्त नाटकों में गाने हिन्दी भाषा ही में ज्यादातर लिखे और गाए गए हैं। यह नहीं समझ में आता कि ऐसा क्यों हुआ, या तो गानों के बोल बनाने वालों की यह कमजोरी थी या हिन्दी के बोलों पर गाने बनाए जाने में जो मिठास थी, उसी के कारण जबर्दस्ती उसे यह पद प्राप्त हो गया। इसके बाद राधेश्यामजी का 'वीर अभिमन्यु' आया। हम समझते हैं कि इससे पहले इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक पारसी कम्पनियों के स्टेज पर नहीं आया। इस नाटक का हास्यवाला भाग (कामिक) भी बड़ा शिक्षाप्रद और अश्लीलता से रहित था। यह उस जमाने में पहली बार स्टेज पर आया जिस जमाने में, कितने ही उर्दू के नाटककारों ने, ऐसे-ऐसे गन्दे कामिक स्टेज पर पहुँचाये थे कि माताओं और बहनों को थियेटर में ले जाते हुए भी लज्जा आती थी। माता को स्त्री, और स्त्री को माता कहलाना तो उन दिनों के कुछ उर्दू नाटककारों का मानो धर्म हो रहा था। खैर 'वीर अभिमन्यु' को पूर्ण सफलता मिली, महामना मालवीयजी तक ने इसे देखा और प्रशंसा की। इतना ही नहीं, जनता ने भी इसे उतना आदर दिया, जितना आदर इससे पहले के पारसी कम्पनियों के किसी नाटक को नहीं प्राप्त हुआ था। अर्थात् पंजाब यूनिवर्सिटी ने इसे क्रमश: 'हिन्दी-भूषण' और 'इंटरमीडियट क्लास' कोर्स की पुस्तकों में पढ़ाए जाने के लिए चुना। अब तो हिन्दी की किशोरावस्था इन कम्पनियों में प्रारम्भ हो गई। उधर बाबू हरिकृष्णजी जौहर के 'पति-भक्ति'-'वीर भारत' और शैदाजी का 'नल-दमयन्ती' आदि स्टेज पर पहुँचे। उत्साह यहाँ तक बढ़ा कि हिन्दी-नाटकों को प्रधानता का पद देने के लिए, मेरठ से एक लिमिटेड कम्पनी 'व्याकुल भारत' के नाम से बन गई। नि:संदेह इस कम्पनी का 'बुद्धदेव' बड़ा सुन्दर और बड़ा उत्तम नाटक था। खेद है कि व्यवस्था ठीक न होने के कारण यह कम्पनी लिक्विडेशन में आ गई, और इसके परम प्रवीण और विद्वान नाटककार व्याकुलजी का भी अकाल ही देहावसान हो गया। यदि वे आज होते, तो उनसे हिन्दी को बड़ी आशाएँ थीं। 'व्याकुल भारत' ही में रहकर 'वरमाला' के प्रसिद्ध लेखक 'पन्तजी' को नाटक लिखने का शौक हुआ, परन्तु खेद है कि उन्होंने स्टेज का नाटक न लिखकर साहित्य का (पाठ्य) नाटक लिखा। हमारी उनसे प्रार्थना है कि वह अब स्टेज के लिए नाटक लिखें, उन्हें इसका अनुभव भी है, उन से हमें इसकी बहुत आशाएँ हैं। इन्हीं दिनों काठियावाड़ से आई हुई 'सूरविजय' ने अपने सम्पूर्ण नाटक हिन्दी ही में आकर

खेले। राधेश्यामजी ने वीर अभिमन्यु के बाद जो नाटक 'श्रवणकुमार' लिखा था, वह इसी कम्पनी को दिया था। श्रवणकुमार के बाद भी कई नाटक इन्होंने उस कम्पनी को दिए थे। खेद है कि आज वह कम्पनी भी नहीं रही। इस समय उल्लेख योग्य ये कम्पनियाँ हैं, जिनमें हिन्दी के नाटक खेले जा रहे हैं, और जिनसे हिन्दी-प्रेमियों को और भी अच्छे नाटकों की आशा है-कलकत्ते की करिन्थियन, जिसके मालिक चरखारी महाराज हैं और जिसके नाटककार आगाहश्र हैं। मदन थियेटर की पारसी अल्फ्रेड, जिसके पहले स्वर्गीय कावसजी मालिक थे, और जिस में इस समय जौहरजी शैदाजी नाटककार हैं। सुना है कि बेताबजी भी फिर इस कम्पनी के लिए कोई हिन्दी-नाटक दे रहे हैं। तीसरी कम्पनी है 'न्यू अल्फ्रेड' जो ३५ वर्ष से चल रही है, और जिसके भारत-प्रसिद्ध नट और डाइरेक्टर मि. सोराबजी ओग्रा हैं। यद्यपि अब वह रिटायर्ड हो गए हैं, तथापि वह इस कम्पनी का गौरव इतना बढ़ा गए हैं कि आज भी इसका नाम जनता में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इस लेख में हमें इसी कम्पनी के कुछ नाटकों की चर्चा करनी है, तथा इसी कम्पनी के उन नाटकों के कई चित्र भी हम दे रहे हैं। इस कम्पनी के मालिक हैं मि. मेहर्बानजी, मि. माणिकशाह और मि. फ्रामरोज। एक चौथी कम्पनी भी है और वह हश्रजी की कहलाती है। कुछ दिन पहले उसका नाम 'ग्रेट शेक्सपियर कम्पनी' था, परन्तु अब कई मास से 'ग्रेट अल्फ्रेड' रक्खा गया है। भगवान ही जाने कि यह 'अल्फ्रेड' नाम तीन-तीन कम्पनियों के साथ क्यों है, स्वर्गीय मि. अल्फ्रेड की आत्मा को तो इससे हर्ष होता ही होगा, और चाहे किसी को हो या न हो।

हाँ, तो न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के हमने कितने ही नाटक स्वयं देखे हैं, हमारी राय है कि इस समय, हिन्दी-नाटकों की दृष्टि ही से नहीं स्टेज की दृष्टि से भी यह कम्पनी आदर्श है। श्रीयुत राधेश्यामजी, जिनके नाटक इस कम्पनी में खेले जाते हैं, और मि. सोराबजी ओग्रा के रिटायार हो जाने के बाद, जो स्वयं ही इसमें अपने नाटक स्टेज कर रहे हैं, निःसंदेह सफलता प्राप्त कर रहे हैं। वीर अभिमन्यु का जिक्र तो ऊपर आ ही चुका है, उसके अतिरिक्त राधेश्यामजी के 'प्रह्लाद', 'परिवर्तन', 'मशरिकी हूर' आदि सब वर्क एक से एक उत्तम हैं। इन नाटकों में आदर्श है, शिक्षा है, पवित्रता है, और है ओज, जिनका विशेष परिचय हम फिर कभी देंगे। आज तो राधेश्यामजी 'श्रीकृष्णावतार' और उसके दूसरे 'रुक्मिणीमंगल' का जिक्र करते हैं-

'श्रीकृष्णावतार' का प्रारम्भ नाटककार ने इस प्रकार किया है कि कंस के अत्याचारों से जब पृथ्वी काँप रही थी, संसार त्राहि-त्राहि कर रहा था, तब देवर्षि नारद, क्षीर सागर में भगवान विष्णु को इसके लिए मजबूर कर देते हैं कि वह 'धर्मसंस्थापनार्थाय' अवतार लें। नारद का भगवान विष्णु से वार्तालाप बड़ा ही ओजपूर्ण प्रभावशाली और दिल को हिला देने वाला है। उधर तो नारद भगवान को अवतार लेने के लिए मजबूर करते हैं, और इधर इस विचार से कि 'अत्याचार जितनी जल्दी सीमा पर पहुँच जायेगा, उनती ही जल्दी भगवान मृत्युलोक में अवतीर्ण होंगे'- कंस के जुल्म को बढ़ाते हैं। तीसरी और कंस के जुल्म से जब मथुरावासी उत्तेजित होते हैं, तो उन्हें शांति का पाठ पढ़ाते हैं। एक ही चरित्र में यह तीन तरह का चित्रण बड़ा ही सुन्दर है और बड़ा ही अनूठा है। यह नारद का पार्ट करने वाले महाशय भी अपने पार्ट को खूब ही अदा करते हैं। नारद के बाद योगमाया का पार्ट है। योगमाया के पार्ट में लेखक ने उन सब बातों को लाकर रख दिया है, जिनके संबंध गुप्त संसार से है। यह पार्ट भी स्वाभाविक होता है और इस पार्ट में जो गाने रक्खे गये हैं, वे तो एक नई जगह नाटक में पैदा कर देते हैं, उन्हें गाया भी अच्छे ढंग से जाता है। इन्हीं नारद और योगमाया का चित्र देखिए, कैसा स्वाभाविक है। इसके उपरान्त पहला अंक भगवान श्रीकृष्ण के जन्म पर समाप्त होता है। दूसरे अंक में बालक श्रीकृष्ण स्टेज पर आते हैं, और क्रमश: अंक-समाप्ति तक गोचारण, कालियमर्दन, गोवर्द्धनधारण और रासमंडल आदि लीलाओं का दिग्दर्शन कराया जाता है। बालक श्रीकृष्ण की इन बाल-लीलाओं का क्या उद्देश्य है, किस लीला में क्या मर्म है, इसे लेखक ने बड़ी अच्छी तरह दिखलाया है। इस अंक में कोई तीस छोटे-छोटे बालक काम करते हैं, जिन में श्रीकृष्ण, मनसुखा और श्रीदामा के पार्ट सराहनीय हैं। राधा का पार्ट करने वाला बालक तो अपने नाम का जवाब नहीं रखता। राधा और कृष्ण का प्रेम-सम्बन्ध कितना पवित्र है, यह बड़ी अच्छी तरह इसमें दिखलाया जाता है; कहीं भी, नाम मात्र को भी अश्लीलता और बुरी भावना दर्शकों के हृदय में नहीं आने पाती, बल्कि उस परम-प्रेम का बड़ा ही पावन रूप सामने आकर खड़ा हो जाता है। कदम्ब के नीचे गोप-गापियों के साथ खड़ी हुई युगल छवि के चित्र का अवलोकन कीजिए-यह दूसरे अंक का दूसरा सीन हमारी राय में इस नाटक का सर्वोत्तम सीन है। तीसरे अंक में कंस-वध है। पहला अंक राजनीति से पूर्ण है। दूसरा भक्तों की नस-नस से भक्ति का स्त्रोत बहा देने

वाला है और तीसरा वीरता का सजीव चित्र सामने लाकर रख देता है, जैसा कि 'कंस-वध' के चित्र को देखकर आप कल्पना कर सकेंगे। इस चित्र में आए हुए नट वसुदेव, बलराम, देवकी और उग्रसेन सभी अपने-अपने पार्ट खूब अदा करते हैं, सीन-सीनरी तो इतनी अच्छी दिखाई जाती है कि देखनेवालों का कहना है कि अब तक ऐसी नहीं देखी। यहाँ पर कम्पनी के ऐक्टर मि. वासुदेव दिवाकर, की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। निःसंदेह छोटी-सी उम्र ही में आपने इस आर्ट में कमाल हासिल कर लिया है। नाच भी अपने-अपने स्थान पर अच्छे हैं, जिन्हें तैयार करने में कम्पनी के नाचमास्टर श्रीयुत नर्मदाशंकर ने यथार्थ में परिश्रम किया है। पोशाकें भी ठीक हैं। सब मिलाकर स्टेज इतना सजा हुआ रहता है कि दर्शक बारम्बार देख-देखकर भी नहीं अघाते। हमने स्वयं इस विषय का इससे अच्छा नाटक कहीं नहीं देखा।

'श्रीकृष्णावतार' ने जब समस्त पंजाब और संयुक्त प्रांत में अपनी धूम मचा दी, तो राधेश्यामजी ने 'रुक्मिणीमंगल' के नाम से इस पावन चरित्र का दूसरा भाग स्टेज किया। निःसंदेह यह दूसरा भाग पहले भाग से बहुत बड़ा-चढ़ा है। भाषा की दृष्टि से, भावों की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, नाच और गानों की दृष्टि से इसने पहले भाग को भुला दिया है। हमारी सम्मति है कि जिन्होंने यह नाटक नहीं देखे हैं वे पहली बार दूसरा भाग न देखकर पहला भाग देखें। पहला भाग देखकर वे जब आश्चर्यान्वित रह जाएंगे तब दूसरा भाग उन्हें वह आनन्द देगा कि जो पहले भाग के आनन्द को भुला देने वाला होगा। इस दूसरे भाग में-जरासन्ध से युद्ध, कालयवन का भस्म होना, रुक्मिणी का श्रीकृष्ण प्रेम और अन्त में रुक्मिणी-हरण तथा प्रद्युम्न का शंबरासुर को मारकर द्वारका आना दिखाया जाता है। राधा-कृष्ण का वास्तविक नाता क्या है, यह अन्तिम सीन के एक ठठोलीवाले हृदय में बड़ी ही योग्यता से अंकित किया गया है-श्रीकृष्णावतार में जैसे नारद का चरित्र लेखनी की दृष्टि से बड़ा योग्यतापूर्ण है, उसी प्रकार इसमें रुक्मिणी की भाभी, रुक्म की स्त्री, सुलेखा का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है, और वह सब कवि की कल्पना, कवि की प्रतिभा और कवि की अपनी उपज है। इस रुक्मिणीमंगल में तो सुलेखा ही का चरित्र क्या, जिस चरित्र को भी लेखक ने लिखा है, खूब ही लिखा है। इसमें सबसे अच्छा पार्ट रुक्म का, श्रीकृष्ण का, रुक्मिणी का, सुलेखा का और रुक्मिणी की माता प्रभा का होता है। नारद, योगमाया और राधा

का पार्ट करनेवाले वही नट इसमें भी पार्ट करते हैं, जो श्रीकृष्णावतार में करते हैं, एक तो राधा-उद्धव के संवाद का, दूसरा भीष्म के दरबार का, तीसरा रुक्मिणी-रुक्मि और प्रभा के संवादवाला, चौथा शिशुपाल के दूल्हा वेषवाला, पाँचवाँ रुक्मिणी-हरण वाला, जिसका चित्र दिया जा रहा है। इस दूसरे भाग की सीनरी भी बड़ी उत्तम है, इसमें ड्रेसें भी बड़ी अच्छी और उपयुक्त हैं। नाच भी अच्छे हैं। सबसे अच्छा नाच, नाटक के संसार में पहली बार स्टेज पर आनेवाला, संस्कृत के बोलों का नाच है। इस नाच में २४ लड़के काम करते हैं। अब तक संस्कृत बोलों का नाच किसी कम्पनी में नहीं निकला। गाने इस दूसरे भाग के पहले भाग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, और उनकी तर्जें भी बड़ी ही अच्छी हैं। हमारी राय में ऐसे गाने किसी कम्पनी में और किसी नाटक में अब तक नहीं आए।

पं. राधेश्याम स्वयं भी एक बड़े अच्छे नट हैं, कारण कि उन्होंने अपनी सारी उम्र कथाओं के कहने में बिताई है। अतएव यदि वह स्टेज पर स्वयं पार्ट करने लगें, तब तो संयुक्त प्रान्त को भी इस बात का गर्व हो जाय कि हमारे यहाँ भी एक गिरीश, शिशिर बाबू या दानी बाबू जैसा नट है। पं. राधेश्यामजी गाने में और तर्ज बनाने में तो कुशल ही हैं, उर्दू का 'मशरिकी हूर' लिखकर आपने उर्दू नाट्य-जगत में भी एक क्रांति पैदा की है। हमने पंडितजी का चित्र भी इस लेख में, बड़ी श्रद्धा के साथ दिया है।

पं. राधेश्यामजी का विचार क्रमशः सम्पूर्ण श्रीकृष्ण-चरित्र को स्टेज पर कर देने का है। भगवान श्रीकृष्ण उन्हें सफल प्रयास करें। यह भी सुना है कि तीन-चार वर्ष से वह 'सती-पार्वती' नाम का भी एक नाटक इसी कम्पनी के लिए लिख रहे हैं, जो आधे से ज्यादा लिखा जा चुका है, और जिसकी बाबत यह सुनने में आया है कि ऐसा नाटक आज तक न कहीं लिखा गया और न स्टेज ही हुआ। (माधुरी लखनऊ वर्ष : 8; संख्या : 6; जनवरी-फरवरी 1932 ई.)

आसन नहीं है-किन्तु हृदयस्थल उपस्थित है प्रभो।
जल की जगह-प्रेमाश्रुओं का अर्घ्य अर्पित है प्रभो।।

'माधुरी' के लेख के बाद-श्रीप्रेमचंद जी से मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया था। वे तीन बार बरेली आए हैं। पूरी तीन रातें-हम दोनों की बातों ही बातों में बीती हैं। वे भी चाहते थे कि 'नाटककार' बनकर 'जनता' के समाने आयें। पर बड़े ऊँचे विचार के वे

थे। 'ईश्वरभक्ति' देखकर-जहाँ वे अत्यंत आनंदित हुए वहाँ यह भी कहा- ''चमत्कार इसमें क्यों लिखे हैं?'' मैंने कहा-''जनता अभी वैसी नहीं बनी है-जैसे तुम हो-या तुम्हारे खयाल के और थोड़े से दर्शक हैं। यह व्यवसायी कम्पनी का नाटक है, 'फेल' हो जाए तो कम्पनी ही 'फेल' हो जाय। नव्वे फीसदी का पैसा हमें उसी जनता से मिलता है-जो 'चमत्कार' पर ही 'पागल होकर' तालियाँ बजाती है।'' - थोड़ी देर बाद मैंने फिर कहा-''तुम अपने विचार 'भूमिका' में लिख देना, मैं उसे किताब छपने पर-छपवा दूँगा।'' यह तो हुई मौखिक बातें। पर अमल की दुनिया में 'श्रीप्रेमचंद' जब फ़िल्म लिखने-बम्बई गए-तब वहाँ भी मैं उनसे मिला, उस समय तक उन्होंने समझ लिया था कि-'उनके विचार के संसार में और इस नाटक सिनेमा के संसार में-कितना अंतर है'। (मेरा नाटककाल वर्ष 1957 ई., प्रथम संस्करण; पृष्ठ 143)

गोपीवल्लभ उपाध्याय

राधेश्याम की नाट्य यात्रा

पं. राधेश्याम कथावाचक के विश्वास पात्र मित्रों में उपाध्याय जी का स्थान सम्मानजनक था। इस आत्मीयता का परिचय सन् 1924 के एक संस्मरण में- 'अचानक आगरे से न्यू अल्फ्रेड के नये मालिक का पत्र नये नाटक के विषय में मेरे पास आया। ...नाटक था 'अहल्योद्धार।' नाटक के प्रधान लेखक विश्म्भर नाथ कौशिक भी कानपुर से आये हुए थे। भोगीलाल और गोपीवल्लभ उपाध्याय मेरे पास बैठे। यह बैठक दिन तक चली। कथानक में भोगीलाल का अधिक हाथ था। उन्होंने अपना पार्ट गौत्तम को विशेष रूप से उपाध्याय जी से ठीक कराया था बाकी सब नाटक कौशिक जी की लेखनी से लिखा था।' कथावाचक आगे लिखते हैं-सन् 1924 में बरसात बाद सवेरे मैंने देखा कि उपाध्याय जी झोला-बिस्तरा दबाए राधेश्याम प्रेस में उपस्थित थे। वे यहाँ न्यू अल्फ्रेड की नौकरी छोड़कर आये थे। उन्होंने इस समय कथावाचक जी ने कहा-'नाटक कम्पनियों के भीतर का अन्तर्द्वन्द्व बुरा है-कि कोई भी शुद्ध व्यक्ति वहाँ रहकर हिन्दी या देश की सेवा कर सके यह बड़ा कठिन है।'

श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय जी हिन्दी के अच्छे नाटककार भी थे। यही कारण है कि विभिन्न समाचार पत्रों में लिखित नाटक टिप्पणियाँ मील का पत्थर हैं। मेरा नाटक काल में कथावाचक जी ने 'पं. गोपीवल्लभ शालग्राम उपाध्याय' का उल्लेख किया है। साथ ही 'वीर अभिमन्यु' नाटक लेखन की प्रेरणा में 'स्व. लाला शालग्राम' विरचित 'अभिमन्यु' नाटक नामोल्लेख कथावाचक जी ने किया है। पाठक यह समझ लें स्व. लाला शालग्राम वैश्य मुरादाबाद निवासी थे, जो बाद में जाकर बम्बई में बस गये थे। गोपीवल्लभ उपाध्याय के नाम से 'शालग्राम' शब्द मुद्रण की अशुद्धि हो सकती है। 'त्याग भूमि' की टिप्पणियों में उनका नाम गोपीवल्लभ उपाध्याय ही अंकित हुआ है। सन् 1924 की उक्त घटना के पश्चात 'श्री गोपीवल्लभ जी कई दिन बरेली रहकर चले गये। इसके आपने वीणा (इन्दौर), त्यागभूमि (अजमेर), तथा

अखण्ड भारत (प्रयाग) आदि पत्रों के सम्पादक विभाग में रहकर हिन्दी और देश की सेवा की है।'

श्री उपाध्याय जी गाँधी जी की नीतियों के पक्षधर, सम्पादक, लेखक, पत्रकार थे। उक्त पत्रिकाएँ गाँधी आन्दोलन का ही परिणाम थी। क्षेमानन्द 'राहत', हरिभाऊ उपाध्याय, राधेश्याम कथावाचक, नन्ददुलारे वाजपेयी सम्पादकों के साथ पं. गोपीवल्लभ कार्य कर चुके हैं। यह वह समय है जब राजनीति हमारी पत्रकारिता का लक्ष्य था किन्तु यहाँ जिस राजनीति की चर्चा है उसमें हमारी सभी चीजें राष्ट्र उत्थान की सभी बातें-साहित्य, धर्म, दर्शन, कला संस्कृति तथा समाज सुधार सन्निहित थी। यहीं बात है कि इस काल में पत्रकारिता का क्षेत्र अत्यंत विशाल था। पत्रकारों ने ही हिन्दी को राष्ट्रवाणी का रूप दिया, हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ पत्र-पत्रिकाओं के ही माध्यम से देश के कोने-कोने में फैली 'त्याग भूमि' में कार्य करते हुए उन्होंने वीणा (इन्दौर) के सम्पादक की मौत पर संवत 1986 में लिखा था-'ये पंक्तियाँ वज्र हृदय होकर लिखनी पड़ती है कि गत 26 जुलाई की रात को म.भा. हिन्दी साहित्य समिति इंदौर की मुख्य पत्रिका वीणा के संपादक पं. अम्बिका प्रसाद जी त्रिपाठी का अचानक स्वर्गवास हो गया। इसे दैवेच्छा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? परमात्मा उनके अनुज को शक्ति दें। इस विपत्ति में त्याग भूमि और सस्ता साहित्य मण्डल परिवार अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करता है। साथ ही 'माया देव का महातम' (श्यामलाल सत्याग्रही हिसार), 'सुदर्शनशतक' (मूल चन्द जैन वत्सल प्रा. साहित्य रत्नालय बिजनौर की प्रकाशित टिप्पणियों में उनकी साहित्यिक जागरुकता का पता लगता है)।'

नाटककार पं. राधेश्याम कथावाचक जी के नाटकों की समीक्षा 'त्याग भूमि' (सस्ता साहित्य मण्डल अजमेर) में पं. गोपीवल्लभ उपाध्याय ने 'श्री राधेश्याम नाटकावली' नाम से प्रकाशित की थीं। त्याग भूमि (चैत्र संवत 1985 एवं आषाढ़ संवत 1986) के इन अंकों सहित पत्रिका का प्रताप विशेषांक भी मेरे पास सुरक्षित हैं। राधेश्याम जी इन अंकों के विषय में-'त्याग भूमि के और अंक फाइल में नहीं मिले कहीं रिल (खो) गये अन्यथा नाटकों के विषय में उनकी राय पाठकों के समाने आ जाती'। (पं. राधेश्याम कथावाचक : सफर एक सदी का पृष्ठ : 45-47, वर्ष 2019)

राधेश्याम नाटकावली

सस्तामंडल अजमेर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'त्याग भूमि' में तो श्री उपाध्याय जी (गोपीवल्लभ) ने लगातार कई अंकों में 'श्री राधेश्याम नाटकावली' के नाम से-मेरे नाटकों को पूरी 'आलोचना' ही निकाली है। वे 'नाटक कम्पनी' में रहे हैं-उन्हें 'स्टेज' की जानकारी है-इस कारण उनके लेखों में से 'कुछ' यहाँ देता हूँ। 'त्याग भूमि' वर्ष २ अंश ६ के पृष्ठ ७२७ से यह 'कुछ' उद्धृत है।

इन दिनों हिन्दी जगत में कितने ही नाटक ऐसे देखे जाते हैं, जिन पर 'रंगमंच पर सफलता पूर्वक खेले जाने योग्य' तो लिखा रहता है; किन्तु उन में से अधिकांश इस योग्य नहीं होते। इसलिए स्टेज की बारीकियों से जानकारी रखने वाले व्यक्ति-आधुनिक नाटक लेखकों की इस अनधिकार-चेष्टा को उपेखा को ही दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि वे भली भाँति समझते हैं कि किसी नाटक को लिख देने के बाद उसे सफलता पूर्वक अभिनय कर दिखाने के लिए साधारण ऐक्टर से लेकर स्टेज-मास्टर तक को कितना दिमाग लड़ाना पड़ता है; किस प्रकार दृश्यों की योजना, पात्रों का कार्य-विभाजन, उनकी प्रसंगोपात्त भाषा एवं गद्य-पद्यात्मक भाषण-शैली में-रिहर्सल और स्टेज होने के पूर्व तक सुधार करना पड़ता है; उसे आजकल के रेनि साहित्यकार नाटककार नहीं जान सकते और इसीलिए उनका उपर्युक्त दावा निस्सार है। हाँ, उनके नाटक पढ़कर पाठकों को साहित्यिक आनन्द का अनुभव अवश्य हो सकता है, और बहुत हुआ तो केवल साहित्यिक दृष्टि से देखने वाला हजार में एक-आध दर्शक उनका अभिनय होते समय किसी अव्यक्त आनन्द का उपभोग भी कर सकता है। किन्तु शेष नौ-सौ निन्यानवे व्यक्ति उस साहित्यिक नाटक को नीरस ही बतायेंगे। इसलिए स्टेज पर खेले जाने योग्य नाटक लिखने के उम्मीदवारों को पहले किसी नाटक कम्पनी में जाकर, जिस किसी प्रकार से हो, कुछ महीने स्टेज और अभिनय की बारीकियों का अध्ययन करना चाहिए। बरेली-निवासी कीर्तन कलानिधि पं. राधेश्याम कथावाचक के नाटक आज पन्द्रह वर्ष से बम्बई की न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी द्वारा भारत के प्राय: सभी बड़े-बड़े शहरों में अभिनीत हो रहे हैं। जिस किसी ने एक बार उनके नाटकों को देखा है, वह कभी उनकी विशेषताओं को नहीं भूल सकता। उनके नाटकों में चरित्र की महत्ता, आदर्श की उच्चता और सामयिकता के साथ गम्भीर एवं मार्मिक विनोद इतनी सफलता के साथ

प्रदर्शित किया जाता है कि प्रत्येक विचारवान दर्शक उनकी इस सफलता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

पण्डितजी का सबसे पहला नाटक है 'वीर अभिमन्यु'। जब सबसे पहले इस नाटक का अभिनय हुआ तो भाव, भाषा और वेष भूषादि की दृष्टि से इस नाटक को देखकर दिल्ली की जनता आश्चर्य मग्न हो गई। क्योंकि इसके पहले शायद केवल उर्दू के ही नाटकों की दौर था।

नाटक के आरम्भ में बरेली के सुयोग्य विद्वान नेता श्रीयुत बाबू जियाराम सक्सेना एम.ए. की विचारपूर्ण एवं आलोचनात्मक भूमिका है; जिससे पता चलता है कि उन्होंने इस नाटक को केवल पढ़ा ही नहीं बल्कि रंगमंच पर इसका अभिनय भी बारीकी के साथ निरीक्षण किया है। और इसी दृष्टि से उनकी आलोचना बड़े महत्व की हुई है। इन पंक्तियों का लेखक भी इस नाटक का दो-एक बार ही नहीं बल्कि पूरे चौबीस बार रंगमंच पर अभिनय होते देख चुका है, और प्रत्येक बार उसे इसकी नई-नई विशेषताओं का अनुभव होने से बराबर अतृप्ति हुई है।

जैसा कि आजकल देखा जाता है, हिन्दी के अधिकांश नाटक भाव-भाषा की दृष्टि से उच्च रहने पर भी केवल पढ़ने ही के काम में रहते हैं और स्टेज पर सफलता पूर्वक नहीं खेले जा सकते। यह बात इस नाटक के विषय में नहीं की जा सकती; क्योंकि पण्डितजी का यह नाटक स्टेज पर तो सफलता पूर्वक खेला ही जा रहा है किन्तु इसी के साथ-साथ इस को पढ़कर साहित्यिक आनन्द का आस्वादन भी भली भाँति किया जा सकता है। सारांश, यह नाटक सब प्रकार से उपयोगी और पठनीय हुआ है।

इसी प्रकार वर्ष 2 अंश 4 के पृष्ठ 457 पर-'परमभक्त प्रह्लाद' के सम्बन्ध में लिखा है-

यह नाटक पण्डितजी नाटकावली का तृतीय पुष्प है। इसमें आपने परमभक्त प्रह्लाद के कथानक को सन् 1920 ई. के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन की घटनाओं के साथ इस खूबी से संलग्न किया है कि रंगमंच पर अभिनय देखते समय बारम्बार दर्शक को यही भ्रम होता है, मानो वह विगत असहयोग-आन्दोलन को ही प्रत्यक्ष देख रहा है।

महामना मालवीयजी ने भी इस नाटक का रंगमंच पर अद्‌भुत अभिनय देखकर गद्‌गद् कंठ हो सजल नेत्र एवं पुलकित हृदय से आशीर्वाद देते हुए पंडित राधेश्यामजी के लिए धन्यवाद ही कहा था; और यथार्थ में यह नाटक है भी ऐसा ही। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इस नाटक को लगभग चालीस बार देखा है, और फिर भी उसे इससे अरुचि नहीं हुई।

इस नाटक में श्यामलता और प्रमोद दोनों के चरित्र अपूर्व हुए हैं। स्त्री-चरित्र का उच्चादर्श दिखाना भी इसकी एक खास विशेषता है।

'उषा अनिरुद्ध' के सम्बन्ध में है-

यह पंडितजी का चौथा नाटक है। इसकी रचना सन् 1924-25 ई. वाली हिन्दू संगठन की धूम के समय हुई है; और ऐसी प्रत्येक सामयिक घटना को इतिहास रूप में ग्रथित कर देना ही पं. राधेश्यामजी के नाटकों का एक प्रधान लक्ष्य रहता है। अतः इसमें भी आपने शैव और वैष्णवों के रूप में 'हिन्दू-अहिन्दू' के संघर्ष को बड़ी सुन्दरता से दिखाया है।

इसके प्रहसन में भी आधुनिक साधू एवं महन्तों का खासा खाका खींचा गया है। उनकी ऊटपटांग बातें पढ़कर जहाँ एक ओर हँसते-हँसते पेट पकड़ लेना पड़ता है, वहीं उनकी गिरी हुई दशा पर भी आँसू बहाए बिना नहीं रहा जा सकता।

'परिवर्तन' के सम्बन्ध में है- प्रकाशन की दृष्टि से यह नाटक पंडितजी की नाटकावली का पाँचवाँ पुष्प है; किन्तु वैसे इसका नम्बर दूसरा ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि 'वीर अभिमन्यु' की भूमिका में इसके तैयार हो जाने की सूचना निकल चुकी थी। इस दृष्टि से कुछ मनचले समालोचकों का यह लिखना कि यह नाटक स्व. डी.एल. राय के 'उस पार' को तोड़-मरोड़ कर लिखा गया है-कहाँ तक ठीक हो सकता है, विवेकशील पाठक स्वयं ही विचार करें। क्योंकि जहाँ तक स्मरणशक्ति काम देती है; हिन्दी में 'उस पार' सन् 1917 या 18 के पहले नहीं निकला और बंगला भाषा पंडित राधेश्यामजी जानते नहीं। तब यह क्योंकर संभव है कि पंडितजी ने इसमें 'उस पार' की तोड़-मरोड़ की है?

शुरू से अन्त तक इस नाटक में जो दृश्य दिखाई देता है वह एकदम स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। क्योंकि मनुष्य-जीवन में दिन-रात जो परिवर्तन होते

रहते हैं, उन्हीं का प्रत्यक्त चित्र इसमें दिखाया गया है। इसीलिए इसका 'परिवर्तन' नाम सार्थक भी है। इसका प्रहसन वाला अंश भी सामयिक और शुद्ध विनोदात्मक होने से-निर्दोष है।

'मशरिकी हूर' के सम्बन्ध में है- जैसा कि हम 'परमभक्त प्रह्लाद' की आलोचना में लिख चुके हैं, 'श्यामलता' का चरित्र महिला-समाज के सम्मुख आदर्श चित्र है। इसी प्रकार परिवर्तन की 'चन्दा' ने जहाँ समाज सेवा का नया आदर्श दिखाया है वहाँ इस नाटक की नायिका 'हमीदा' का चित्रण एकदम ही वीरतापूर्ण हुआ है।

पं. राधेश्याम कथावाचक ने मेरा नाटककाल (वर्ष 1957 प्रथम संस्करण) में लिखा है कि 'त्याग भूमि' के और अंक 'फाइल' में नहीं मिले। कहीं 'रिल' गए-अन्यथा-और नाटकों के सम्बन्ध में भी उनकी 'राय' पाठकों के सामने आ जाती। (मेरा नाटक काल : वर्ष 1959 प्रथमाकृत्ति, पृष्ठ-251 से 256) 'त्याग भूमि' की चैत्र : 1927 ई., आषाढ़ 1928 की फाइलें मेरे पास सुरक्षित हैं। यहाँ गोपीवल्लभ उपाध्याय की नाटकवली को अविकल दिया जा रहा है-

श्रवण कुमार

यह नाटक राधेश्याम कथावाचक की नाटकावली का द्वितीय पुष्प है किन्तु जैसा कि नाटक के बारे में संक्षिप्त निवेदन में लिख दिया है। यह नाटक श्री सूर विजय नाटक समाज के संचालकों को दिये हुए प्लाट पर केवल 14 दिन में ज्यों-त्यों करके लिख दिया गया था। और उसी दशा में यह सफलतापूर्वक स्टेज हो जाने से मुरादाबाद छपा भी दिया गया, जो कि इस समय पाँचवाँ संस्करण बीस हजार की संख्या में बिक चुका है।

नाटक का कथावाचक प्रसिद्ध पितृभक्त श्रवण कुमार से सम्बन्ध रखता है जिसने अपने वृद्ध और नेत्रहीन माता-पिता को कावड़ में बैठाकर तीर्थ यात्रा कराते हुए आदर्श पितृभक्ति का अमर उदाहरण उपस्थिति हुआ है। इसी श्रवण कुमार का किसी अन्य पशु के धोखे में रात के समय राजा दशरथ द्वारा वध किये जाने और उस पर उसके वृद्ध माता-पिता से शापित होकर उन (दशरथ) के वापस अयोध्या लौटने की कथा पाठकों के लिए नई नहीं है किन्तु छोटे से कथानक पर से इतना सुन्दर नाटक तैयार कर देना इसके रचयिता की मनस्विता और कल्पना का ही फल कहा जा सकता

है और वह कल्पना अपने विषय को यथेष्ट सफलतापूर्वक सिद्ध कर सकी है। एतदर्थ लेखक महाशय का प्रयास अभिनन्दनीय है।

किन्तु नाटक का प्रहसन-विभाग कथानक के लिए सर्वथा उपयुक्त नहीं है। आजकल स्टेज पर वे ही गाने योग्य प्रत्येक नाटक एक साथ, एक प्रहसन अवश्य रहता है जिससे कि बीच-बीच में दर्शकों का मनोरंजन भी होता रहे और नाटक की सराहना में सहायता मिल सके। किन्तु अब इस प्रकार के प्रहसन अब मूलकथानक के ही अन्तर्गत होते हैं का संस्कृत नाटकों की इस तरह नाटक के साथ विदूषक की बातचीत है, जहाँ दर्शकों का मनोरंजन कराया जाता है, सो तो ये प्रथम श्रेणी के समझे जाते जाते हैं, किन्तु जब ये उसके मित्र एवं कभी-कभी एकदम विषम विषय के समबन्ध रखने वाले होते हैं। तब प्राय: दर्शकों या पुस्तकों के पाठकों को ऐसे नाटकों से जुड़ जाती है। यही बात किसी अन्त हम नाटक के प्रहसन के विषय में कही जा सकती है। क्योंकि इसका मूलकथानक यहाँ त्रेतायुग का बुना गया है। वहीं प्रहसन की कल्पना इस कलियुग के अंध रानी भक्त के रूप में की गयी है। यद्यपि इसमें वास्तविकता कहीं भी दिखायी नहीं देती, क्योंकि नाटककार ने दोनों युग हैं। दो आदर्श सामने रखकर समाज को उसमें से वास्तविक और भेद को चुनने का मौका दिया है। तथापि समाज में वर्तमान दशा और मानव जाति के निर्बल मन एवं अल्प विवेक शक्ति के विचार से-जो कि उत्तमता की ओर सहृदय ही दुर्लक्ष्य एवं पतन की ओर कौतुक भाव सरस्ता पूर्वक आकर्षित है- ऐसे आदर्श जितने भी काम उसको सामने रखो उतना ही जनता के लिए कल्याण का होगा।

नाटक के इस दोष को कथावाचक ने भी स्वयं निवेदन में स्वीकार किया है। किन्तु उन्होंने इसलिए इसको बदलने में असमर्थता प्रकट की है कि एक बार उसके बदलने से सारा नाटक ही दूसरी बार लिखना पड़ेगा। ... इसके बाद के नाटकों में उन्होंने बराबर इस बात का ध्यान रखा है कि दूषित चरित्र-चित्रण होते हुए भी उसमें अश्लीलता न आये। अत: नाटक का यह दोष आधा-आधा-सा हो जाता है।

पुस्तक के प्रारम्भ में बाबू द्वारका प्रसाद वी.ए. की आलोचनात्मक भूमिका है। यहाँ नाटक की बारिकियों पर संक्षेप में विचार किया गया है। इस प्रकार की भूमिका से साधारण पाठकों को नाटक के गुण-दोष समझने में सहायता होती है।

परमभक्त प्रह्लाद

यह नाटक पण्डितजी की नाटकावली का तृतीय पुष्प है। इसमें आपने परमभक्त प्रह्लाद के कथानक को सन् 1920 ई. के सत्याग्रह और असहयोग-आंदोलन की घटनाओं के साथ इस खूबी से संलग्न किया है कि रंगमंच पर अभिनय देखते समय बारम्बार दर्शक को यही भ्रम होता है, मानों वह विगत असहयोग-आंदोलन को ही प्रत्यक्ष देख रहा है। कथानक वही है, किन्तु इसके कॉमिक (प्रहसन) वाले अंश के लिए लोभीलाल नामक हिरण्यकश्यप के दरबारी मुसाहिब और प्रमोद नामक प्रह्लाद के अभिनय-हृदय मित्र की योजना करके उसी के द्वारा सम्पूर्ण सत्याग्रह और असहयोग-आंदोलन के कार्यक्रम को पूरा कर दिखाया गया है। केवल चर्खा ही स्टेज पर नहीं आने पाया है; शेष सब बाते-यथा सरकारी स्कूल और अदालत का बहिष्कार, सरकारी सेना की नौकरी का परित्याग, पर्दे का बहिष्कार करके स्त्रियों का कार्यक्षेत्र में आना, किसानों का हाहाकार और ब्राह्मण-जाति की पीड़ित पुकार आदि दृश्य एक-के-बाद एक दूसरे के क्रम से इस खूबी के साथ रक्खे गये हैं कि कविरवजी के इस लेखन-पटुत्व पर पाठक या दर्शक आश्चर्यमग्न होकर धन्य-धन्य कह उठता है। महामना मालवीयजी ने भी इस नाटक का रंगमंच पर अद्भुत अभिनय देखकर गद्गद् कंठ हो सजल नेत्र एवं पुलकित हृदय से आशीर्वाद देते हुए पण्डित राधेश्यामजी के लिए धन्य-धन्य ही कहा था; और यथार्थ में यह नाटक है भी ऐसा ही। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इस नाटक को लगभग चालीस बार देखा है; और फिर भी उसे इससे अरुचि नहीं हुई। यद्यपि यह नाटक सन् 1920 में ही (सत्याग्रह के समय ही) लिखा गया था, किन्तु इसमें आज भी वही नवीनता पाई जाती है।

प्रह्लाद का कथानक कुम्हारी के भाँवे वाली घटना से आरम्भ कर अन्त में श्री नृसिंहावतार द्वारा हिरण्यकश्यप का वध होकर भक्तराज प्रह्लाद के राज्याभिषेक के साथ समाप्त किया गया है; किन्तु इसमें भी कई दृश्य बड़े मार्मिक हुए हैं। जैसे-अकाल पीड़ित किसानों का हिरण्यकश्यप के दरबार में प्रवेश कर अपनी पुकार सुनाना और उस पर धक्के मारकर निकाले जाते समय "खाली जा सकती नहीं, दुःखी जनों की हाय! इस झूठे जगदीश का नाम हो जाय।" के शब्दों में शाप देना सचमुच ही वर्तमान युग का दृश्य नजरों के सामने खड़ा कर देता है। इसी प्रकार प्रह्लाद की माता श्यामलता ने पग-पग पर आत्म-प्रेम, सहृदयता, सब प्राणियों के साथ समानता और

समपोषित स्वाभिमान एवं आदर्श पुत्र-प्रेम के लिए मातृहृदय के जिन अनमोल भावों को अभिव्यक्त किया है, वह आँखों से देखने और हृदय से समझने की वस्तु है-जड़ लेखनी से लिखने की नहीं। प्रह्लाद के साथी प्रमोद का भोलापन, उसकी विनोदवृत्ति और स्कूल का बहिष्कार कर जेलयात्रा को तीर्थयात्रा बनाना एवं अन्यायी अदालत को धिक्कारना तथा अर्थ के भी पिता के इन सब घृणित वृत्तियों से मुक्त करने का उद्योग करना कमी है तो कभी गम्भीर विचारमग्न करना और कभी उसकी सत्यवादिता के लिए वाह-वाह की पुकार मचवा देता है। सारांश, इस नाटक में श्यामलता और प्रमोद दोनों के चरित्र अपूर्व हुए हैं। स्त्री-चरित्र का उच्चादर्श दिखाना भी इसकी एक खास विशेषता है। मंच और गाने स्टेज के लिए सर्वथा उपयुक्त और समयोचित रक्खे गये हैं। अच्छा हो, यदि पंडितजी इसमें वो लोभीलाल और पाण्डेयजी आदि नाम भी प्राचीन शैली के रख दें, जिससे कि नाटक एकदम अपटुडेट हो जाए। वैसे तो यह अत्यंत पठनीय है ही। पृष्ठ-संख्या 110 का मूल्य ... भी कुछ अधिक जान पड़ता है।

ऊषा-अनिरुद्ध

यह पण्डितजी का चौथा नाटक है। इसकी रचना सन् 1924-25 ई. वाली हिन्दू-संगठन की धूम के समय हुई है, और ऐसी प्रत्येक सामाजिक घटनाओं को इतिहास रूप में घटित कर देना पंडित राधेश्यामजी के नाटकों का एक प्रधान लक्ष्य रहता है; अत: इसमें भी अपने शैव और वैष्णवों के झगड़े के रूप में 'हिन्दू-अहिन्दू' के संघर्ष को बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। प्रारम्भ में बाबू छैलबिहारी कपूर बी.ए. (बरेली) की लिखी हुई दस पृष्ठों की आलोचनात्मक भूमिका पढ़ने से इस नाटक की कई विशेषतायें पाठकों के ध्यान में सुगमता से आ सकती है।

नाटक का कथानक शोणितपुराधीश बाणासुर की कन्या ऊषा और भगवान कृष्णचन्द्र के पौत्र अनिरुद्ध के स्वप्न-दर्शन, बन्दीकरण और अन्त में यादवों के साथ युद्ध होकर ऊषा-अनिरुद्ध का विवाह करा देने तक का रक्खा गया है; और उसमें बाणासुर की शिव-भक्ति एवं विष्णु के प्रति द्वेषबुद्धि, खुशामदी पुरोहित का हाँ में हाँ मिलाना, ऊषा और चित्रलेखा का आत्मीय स्नेह-भाव आदि जहाँ नाटक के मूल कथानक की उत्तमता दिखलाते हैं, वही इसके प्रहसन में आधुनिक साधु एवं महन्तों का भी खासा खाका खींचा गया है। उनकी ऊटपटांग बातें पढ़कर जहाँ एक ओर

हँसते-हँसते पेट पकड़ लेना पड़ता है, वहीं उनकी गिरी दशा पर भी आँसू बहाये बिना नहीं रहा जा सकता। विष्णुदास नामक धर्मनिष्ठ समाज-सेवक का बाणासुर के हाथों वध हो जाने पर उसके पुत्र कृष्णदास द्वारा संगठन का देशव्यापी आन्दोलन उठाये जाने और अंत में आंदोलन के सफल होने का दृश्य बड़ा ही मार्मिक है। योगिराज नारद की अवतारणा और उनकी दो को लड़ाकर खुद तमाशा देखने की जन्मसिद्ध वृत्ति का भी इसमें कई जगह दर्शन होते हैं। चित्रलेखा का चित्रण भी इस नाटक प्रधान विशेषता है। रंगमंच पर इस नाटक का अभिनय न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी (बम्बई) द्वारा होता है। क्योंकि इसे खेलने वाली सूर विजय नाटक मण्डली अस्त हो गई। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या 112। कागज छपाई अच्छी। मूल्य बारह आना उचित है। मुखपृष्ठ पर ऊषा के स्वप्न दर्शन का सुन्दर चित्र भी दिया गया है।

परिवर्तन

प्रकाशन की दृष्टि से यह नाटक पंडितजी की नाटकावली का पाँचवा पुष्प है, किन्तु वैसे इसका नम्बर दूसरा ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि 'वीर अभिमन्यु' की भूमिका में इसके तैयार हो जाते ही सूचना निकल चुकी थी। इस दृष्टि से कुछ मनचले समालोचकों का यह लिखना कि यह नाटक स्व. डी.एल. राय के अनुसार 'उस पार' को तोड़ मरोड़कर लिखा गया है, कहां तक ठीक हो सकता है। इस पर पाठक स्वयं विचार करें। क्योंकि जहाँ तक जानकारी है हिन्दी में 'उस पार' सन् 1917 के पहले नहीं निकला और बंगला भाषा पंडित जी... जानते नहीं तब यह क्योंकर संभव है कि पंडित जी ने उसमें 'उस पार' की तोड़ मरोड़ की है। अस्तु पंडित राधेश्यामजी के पिछले चार नाटक केवल धार्मिक हैं और यह पाँचवा सामाजिक किन्तु पिछले किन्तु पिछले चार नाटकों की तरह उन्होंने इस सामाजिक रचना में भी भूमिका लेखक पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के शब्दों में-परिवर्तन नाटक लिखने में पंडित राधेश्याम जी ने ही सफलता पाई है। आज पाँच वर्षों से खेला भी जा रहा है। इस नाटक में आजकल के नवयुवकों के कुसंग में फंसकर स्त्री के नरकमय बन जाने का चित्रण बढ़ी सुन्दरता से दिखाया गया। नाटक का नायक लक्ष्मी तुल्य भार्या को पाकर भी सौन्दर्यरूपी मंदिरा के लोभ में वेश्यानुवरत होकर अपना सर्वस्व खो बैठता है। बेचारी असहाय लक्ष्मी अपने घर के पितृ तुल्य पुराने नौकर शम्भू दादा की सहायता से

पुरुषवेश धारण कर उसी वैश्या के यहाँ नौकरी करती है। बड़ी युक्ति से अपने पति का उद्धार कर रात में मिली-वह गृहस्थी को फिर स्वर्गमयी बना लेती है। अर्थात इसमें लक्ष्मी जैसी गृहलक्ष्मी और चंदा जैसी विलासिनी वैश्या के चरित्रों का चित्रण करते हुए अन्त में पतिप्राणा लक्ष्मी को चरित्र की महत्ता प्रकट की गई है और चंदा से अपने कुकर्मों के प्रायश्चितार्थ स्त्री-समाज की सेवा में अपना सर्वस्व लगा देता है और 'कन्या महाविद्यालय' खोलने का भव्य आयोजन कराया गया है। बिहारी नामक दुष्ट व्यक्ति ने भी अपने कर्मों का फल पाया है। रमजानी और माया के संवाद भी विचित्र हैं। आगे चलकर जो दृश्य हैं उनमें शुद्धि आंदोलन की स्मृति को चित्रस्मरणीय बनाने वाले हैं। आदर्श न्यायालय की काल्पनिक दृष्टि भी इस नाटक की प्रधान विशेषता है। दृश्य और गाने दोनों ही इसके चुस्त समाजोपयोगी हैं।

मशरिकी हूर

नाटकावली का यह छठा पुष्प है, अब तक के नाटकों में पंडित जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रधानता देते हुए भी इस नाटक को अपने नामानुकूल उर्दू भाषा में लिखा है। किन्तु वह भी क्लिष्ट नहीं, बोल-चाल की ही भाषा में। जैसाकि हम 'परमभक्त प्रह्लाद' की आलोचना में लिख चुके हैं 'श्यामलता' का चरित्र महिला समाज के सम्मुख आदर्श चित्र है। इसी प्रकार परिवर्तन को चंदा ने जहाँ समाज सेवा का नया आदर्श दिखाया है वहाँ इस नाटक की नायिका 'हमीदा' का चित्रण एकदम ही वीरतापूर्वक हुआ है। एक डाकू की लड़की हमीदा जिस प्रकार अदभुत वीरता का प्रदर्शन कर अपने पितृघाती से बदला चुकाती है, वह सोचने-समझने की वस्तु है। उसका पुरुषोचित वीरजेय शाहजादी रोशन नारा को मुग्ध कर लेता है, किन्तु अन्त में भेद खुलने पर वह अपने प्रेमपात्र दिलेरगंज से उसकी शादी करा देती है, उसका यह त्याग सचमुच ही आदर्श है-श्री पंडित माधव शुक्ल ने १४ पृष्ठों की आलोचनात्मक भूमिका लिख कर नाटक के प्रत्येक पात्र के गुण-दोष बड़ी ही मार्मिक दृष्टि से दिखलाये हैं और उन्हीं के शब्दों में 'यह नाटक सर्वांग सुन्दर हुआ है।' अतएव इस विषय में अधिक कुछ कहना विश्लेषण मात्र होगा नाटक के मुखपृष्ठ पर 'हमीदा' का वीरतापूर्ण सुन्दर तिरंगा चित्र भी दिया गया है। इस नाटक को उर्दू के प्रसिद्ध लेखक ख्वाजा हसन शिजामी जैसे व्यक्ति ने भी अवलोकन कर इसमें उचित सुधार करवा

दिये हैं, अत: भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से यह सुन्दर कहा जा सकता है। कागज, छपाई भी उत्तम हैं। यही बात किसी अंश में इस नाटक के प्रहसन के विषय में कही जा सकती है। क्योंकि इस मूल कथानक जहाँ त्रेतायुग का चुना गया है, वहीं प्रहसन की कहानी इस कलियुग के अर्धपत्नी भक्त के रूप में की गई है। यद्यपि उसमें अस्वाभाविकता जरा भी दिखाई नहीं देती, क्योंकि नाटककार में दोनों युग के दो आदर्श सामने रखकर समाज को उनमें से वास्तविक और श्रेष्ठ को चुनने का मौका दिया है, तथापि समाज की वर्तमान दशा और मानव-जाति की निर्बल मन:प्रवृत्ति एवं अल्प विवेश शक्ति के विचार से-जो कि उन्नति और उत्तमता की ओर सहज ही दुर्लक्ष्य करती एवं पतन की ओर कौतुकभाव से सरलतापूर्वक आकर्षित हो जाती है-ऐसे आदर्श जितने भी कम उसके सामने रक्खे जाय, उतना ही जनता के लिए कल्याण का होगा।

नाटक के इस दोष को कथावाचकजी ने भी स्वयं अपने निवेदन में स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने इसलिए उसके बदलने में विवशता प्रकट की है कि एक बार उसके बदलने से सारा नाटक ही दूसरी बार लिखना पड़ेगा। अत: 'बिक गया सो मोती, रह गया सो पत्थर' के नाते उन्होंने इसे इसी रूप में अपनाने के लिए हिन्दी जगत से अनुनय किया है। इसके बाद के नाटकों में उन्होंने बराबर इस बात का ध्यान रक्खा है कि दूषित चरित्र-चित्रण होते हुए भी उसमें अश्लीलता न आने पावे, अत: नाटक का यह दोष प्राय: क्षम्य सा हो जाता है।

पुस्तक के प्रारम्भ में बरेली के उन्नतमना बाबू द्वारका प्रसाद बी.ए. लिखित आठ पृष्ठों की आलोचनात्मक भूमिका है, जिसमें नाटक की प्रत्येक बारीकियों पर संक्षेप में विचार किया गया है। इस प्रकार की भूमिका के रहने से साधारण पाठकों को नाटक के गुण-दोष समझने में सुगमता होती है। जैसा कि हम 'वीर अभिमन्यु' के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए लिख चुके हैं। पंडितजी की कविता छंदशास्त्र की दृष्टि से नहीं बल्कि नाटकीय भाषा की दृष्टि से ही उसके उपयुक्त कही जा सकती है। पुस्तक की पृष्ठ संख्या लगभग 168 और मूल्य बारहआना तथा प्राप्ति स्थान श्री राधेश्याम पुस्तकालय बरेली है।

गोपीवल्लभ उपाध्याय की जन्मभूमि आगर, मालवा थी। सन् 1957 में वैराग्य धारण कर नित्यानंद आश्रम धार मध्यप्रदेश में रहते रहे।

परिवर्तन नाटक : तीसरा संस्करण-1937

कथावाचक के तीसरे नाटक 'परिवर्तन' की भूमिका बंगाली मोहाल, कानपुर निवासी विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 21 अक्टूबर 1926 में लिखी थी। नाटक का तीसरा संस्करण 1937 मेरी फाइल में है। वास्तव में यह भूमिका नहीं 'परिवर्तन' नाटक की पहली समीक्षा है।

हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध नाटककार पं. राधेश्याम कथावाचक द्वारा लिखित और प्रकाशित 'परिवर्तन' नाटक की भूमिका लिखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। इसका कारण केवल यही है कि पण्डितजी का यह पहला सामाजिक नाटक है, और ऐसा नाटक है जो शिक्षाप्रद होने के साथ-साथ मनोरंजक भी खूब है। पं. राधेश्यामजी ने इसके पूर्व धार्मिक नाटक तो कई लिखे हैं, परन्तु 'न्यू अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' में स्टेज होने वाले 'वीर अभिमन्यु' और 'परमभक्त प्रह्लाद' आपके उत्तम नाटक हैं, और उनका खूब आदर है। यद्यपि 'परिवर्तन' परम-भक्त प्रह्लाद के पहले सन् १९१४ में लिखा जा चुका था परन्तु कुछ कारणों से वह स्टेज 'परम-भक्त प्रह्लाद' के पश्चात १९२५ में किया गया।

आजकल के नवयुवक दुष्ट संग में पड़कर किस प्रकार अपना सर्वनाश कर बैठते हैं, किस प्रकार उनका स्वर्ग तुल्य घर नरक के समान बन जाता है, ये बातें इस नाटक में भलीभाँति दिखाई गई हैं।

इस नाटक का नायक श्यामलाल है। श्यामलाल आरम्भ में एक सदाचारी हिन्दू, एक सद्गृहस्थ, एक आदर्श पति तथा एक आदर्श पिता है। अपनी पत्नी लक्ष्मी से वह कितना प्रेम करता है, यह बात उसके इस वाक्य से-

योगी को आनन्द जैसा अपनी समाधि में हो।
वैसा है आनन्द मुझे प्रिया, तेरे पास में।

भलीभाँति प्रकट होती है। वह श्यामलाल आगे चलकर एक वेश्या पर आसक्त होकर सब कुछ भूल जाता है। जिस समय उसका वफ़ादार नौकर शम्भू उसको लक्ष्मी की मृत्यु की सूचना देता है और उसकी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए श्यामलाल से घर चलने की प्रार्थना करता है, उस समय वही श्यामलाल कहता है-

पड़ी है लाश तो क्या तू उठा नहीं सकता?
कफ़न लपेट ठिकाने लगा नहीं सकता?
मुझे मसान में जाने की क्या जरूरत है
चिता पै रखके उसे तू जला नहीं सकता?

कितना विकट परिवर्तन है। सहसा विश्वास नहीं होता कि एक मनुष्य में इतना घोर परिवर्तन हो सकता है। परन्तु नहीं परिवर्तन हुआ, एकदम से नहीं क्रमशः। वेश्या के बाजारू रूप यौवन से कुछ समय के लिए श्यामलाल को मुग्ध कर लिया। श्यामलाल सब कुछ भूल गया। यहाँ तक कि अपनी उस प्रेम प्रतिमा लक्ष्मी को भी भूल गया। इसके पूर्व उसने उसे न भूलने की भरसक चेष्टा की। अपने हृदय को काबू में रखने का पूरा प्रयत्न किया। परन्तु वे सब प्रयत्न क्रमशः निष्फल होते गये। क्यों न होते? एक ओर चन्दा-सी अप्सरारूपिणी वेश्या इस बात पर तुली हुई थी कि श्यामलाल उसके प्रेम जाल में फंस जाय। उसका सहायक रमजानी सा धूर्त व्यक्ति था जो प्रत्येक समय शैतान की तरह बेचारे श्यामलाल को बहकाया करता था। श्यामलाल के एक मित्र बिहारी बाबू की भी यही चेष्टा थी कि श्यामलाल चन्दा के फन्दे में फंस जाय। उधर तीन शक्तियाँ इधर केवल एक भोली-भाली पत्नी। जो यह तो जो जान से जानती थी कि पति को सदैव प्रसन्न रक्खे, सुखी रक्खे, परन्तु एक पुरुष का हृदय स्त्री किन बातों से अपने वश में रख सकती है-यह उसे मालूम नहीं था। वशीकरण की कला से लक्ष्मी बिल्कुल अनभिज्ञ थी। शम्भू से लक्ष्मी का यह कथन-

कुछ खोट है मुझी में जो यों छोड़ गये हैं।
दासी को अधम जान के मुँह मोड़ गये हैं।

बहुत ही उपयुक्त है। निस्संदेह यदि उसमें कमी न होती तो श्यामलाल उसे कदापि न छोड़ता। परन्तु यह कमी प्रेम की नहीं थी। प्रेम का तो उस हृदय में समुद्र भरा था, परन्तु वह इतना शान्त और गम्भीर था कि श्यामलाल को उसकी गहराई का पता

ही न चला। उस में कमी थी चन्दा की नृत्य-गान कला की, उसकी चटक-मटक की, उसके अक्षय शृंगार की, उसके प्रेम-प्रदर्शन की। श्यामलाल के प्रति हृदय में लेशमात्र प्रेम न होते हुए भी चन्दा श्यामलाल के प्रेम-तृषित हृदय के लिए प्रत्येक समय प्रेम का प्याला लिए उपस्थित रहती थी। परन्तु इधर लक्ष्मी के हृदय में प्रेम का समुद्र भरा होने पर भी वह बेचारी लज्जावश उस में से कभी एक बूँद भी श्यामलाल को देने का साहस नहीं कर सकती थी। एक गृहस्थ स्त्री वेश्या की भांति प्रेम-प्रदर्शन कैसे कर सकती है? यह बात असम्भव है। जो यह बात समझते हैं वे ही वेश्या से बच सकते हैं। श्यामलाल यह बात नहीं समझता था, इसलिए उस पर वेश्या का जादू चल गया।

नाटक में वैसे तो तीन चरित्र साथ-साथ चलते हैं, श्यामलाल, लक्ष्मी तथा चन्दा और तीनों चरित्र अपनी-अपनी शान अलग रखते हैं। परन्तु मुख्य चरित्र लक्ष्मी का है। लक्ष्मी अपनी अज्ञानता, अपने भोलेपन के कारण श्यामलाल को खो बैठती है। इसके पश्चात उसकी आँखें खुलती हैं और वह श्यामलाल को पुन: सीधे रास्ते पर लाने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। वह अपने नौकर शम्भू की सहायता से, पति को अपनी मृत्यु का मिथ्या समाचार भिजवाती है, और फिर स्वयं वेष बदलकर उसी वेश्या के यहाँ आकर नौकरी कर लेती है। नाटक का यही अंश प्रकट रूप में कुछ कमजोर है, और समालोचक गण इसी कमजोर स्थल पर अपना कलम-कुठार चलाने की गुंजायश पा सकते हैं। एक ऐसी स्त्री जो यह भी नहीं जानती कि वेश्या किसे कहते हैं- अर्थात् जो संसार से इतनी अनभिज्ञ है-उस में इतना साहस कहाँ से आ गया? इतनी बुद्धि कहाँ से आ गई कि वह अपना घर छोड़कर और पुरुष वेष बनाकर, एक वेश्या के यहाँ नौकरी कर लेती है? उसका छद्म वेष इतना पूर्ण है कि उसका पति श्यामलाल भी उसे नहीं पहचान पाता। भोली-भाली लक्ष्मी तो एक अच्छी खासी डिटेक्टिव है। जो बात अच्छे-अच्छे डिटेक्टिवों के लिए कठिन है-वह बात चारदीवारी के अन्दर बैठने वाली एक स्त्री ने कर दिखाई। यह घोर अस्वाभाविकता है। यह बात कहना किसी भी व्यक्ति के लिए साधारण सी बात है। परन्तु जो लोग ऐसा कहते हैं वे यह नहीं जानते कि अस्वाभाविक है किस चिड़िया का नाम? क्या स्वाभाविकता के अर्थ यह हैं कि सवेरे उठना, नित्यक्रिया से निवृत्त होना और अपना दैनिक कार्य करना, फिर शाम को भोजन करके सोए रहना? वाकई सच्ची स्वाभाविकता तो यही है। परन्तु इस स्वाभाविकता में कौन सी ऐसी बात है जो पुस्तक

में लिखे जाने पर, किसी पाठक का, अथवा स्टेज पर दिखाये जाने पर किसी दर्शक का, मनोरंजन कर सके? श्यामलाल के वेश्यानुरागी हो जाने पर स्वाभाविक बात तो यह थी कि लक्ष्मी चुप होकर बैठ जाती और अपनी कन्या विद्या का पालन-पोषण करती। अथवा विष खाकर सो रहती। परन्तु इन दोनों बातों से क्या किसी पाठक अथवा दर्शक का मनोरंजन हो सकता था? एक मनुष्य जो पैरों के बल चलता हो वह सिर के बल पर चलने लगे तो यह निस्संदेह अस्वाभाविकता है। हाथ की उँगलियों से ग्रास उठाने वाला यदि पांव की उँगलियों से ग्रास उठाने लगने लगे तो यह आचरण करना ही अस्वाभाविकता हैं। परन्तु एक स्त्री, जिसका सर्वनाश हो रहा है, जिसका सर्वस्व लुटा जा रहा है, जिसके लिए संसार और संसार के समस्त सुख-उस समय तक व्यर्थ हैं जब तक कि उसका पति वेश्या के फंदे से नहीं छूटता, जो अपने पति से इतना प्रेम करती है कि उसके बिना उसका जीवन वृथा है, वह स्त्री यदि अपने प्राणपति को अपने अनुकूल करने के लिये, ऐसे मार्ग को ग्रहण करती है-जो उसके लिए नवीन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं, तो इसमें कौन सी अस्वाभाविकता है? जो सच पूछा जाय तो लक्ष्मी यदि ऐसा न करती तब अस्वाभाविकता होती। क्यों? एक पतिपरायण स्त्री, पति के विमुख हो जाने पर, चुप कैसे बैठ सकती है? सच्चे प्रेमी अपने प्रेमपात्र को वश में करने के लिए आकाश-पाताल एक कर देते हैं-यही अस्वाभाविकता है। एक लोमड़ी जो सदैव ही सिंह के सामने से भाग खड़ी होती है, उस समय-जब कि सिंह उसके बच्चों पर आक्रमण करने की नियति से आगे बढ़ता है, तो उसके सामने छाती निकाल कर खड़ी हो जाती है, और उस समय तक जब तक उसका प्राणांत नहीं हो जाता सिंह का मुकाबला करती है। लोमड़ी का यह कार्य क्या अस्वाभाविक है? नहीं, अस्वाभाविकता तो तब होती जब लोमड़ी सदैव की तरह उस समय भी खड़ी होती। दुर्भिक्ष में बहुत सी माताएँ अपने बच्चों को भून-भून कर खा गई, और बहुत सी माताओं ने अपने मांस अपने बच्चों को खिलाकर उनके प्राण बचाये और स्वयं मर गई। इन दोनों में कौनसी बात स्वाभाविक है और कौनसी अस्वाभाविक? सच पूछिए तो दोनों स्वाभाविक हैं। अपने प्राण बचाना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, अतएव अपने प्राण बचाने के लिए यदि माता ने बच्चे को भून खाया तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। दूसरी ओर, अपने बच्चे बचाना माता का स्वाभाविक गुण है। अतएव यदि माता ने बच्चे को बचाने के लिए अपने प्राण दे दिये

तो इसमें अस्वाभाविकता क्या है? जिसमें अपने प्राण बचाने का स्वाभाविक गुण अधिक मात्रा में था उसने अपने प्राण बचाये, और जिसमें बच्चे का प्राण बचाने (मातृत्व) के स्वाभाविक गुण का आधिक्य था उसने बच्चे के प्राण बचाये।

मनुष्य जिन बातों को अधिकतर देखते सुनते रहते हैं केवल उन्हें स्वाभाविक समझना और शेष सब को अस्वाभाविक समझना अज्ञानता का परिचय देना है। जो यह समझते हैं कि इस नाटक के 'वियोगी' का चरित्र अस्वाभाविक है उनको पहले यह समझ लेना चाहिए कि Truth is stranger than Fiction-अर्थात् सच्ची घटनाएँ कहानियों से भी अधिक विचित्र होती हैं। अतएव यदि कहानी में कुछ विचित्रता है तो आश्चर्य ही क्या है? जिसमें कुछ विचित्रता न हो, कुछ अनोखापन न हो, वह कहानी ही क्या। मनुष्यों का दैनिक जीवन लिख देने से तो कहानी बन ही नहीं जाती। यह 'वियोगी' ही है जिसने 'परिवर्तन' को स्टेज के योग्य बनाया है। अन्यथा लक्ष्मी श्यामलाल, चन्दा, रमजानी तथा बिहारी बाबू तो संसार में असंख्य हैं।

नाटक में स्थान-स्थान पर गद्य-पद्य भी मार्के के हैं। विद्या तथा ज्ञानचन्द्र वकील की बातें खूब मनोरंजक हैं। माया के मुकाबले में विद्या के प्रति वकील साहब के विचार बहुत सुन्दर है। शम्भू दादा की स्वामिभक्ति भी आदर्श है। गोल्डन गोली का मजाक भी अच्छा है। उन इश्तिहारबाजों के लिए-जो एक ही औषधि से संसार के समस्त रोगों को दूर करने का दावा करते हैं, यह वाक्य-"हमारी गोल्डन गोली ले जाओ, ज़हर का भी काम करेगी" खूब शिक्षाप्रद है।

कोर्ट का दृश्य, कुछ लोगों को आपत्तिजनक हो सकता है। 'टिट फॉर टैट' का कानून न्याय की दृष्टि से, बिल्कुल युक्ति संगत है। यह बात दूसरी है कि वर्तमान समय में ऐसा कोई कानून नहीं है। परन्तु साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि आजकल जो कानून है, वे आदर्श है। आजकल अधिकांश कानून न्याय की दृष्टि से, बड़े दूषित हैं। यही कारण है कि अपराध बन्द नहीं होते। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की नाक काट लेता है, उसे कारागार की सजा दी जाती है। कारागार से छूटने पर वह तो मूंछों पर ताव देता घूमता है, परन्तु जिस बेचारे की नाक काटी गई वह जन्म भर के लिए मुंह दिखाने के योग्य न रहा। यदि दण्डस्वरूप नाक काटने वाले की नाक काट ली जाया करे तो कदाचित् फिर कोई नाक काटने का साहस न करे। लेखक ने एक ऐसे कोर्ट का चित्र खींचा है, जो यदि वैसा कोर्ट प्रचलित हो जाय तो, एक आदर्श कोर्ट हो।

चन्दा वेश्या का पश्चाताप और प्रायश्चित भी अच्छा हुआ है। एक नारी, नारी जाति के ही उद्धार की बात सोच कसती है। स्वाभाविकता इसी में हैं। अतएव चन्दा ने वेश्यावृत्ति छोड़कर नारी जाति के उद्धार का कार्य हाथ में लिया-यह बिल्कुल ठीक हुआ।

शम्भू दादा की सात अनोखी बातें भी खूब निभी हैं। परिवर्तन में प्रारम्भ से लेंकर अन्त तक, परिवर्तन ही परिवर्तन है। नाटक के जितने पात्र हैं सब में परिवर्तन होता चला गया है।

अन्त में मुझे केवल यही कहना है कि, परिवर्तन नाटक लिखने में पं. राधेश्यामजी ने पूरी सफलता पाई है। मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी भाषा-भाषी इस नाटक का समुचित आदर करेंगे।

कथावाचक के नाटकों की समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में आलोचना भी हुई थी। एक ऐसी ही आलोचना 'भविष्य' ने 8 जनवरी 1926 में की थी। इसका जवाब विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'वर्तमान' अखबार द्वारा सन् 16 जनवरी 1926 के अंक की है। इसका वर्णन ''मेरा नाटककाल 1957 प्रथम आवृत्ति पृष्ठ 239 से 243 में वर्णित है''। 'भविष्य' की गैर जिम्मेदारी : घटना को तोड़-मरोड़ डाला शीर्षक से। राजे-महाराजे तो 'न्यू अल्फ्रेड' में भी बहुत ज्यादा आते थे, पर बाहर ही बाहर टिकट के दाम देकर, नाटक देखकर चले जाते थे। 'कानपुर' में एक महाराजा साहब ने न्यू अल्फ्रेड के एक दो लड़कों को-स्वर्ण पदक खिलते नाटक में देने चाहे थे-कम्पनी के मालिकान ने उस रूप में वे नहीं लिए। 'भविष्य' (कानपुर) नाम के अखबार ने उसका 'दोष' मुझ पर लगाया था कि मैंने कम्पनी को ऐसा बनाकर रक्खा है। पर नहीं वह कम्पनी पहले ही से ऐसी बन चुकी थी। 'भविष्य' को उत्तर 'श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक' ने 'वर्तमान' अखबार द्वारा दिया था। उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ। अंक की तारीख 16-01-1926 ई.

भविष्य की गैर जिम्मेदारी
घटना को तोड़ मरोड़ डाला

स्थानीय दैनिक 'भविष्य' ने अपने 8 जनवरी सन् 1626 के अंक में न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी तथा उसके सुयोग्य नाटककार पं. राधेश्याम कथावाचक के

सम्बन्ध में कुछ अनर्गल बातें लिख मारी हैं। पता नहीं 'भविष्य' के रिपोर्टर कितनी लियाकत के आदमी हैं, जो इतने गैर जिम्मेदार है कि उन्होंने गलत लिखने के साथ ही साथ पं. राधेश्याम की नियत पर भी हमला कर डाला। एक दैनिक पत्र के लिए ऐसी गैर जिम्मेदारी की बातें छापना बड़ी लज्जा की बात है। सर्व साधारण की जानकारी के लिए असली घटना नीचे दी जाती है।

पहली बात तो यह है कि न्यू अल्फ्रेड ने अपने समस्त जीवनकाल में आज तक किसी के पदक स्वीकार नहीं किए। यहाँ तक कि बम्बई के गर्वनर तथा स्वर्गीय निजाम हैदराबाद ने भी एक बार कम्पनी के ऐक्टरों को पदक देने की इच्छा प्रकट की थी। पर कम्पनी ने उसे स्वीकार नहीं किया। न्यू अल्फ्रेड का यह उसूल है कि वह ऐक्टरों के लिए कभी एक पदक स्वीकार नहीं करती। भरतपुर नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी राजा किशनसिंह ता. 28, 29, 30 दिसम्बर को अपने दल बल सहित तमाशा देखने आये थे। तमाशे देखकर उन्होंने महाराज से सिफारिश की, और महाराज ने तमाशा देखने की इच्छा प्रकट की। जैसा कि 'भविष्य' के रिपोर्टर ने लिखा है, कम्पनी ने महाराज से तमाशा देखने की प्रार्थना कदापि नहीं की थी। महाराज ने 2 जनवरी शनिवार को स्पेशल-क्लास तथा पूरा जनाना दर्जा रिजर्वेशन कराया और खास तौर से सजवाया। महाराज तमाशा देखने आये ,और प्रबंध देखकर प्रसन्न हुए तथा कम्पनी के मालिकों को धन्यवाद दिया। फिर 4 तारीख सोमवार को कम्पनी से आग्रह करके परम भक्त प्रह्लाद का तमाशा कराया, यद्यपि कम्पनी के प्रोग्राम में उस दिन प्रह्लाद का तमाशा नहीं था। उस दिन भी जनाना दर्जा-महल की तरह सजाया गया था, परन्तु उस दिन महाराज कुछ अस्वस्थ होने के कारण नहीं पधारे थे, महारानी साहिबा और प्राइवेट सेक्रेटरी अपने दल-बल तथा नगर के कुछ रईसों के साथ पधारे थे।

ता. 5 मंगलवार को रात के 9 बजे महाराज ने अपनी सवारी का रोल्स रायल मोटर भेजकर कम्पनी के मालिकों से यह प्रार्थना की कि वे अपना हारमोनियम मास्टर तथा कुछ गाने वाले भेज दें-क्योंकि बीमारी के कारण उनकी तबीयत बेचैन हैं। अतएव इससे जी बहल जायेगा। यद्यपि यह बात कम्पनी के नियम के विरुद्ध थी, परन्तु महाराज से कम्पनी के पुराने ताल्लुकात हैं-ऐसी दशा में मालिकों ने महाराज की प्रार्थना अस्वीकार करना उचित न समझा। विशेषत: ऐसी दशा में जब कि वह

अस्वस्थ थे। अतएव कुछ गानेवाले भेज दिये गये। महाराज मालिकों के इस सद्व्यवहार से प्रसन्न हुए और उन्होंने मालिकों को धन्यवाद दिया।

बुधवार को पुन: महाराज के लिए वैसा ही प्रबन्ध किया गया। यद्यपि इस प्रकार के प्रबन्ध से कम्पनी को हानि होती थी क्योंकि नगर की जनता लौट जाती थी, परन्तु कम्पनी ने इस हानि को सहन किया। उस दिन भी महाराज अस्वस्थ होने के कारण नहीं पधारे।

दूसरे दिन वृहस्पतिवार को महाराज अपने दरबारियों तथा नगर के रईसों के साथ पधारे। तमाशा देखकर प्रसन्न हुए और तीन लड़कों के पदक देने की इच्छा प्रकट की। कम्पनी के मालिकों ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि-कम्पनी में पदक लेने का नियम नहीं है, इसलिए महाराज क्षमा करें, और महाराज की इस गुणग्राहकता के लिए कम्पनी महाराज को धन्यवाद देती है। 'भविष्य' के रिपोर्टर ने जो लिखा है-कि पं. राधेश्यामजी ने पदक नहीं लेने दिए-यह बिल्कुल गलत है। इसके बाद महाराज उठकर चले गये, क्योंकि दूसरे दिन पोलो खेलना था। उनके समस्त दरबारी तथा उनके निमंत्रित नगर के सब रईस बैठे रहे और उन्होंने अन्त तक तमाशा देखा। 'भविष्य' के रिपोर्टर के कथनानुसार यदि महाराज रुष्ट होकर जाते तो उनके दरबारी क्यों बैठे रहते? केवल उनके साथ पोलो खेलने वाले उनके साथ उठकर चले गये थे। कदाचित इन्हीं को रिपोर्टर ने जनता समझ लिया होगा।

महाराज के चले जाने पर मालिकों ने प्राइवेट सेक्रेटरी से अपने बिल के रुपयों के लिए कहा-उन्होंने कहा कि बंगले पर आकर ले जाना। मालिक बंगले पर जाये, पर हुक्म हुआ कि रुपये अभी नहीं मिलेंगे। मालिक वापिस आये। पीछे महाराज के तीनों पदक डाक द्वारा ऐक्टरों के नाम से भेज दिये।

सच्ची बातें ये हैं जिन्हें 'भविष्य' के रिपोर्टर ने इतना तोड़ मरोड़ कर लिखा है, मुझे आशा है भविष्य में 'भविष्य' अपने गैर जिम्मेदार रिपोर्टर की रिपोर्ट बहुत समझ बूझकर छापेगा।

माधव शुक्ल

श्रेष्ठ उर्दू नाटक का आगाज : मशरिकी हूर

पं. राधेश्याम कथावाचक का उर्दू नाटक 'मशरिकी हूर' एक प्रयोग था, जो यह कहते थे कि कथावाचक उर्दू नाटक नहीं लिख सकते। यह प्रयोग सफल भी रहा। कथावाचक ने 'अर्ज़ेहाल' शीर्षक से इस नाटक के विषय में बसन्त पंचमी संवत 1983 ई में बहुत कुछ कह दिया है। 'मशरिकी हूर' की भूमिका बतौर समीक्षा कलकत्ता निवासी माधव शुक्ल ने, 11 जनवरी, 1927 ई. में लिखी थी। माधव शुक्ल ने महाभारत का 'भीष्म प्रतीक्षा' सहित कई अंश लिखे हैं।

मैं और उर्दू जुबान? बिलाशक बौने ने चांद तक पहुंचने की कोशिश की है। हक़ीक़त यह है कि न्यू अल्फ्रेड नाटक कम्पनी के मैनेजिंग प्रोपराइटर, मेरे लायक दोस्त मि. माणिक शाह बलसारा के मोहब्बत भरे दिल की, यह एक पाक फ़रमाइश थी जिसे मैंने अमली जामा पहना कर अपना फ़र्ज अदा किया है।

कानपुर के 'वर्तमान' में मनसुखा की यह चुटकी कि "पं. राधेश्याम हिन्दी नाटक लिखते-लिखते उर्दू की तरफ क्यों झुक पड़े, यह उल्टे बांस बरेली क्यों?" बिल्कुल ठीक है। लेकिन क्या करूं, मैं ऐसे मुल्क में पैदा हुआ हूँ जहाँ एक कौम आबाद नहीं और एक ऐसे जुबान सबकी जुबान नहीं। वतन के बुजुर्ग कोशिश में हैं कि सब कौमें मुत्तहद हो जायें और सब की जुबान मुश्तर्का हो जाय। जब ऐसा मुबारक वक़्त आजायेगा तो मुझ जैसी नाचीज हस्ती भी यह राग गाने लग जायेगी-

"मिले सभी भारतीय सन्तान, एक तन मन प्राण"

इस नाटक का कुछ प्लॉट एक सिनेमा से और कुछ तारीखे फ़रिश्ता से अख़्ज किया गया है, बाकी तमामतर मेरे नाचीज तखय्युल का नतीजा है। नाटक कैसा लिखा गया है, जज़बात की मुसव्विरी में मुझे कहाँ तक कामयाबी नसीब हुई है इसका फ़ैसला तो माहिराने फ़न ही कर सकते हैं। मुझे सिर्फ़ यह अर्ज़ करना है कि 'प्रह्लाद

की श्यामलता' और परिवर्तन की 'चंदा' के बाद मैंने आलमें निसवां का एक नया बुत 'हमीदा' के नाम से इस नाटक में तराशने का हौसला किया है, जो मुझे उतना ही प्यारा है जितना कि किसी रातभर के भटके हुए मुसाफ़िर को नूर का तड़का।

नाटक का नाम मैंने हुस्ने मशरिक़ (Oriental Beauty) तजवीज किया था, मगर मेरे और मि. माणिकशाह के एक मेहरबान दोस्त ने 'मशरिकी हूर' ही रख दिया। दोस्तों का हुक्म भी तो मानना ही पड़ता है। चलो हुस्न न सही हूर सही। मतलब तो खूबसूरती से है।

नाटक लिखने के जमाने में मेरे करमफर्मा पं. बनारसी दासजी 'विरही' ने मुझे बहुत ज्यादा इमदाद दी है। इसलिए मैं उनका बेहद ममनून हूँ। सब से ज्यादा मशकूर मादरे हिन्द के सपूत, जनाब मौलाना हसरत मोहानी का हूँ, जिन्होंने शुरू से आख़िर तक इस नाटक को सुन और देखकर, अपनी इसलाहों से इसमें चाद चाँद लगा दिये हैं। कहीं कहीं कुछ अशआर और गाने उर्दू के चंद मारूफ़ शोअरा के भी चस्पा कर दिए गए हैं, जो सिर्फ़ इस सादी साड़ी को ज़री की गोट से सजाने के लिए हैं, न कि किसी बुरे इरादे से। मैं समझता हूँ कि ड्रामानिगार को यह हक हासिल भी है।

चीज जैसी बन सकी बना दी गयी है, अब अच्छी या बुरी का फैसला खरीदारों की पसन्द पर है–

"गर क़ुबूल उफ़्तद ज़हे इज़्जो शरफ़"

(राधेश्याम कथावाचक बसंत पंचमी सन् 1983)

जमाना बड़ी तेजी के साथ अपना एक निराला (स्टैण्डर्ड) बनाने की ओर बढ़ता जा रहा है। यों तो संसार की सभी वस्तुओं में, रोज़-बरोज़ बदलती हुई बाइस्कोप की रीलों की तरह, इसकी प्रगति से होने वाला परिवर्तन न्यूनाधिक दिखायी दे जाता है, किन्तु नाटकीय दुनिया में इस परिवर्तन का जैसा स्पष्ट और सच्चा चित्र देखने में आता है वैसा और जगह नहीं। विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी के स्टेज से आजकल के स्टेज का मुकाबला किया जाय तो ज़मीन आसमान का अन्तर दिखाई देगा। उस नाटकीय भाषा, एक्टिंग, भाव भंगी, सीन सीनरी एवं ड्रेस आदि के साथ २ नाटक लिखने वालों के दिलोदिमाग़ आज न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गये। प्रसन्नता की बात

है कि ज़माने की यह तेज़ रफ़्तारी नाटक के क्षेत्र में इसे बेहद आगे बढ़ा लायी है। आगे बढ़ी हुई जवानी पर आयी हुई इस दुनिया को हाव एवं कटाक्ष से युक्त करके, सुरुचि की सोहिनी साड़ी पहना कर, दर्शकों के हृदय को ठग लेने वाली बना देने का श्रेय आधुनिक पारसी कम्पनियों के स्टेज में क्रांति उपस्थित करने वाले श्रीयुत आगाहश्र काश्मीरी, पंडित नारायण प्रसाद जी 'बेताब' और न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के प्रतिभाशाली नाटककार पंडित राधेश्यामजी कथावाचक जैसे सज्जनों को है। यह सत्य है कि उक्त सज्जनों के बनाये हुए हिन्दी नाटक अभी उस स्टैण्डर्ड से बहुत दूर हैं जो बंगला के नाटकों ने प्राप्त कर लिया है, पर इसका मुख्य कारण हिन्दी-प्रचार का उद्देश्य रखने वाली संस्थाओं की उदासीनता है। हिन्दी प्रचारिणी संस्थाओं ने हिन्दी साहित्य के इस आवश्यकीय अंग पर अभी तक ध्यान ही नहीं दिया और न दे रही हैं। पारसी नाटक कम्पनियाँ बिल्कुल व्यापारी हैं। पैसे की आमदनी ही उनके नाटक के व्यवसाय का लक्ष्य है। वे जनता की रुचि की उत्तेजक हैं, सुधारक नहीं। ऐसी दशा में जो भी थोड़ी बहुत सुरुचि वाले उत्तम नाटक उनके स्टेज पर पहुंचे हैं वह हमारे उपर्यक्त लेखक महोदयों ही के परिश्रम और प्रतिभा का फल है।

हिन्दी नाटकों का आदर्श स्थापित कर लेने के उपरान्त पंडित राधेश्यामजी ने उर्दू नाटकों का भी एक विमल स्टैण्डर्ड बनाने की ओर ध्यान दिया है। प्रस्तुत नाटक 'मशरिकी हूर' उर्दू नाटकों के उसी स्टैण्डर्ड को प्राप्त करने का प्रथम प्रयास है। नाटक को साद्यन्त पढ़ने के उपरान्त मैं यह निसंकोच कह सकता हूँ कि कथावाचक जी ने पहले ही प्रयास में ज़बर्दस्त सफलता प्राप्त की है। संसार के सभी धर्मों के सार को और विशेषत: हिन्दू धर्म के पवित्र, आदर्श के मनोहर रूप-सौन्दर्य को, उर्दू भाषा के हुबाबी पर्दे के भीतर छिपाकर कमाल कर दिया है। मेरा खयाल है कि उर्दू नाटकीय संसार पण्डित राधेश्यामजी कथावाचक की इस कृति के लिए उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

नाटक 'मशरिकी हूर' की नायिका मेरी राय में 'हमीदा' ही हो सकती है। यद्यपि शाह साहब अकमल के रूप में महमूद वजीर, शादियाबाद के शासक सुल्तान गज़नी खां, उनका वफ़ादार सेनापति सरदार दिलेरजंग, उनका चाटुकार मुसाहब एवं आमात्य सलामतबेग, प्रचुर प्रेम की प्रेमिका शहजादी रौशनआरा आदि अन्यान्य पात्र भी प्रधान हैं तथापि नाटक में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला हमीदा का ही ओजस्वी चरित्र है। हमीदा एक वीर पिता की वीर बेटी है। इतना ही नहीं, उसके हृदय में दया और

उदारता की स्त्रोतस्विनी बह रही है। दया उसमें यहाँ तक है कि मनुष्य तो क्या नाचीज़ पशु-पक्षी पर भी, वह निर्दोष है तो, वह हाथ नहीं उठाना चाहती। उसके चचेरे भाई जब बड़े गर्व के साथ अपने बतख और मुर्गे के शिकार का जिक्र करते हैं तो वह अपनी दयालु प्रकृति का परिचय देती हुई कहती है-

"अब्बाजान! मैं इन छोटे-छोटे परिन्दों पर तीर चलाना पसन्द नहीं करती। मुझे तो शेर के शिकार का शौक़ हैं-

जो अपनी मीठी बोली से जंगल में मंगल करती हैं।
उन फुर-फुर उड़ती चिड़ियों की छाती छेदे वह तीर नहीं।।
जो कमजोरों का खून बहा अपना मुंह लाल बनाती है
वह छुरी किसी कस्साब की है ज़ोरावर की शमशोर नहीं।।

उसकी उदारता का भी उदाहरण लीजिए। उसके उपर्युक्त चचेरे भाई जमाल और कमाल जब बुद्धि और वीरता में किसी तरह भी उससे श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं तब वे अन्त में अपनी उस प्रतिद्वन्द्विनी चचेरी बहन को जान से मार डालने की बात सोचते हैं। एक अवसर पर वे उसे सोता हुआ पाकर अपने इस दुष्ट इरादे से कार्य में परिणत करने का प्रयत्न भी रचाने लगते हैं। पर अन्त तक कृतकार्य नहीं होते। दिलेरगंज अचानक वहाँ आकर उनकी पिशाचलीला में बाधा डाल देता है, और उनकी घृणित चेष्टा पर अत्यन्त अप्रसन्न होकर उलटे उनके ही प्राणान्त का उपक्रम करने लगता है। हमीदा जो उस समय मर्दाने वेष में हैं, अपने उन दोनों कायर भाइयों की जांबख्शी को सिफ़ारिश करते हुए दिलेरगंज से कहती है-

खुदा ने जब बाज़ुओं को ताक़त,
जिगर को दम ख़म अता किया है।
तो उसने लुत्फो करम के जज़्बे से,
दिल का प्याला भी भर दिया है।।
जहाँ है कांटा वहीं है गुल भी,
जहाँ ख़ता है वहीं अता है।
उदू का सर काटने के बदले,
मुआफ़ करना बहुत बड़ा है।।

देखा आपने, संसार के बड़े से बड़े दार्शनिक जिस उदात्त सिद्धांत का प्रतिपादन कर गये हैं वही इन ऊपर की पंक्तियों में भरा हुआ है। अंग्रेजी साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि करने वाला विद्वान विल्सन इसी सिद्धांत का पृष्ठपोषक था। आपत्ति यह की जा सकती है कि जब हमीदा ने क्षम का माहात्म्य एक दफ़ा ऐसे भाव भरे वाक्यों में अपने मुख से प्रकट किया तब उसी हमीदा का-मुसाहब सलामतबेग का सर काटना क्या पूर्वापर विरोध नहीं है? जवाब यह है-बिल्कुल नहीं है। सलामतबेग का सर काटने में हमीदा हमीदा होकर कार्य नहीं करती, वहाँ तो वह अपने मरहूम बाप की वसीयत की डोरी में बंधी हुई एक सआदतमन्द संतान का धर्म पालन करती है।

लेकिन हमीदा के चरित्र का जाज्वल्यमान अंश वह है जहाँ वह अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु को परोपकार की वेदी पर हँसते हँसते बलिदान कर देती है। उसकी यह प्यारी वस्तु है दिलेरजंग के प्रति उसका प्रेम। दिलेरजंग उसकी मुधर आराधना का देवता है, उसकी वस्रतापूर्ति का अनुष्ठान है। वह वह है जिसके प्रथम दर्शन में ही उसने अपना सर्वस्व हारते हुए कहा था-

ख़ुदा जाने कि क्या तुम भर गए आँखों के सागर में।
नज़र आने लगे तुम ही हर एक सर्वो सनोबर में।।
तसव्वुर है तुम्हारा या कि तुम हो क़ल्बे मुज़्तर में।
कोई मेहमान आकर, आज उतरा है मेरे घर में।।

अपने हृदय रूपी घर के इस मेहमान को-अपने प्राणों के इस बहिरंग स्वरूप को हमीदा शाहजादी रौशनआरा के हाथों में उसके सौभाग्य साधन के लिये सानन्द समर्पण करती है। यह इतना बड़ा त्याग है कि कोमलांगी स्त्री जाति के लिये सामान्यता दुस्तर है। पर दुस्तर हुआ तो क्या, असम्भव तो नहीं है। भारतवर्ष की नारी जाति के लिये हमीदा का यह चरित्र-जीवन संग्राम के वर्तमान युग में आदर्श कोटि का चरित्र है।

लेकिन हमीदा के इस चरित्र का संगठन तभी संभव है जब अकमलशाह जैसी मनोवृत्ति के शिक्षक या शिक्षिकाएं देश में प्रादुर्भूत हों। अकमलशाह हमीदा के पिता जलालुद्दीन हैदर से डाका जरूर डलवाते हैं, पर वह डाका एक उद्देश्य विशेष को सिद्ध करने के लिए निमित्तमात्र है जैसा कि अकमलशाह ही ने अन्तिम दृश्य के अपने

भाषण में स्वयं कह दिया है- डाका और चोरी बहुत बुरा काम है, जलाल कमी उसको पसन्द नहीं करता था, लेकिन मैंने मुझे बहरुपिये ने, अपनी गरज पूरी करने के वास्ते, ऐसे बुरे काम की उसे तरग़ीब दी।

डाका डालने की जलालुद्दीन हैदर और उसके साथियों को वे उत्तेजना देते हैं, लेकिन उनका हृदय डाकू नहीं है। उनके अन्तरात्मा का असली स्वरूप वह है जो सुल्तान गजनीखां के पश्चाताप के समय जाहिर हुआ है। सुल्तान जब अपने अन्यायों पर पश्चाताप करते हुए मल्का हुस्नआरा से उसके भाई बज़ीर महमूद को पदच्युत करके निकाल देने की उद्दण्डता की क्षमा मांगता है तो उनकी आँखें भर आती हैं। इस पर जब सुल्तान आश्चर्य करते हुए उनके रोने का कारण पूछता है तो उनके हृदय के फ़फोले फूट पड़ते हैं। वे यह कह कर ज़ाहिर हो पड़ते हैं कि-'मैं शाह साहब नहीं हूँ' आपका ताबेदार, इस सल्तनत का अदना खादिम, मल्का हुस्नआरा का भाई, मैं ही महमूद वजीर हूँ। महमूद वजीर अकमलशाह बन कर जलालुद्दीन से एक खास अनुष्ठान करा रहे थे। अतएव हमीदा को उनका शिक्षा देना किसी तुच्छ स्वार्थ के लिए न होकर एक महान उद्देश्य के लिए था। इसीलिए हमीदा का चरित्र वैसा बन पाया। हमीदा के पिता जलालुद्दीन हैदर के शब्दों में हमारी भी यह राय है कि-

मुअल्लिम इल्म के बदले में जब तनखाह पाता है।
तो वह शार्गिद को क्या पेट को अपने पढ़ाता है।।
.फ़कीर उस्ताद हो जिसका वही दुनिया में बढ़ता है।
सिकन्दर वह ही होता है अरस्तु से जो पढ़ता है।।

शादियाबाद के सुल्तान गज़नी खां और उनके चाटुकार मुसाहब सलामतबेग सामान्य कोटि के प्राणी हैं। सुल्तान विषय वासना का दास बन जाता है और सलामत उसे वैसा बनने में मदद देता है। सुल्तान मद्यपान के समय स्वाभाविक रीति पर सूर्यास्त के असवर वाली बादलों की लाली का जिक्र करता है। सलामत इस बात में भी सुल्तान की मद्य पीने की प्रवृत्ति को उत्तेजित करने का पहलू निकालते हुए कहता है-

महफ़िल जमी हुई है उधर भी शराब की।
गुलगूनये श़फ़क में है सुर्खी शराब की।।

चाटुकार ही नहीं, सलामत प्रकृति का भी नीच है किसानों से अनाज और जुलाहों से कपड़ा तक भी वह रिश्वत में ले लेता है। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अपनी बावर्चिन ही को छुपे छुपे बीवी बना डालता है। मौक़ा पाते ही सुल्तान के ख़जाने का ताला खोल डालता है। सुल्तान हृदय का नीच नहीं है। ऐशो इशरत के दरिया में चूडान्त डूब जाने पर भी उसकी आत्मा उसे धिक्कारती है। वह इस धिक्कार का अनुभव करके कहीं कहीं कुछ झिझक भी प्रकट करता है। किन्तु सलामत के जादू भरे चुस्त अल्फ़ाज उसकी जागी हुई सद्‌भावना को फिर एक दीर्घ काल के लिए सुला देते हैं। सलामत का वही परिणाम होता है जो एक मनुष्य रूपधारी पिशाच का होना चाहिए। और सुल्तान कुसंगति में पड़े हुए एक अच्छी आत्मावाले पुरुष की नांई अवसर पाकर उभर आते हैं।

लेखक ने इन दो चरित्रों का चित्रण बड़े ही कौशल से किया है। विशेषत: सुल्तान को सुधारने के लिए घटनावाली की अवतारणा जिस प्रकार की गयी है वह बड़ी ही सुघर है। होता यह है कि प्रजा को विद्रोही बनाकर अकमलशाह बने हुए महमूद वज़ीर सुल्तान को गिरफ्तार कराते हैं। और सुल्तान खेद नहीं प्रकाशित करता तो वे उसके प्राण हरण की आज्ञा सुनाते हैं। इसी अवसर पर मल्का हुस्नआरा आ जाती है। मल्का उन स्त्रियों में हैं जो किसी अवस्था में भी अपने पति की कल्याण कामना से मुंह नहीं मोड़ती। पतिप्राणा मल्का जब अपने पति के प्राणों पर संकट देखती है तो आप पहले मरने को तैयार हो जाती है। पर वह यों ही गर्दन नहीं झुका देती। बल्कि तलवार हाथ में लेकर अपने स्वामी के गिरफ्तार करने वालों को लड़ने के लिए ललकारती है। जब उसको स्त्री कहकर लड़ने वाले लड़ने से इंकार कर जाते हैं तो वह घुटने टेक कर उनसे अपने जीवन नाथ के जीवन की भिक्षा मांगती है। मल्का के इस व्यवहार पर सब के सिर नीचे को झुक जाते हैं और सुल्तान को कसकर पकड़नेवाली मुट्ठी ढीली पड़ जाती है। मल्का की पति-भक्ति सुल्तान का भी गर्व चूर्ण कर देती है। और जीवन में पहली ही बार उनका सिर मुनष्यत्व के बोझ से नीचे को झुक जाता है।

सुल्तान के सेनापति दिलेरगंज का चरित्र सब से अधिक वहां चमका है जहाँ हमीदा के गुण और रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर भी वह अपनी रक्षा में लिए हुए खज़ाने को नहीं चुराने देता। उस अवसर पर उसके मस्तिष्क में जो प्रेम और कर्त्तव्य के

परस्पर विरोधी विचारों की लड़ाई होती है वह लेखक की लेखनी ने बड़े मार्मिक शब्दों में दिखायी है। उसी प्रसंग पर उसके यह शब्द सार्थक हुए हैं कि-

वह हैं कमज़र्फ़ कि जो मिल के दग़ा करते हैं।
उन पै तुफ़ है जो ख़ुशामद में रहा करते हैं।।
मय का प्याला नहीं सुल्तान मुझे प्यारा है।
मैं मुसलमान हूँ ईमान मुझे प्यारा है।।

जमाल और कमाल जन्म के कायर हैं। एक ही उस्ताद से पढ़कर वे और हमीदा जुदे-जुदे दो पदार्थ बनते हैं। इसमें शिक्षक का दोष नहीं। दोष है शिक्षा पाने वाले के संस्कारों का। यद्यपि हमीदा के-

यह मारे आस्तीं अपना मुझे चाह समझते हों।
मगर मैं क़ुव्वते बाज़ू इन्हें अपनी समझती हूँ।।
बुराई भी करें गर यह तो मैं शिकवा नहीं करती।
जिन्हें अपना समझती हूँ उन्हें अच्छा समझती हूँ।।

इन विशुद्ध वाक्यों ने उनमें सौजन्य का संचार करके उनकी दुष्ट प्रकृति को सुधार तो दिया, पर वे प्रकृतवीर कभी बने ही नहीं। बस हमीदा की आज्ञा के अनुयायी रह कर ही उन्होंने आगे आने वाली घटनाओं में योग दिया है।

शहजादी रौशनआरा एक भोली भाली राजकुमारी है। उसके हृदय में एक भाव का आवेश उठता है और वह उस आवेश में पागल हो जाती है। अपने पिता के दरबार में वह हमीदा को मर्दाने वेश में लोकोत्तर वीरता दिखाते हुए देखकर मुग्ध हो जाती है और उसके प्रति प्रेम करने लगती है। नारी का हृदय वीरत्व देखकर सहज ही फड़क पड़ता है। रौशनआरा उसी नारी सुलभ हृदय से हमीदा को हमीद समझकर चाहती है। पर सल्तनत के और अपने पिता के शत्रु से प्रेम करने में उसका चरित्र गिरा जाता था। लेखक ने उसे बड़ी खूबसूरती से उबारा है। रौशनआरा उधर तो पिता को प्रेम करती है और इधर अपने पिता के शत्रु को अपने जीवन का अवलम्ब करके मानती है। इस संकट की अवस्था में वह हमीद से वचन ले लेती है कि उसके पिता के प्राणों पर आँख न आयेगी। प्रेम भी निभ जाता है और उसकी पितृभक्ति भी बनी रहती है।

क़मरू और अल्लामा कामिक कैरेक्टर्स हैं। क़मरू मुसाहब सलामतबेग का नौकर और अल्लामा बावर्चिन और गृहिणी दोनो ही है। इन दोनों में क़मरू बड़ा ही तेज और चलतापुर्जा लड़का है। मौके-मौके पर उसके मुंह से ऐसे वाक्य निकलते हैं जो हँसाने के साथ ही सामाजिक कुरीतियों पर कटाक्ष करते हुए एक गहरा सबक दे जाते हैं। नौकरी की प्रथा पर जब वह आलोचना करते हुए कहता है कि-"एक कौआ दूसरे कौए को नौकर क्यों नहीं रखता, एक शेर दूसरे शेर को नौकर क्यों नहीं रखता" तब हँसी भी आती है और साथ ही विचारों का एक स्त्रोत भी मस्तिष्क में जारी हो जाता है।

पात्रों के चरित्रों की आलोचना हो चुकी। अब केवल भिन्न-भिन्न दृश्यों की और साथ ही भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर प्रयुक्त हुई भाषा की एक सरसरी आलोचना करके हमें इस वक्तव्य को समाप्त कर देना है। नाटक के दृश्य ऐसी मौज़ूनियत के साथ सेट किए गए हैं कि नाटक जो दृश्य काव्य कहलाता है, सचमुच दर्शनीय बन गया है। धारा-प्रवाह की नांई एक के बाद एक दृश्य स्वाभाविक शोभा के साथ उतरता चला जाता है। हास्य, वीरता, शृंगार, करुणा आदि विविध रसों के दृश्य एक दूसरे से संपर्क होकर बहुरंगे पुष्पों की माला के समान सुशोभित हो रहे हैं। और भाषा भी प्रत्येक अवसर पर ऐसी चुनी हुई आयी है कि हृदय पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए शृंगार के दृश्य का एक शेर देखिए-

वह इन आँखों में आ बैठें कि जिन पर हैं लगी आँखें।
तरीक़ा यह कहाँ का है जो आकर बंद की आँखें।।

इसके जवाब का शेर भी मुलाहज़ा हो-

न फिर देखें किसी को एक की जब हो चुकी आँखें।
मुक़ाबिल आइना देखा तो हमने बंद की आँखें।।

ग़रज़ कि जिस दृश्य ने, जिस घटना ने, जैसी भाषा मांगी है वैसी ही भाषा वहाँ प्रयुक्त की गयी है। इस प्रकार यह नाटक सर्वांग सुन्दर हुआ है। और इसके लेखक पंडित राधेश्यामजी कथावाचक नाटक प्रेमियों के और विशेषत: उर्दू नाटक प्रेमियों के धन्यवाद के पात्र हैं। संभव है कि किसी बारीकवीं मुंशी को इसमें कुछ दोष भी कहीं न कहीं दृष्टिगोचर हो जाये। पर दोषों का होना अनुचित भी क्या है? दोष जब विधाता की

सृष्टि में मौजूद हैं तो कवि की सृष्टि क्यों अछूती रहेगी? ''जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह कर्त्तार'' वाली उक्ति आखिर कुछ निस्सार थोड़े ही हे। पर बात यह है कि दोष यदि थोड़े हों और गुण बहुत, तो दोषों का कोई महत्त्व नहीं रहता। कवि कुलगुरु कालिदास ने कहा है–

''एको हि दोषो गुण-सन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणोष्विवांक''

भगवान करे पंडित राधेश्यामजी के द्वारा उत्तरोत्तर चमत्कारपूर्ण नाटकों की भविष्य में इसी प्रकार रचना होती रहे। इति शम्।

द्वारिका प्रसाद बी.ए.

श्रवण कुमार नाटक : जीवनमूल्यों की तलाश

श्रवण कुमार ने इस सातवें सप्तकरण का प्रकाशन चित्त को खिन्न करने वाली घटना से सम्बन्ध रखता है। श्रीसूरविजय नाटक समाज जिसमें यह नाटक खेला जाता था, कुछ प्रतिकर परिस्थितियों के कारण, अकाल हो में काल का ग्रास हो गया। मित्रों और शुभषिकों की चेष्टाओं पर भी उसका काम चलता न हो सका। ऐसी स्थिति में मुझे यह चिन्ता हुई कि बालकों और युवकों को माता-पिता को महिमा और महत्व को शिक्षा देने वाले श्रवणकुमार नाटक का अभिनय भी कहीं सदैव के लिए न रुक जाय अतएव मैंने उद्योग करके इस नाटक को 'न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी ऑफ बम्बई' के स्टेज पर पहुँचा दिया यह छपी हुई पुस्तक न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के स्टेज पर ही खिलने वाली चीज हैं।

सम्भव है कि श्रीसूरविजय नाटक समाज के श्रवणकुमार और प्रस्तक 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' के श्रवणकुमार में पाठकों को कहीं कुछ हेर-फेर नजर आए कारण कि न्यू अल्फ्रेड कम्पनी में स्टेज कराते समय मैंने इस नाटक पर एक सरसरी नजर डाली भी परन्तु उस हेर-फेर से नाटक की उपयोगिता में किसी भी प्रकार की कोई तुष्टि नहीं आई है।

श्रीसूरविजय नाटक समाज का नाम शेष हो जाने का जहाँ विषाद है। वहाँ इस बात का थोड़ा सा हर्ष भी है कि पाठकों का चिरपरिचित श्रवणकुमार अब भी उनके पवित्र विनोद के लिए प्रस्तुत है। कथावाचक ने श्रवण कुमार नाटक टेहरी नरेश 'नरेन्द्र शाह बहादुर' को समर्पित किया था। वसन्त पंचमी सम्वत 1916 के निवेदन के साथ श्रावण सम्वत 1987 (सातवें संस्करण) का वक्तव्य नाटक को समझने में महत्वपूर्ण है। श्रवण कुमार की समीक्षावतौर भूमिका सर्वप्रथम द्वारिका प्रसाद वी.ए. ने लिखी थी। आपकी रचनाएं भ्रमर में समय-समय पर प्रकाशित हो रही हैं। भूमिका से आलोचना की शुरू हुई नाट्य यात्रा श्रवणकुमार नाटक को समझने में महत्वपूर्ण है।

आज तीन या चार वर्ष हुए देहली में मैं कथा बांच रहा था। उन्हीं दिनों 'श्रीसूरविजय नाटक समाज' के मालिक श्रीयुतलजली त्रिवेदी व दुर्लभरामजी रावत मुझसे मिलने आये। लजली सेठ के सच्चे प्रेम-भाव ने और दुर्लभराम रावत के सच्चे आग्रह ने मुझे मजबूर किया कि नाटक लिखूँ।

इस नाटक का प्लाट दुर्लभरामजी स्वयं तथा अपने गुजराती कवि श्रीयुत गणिपतिरामजी पण्डित की सहायता से कुछ तैयार किया था। उक्त पण्डितजी गुजरात के विद्वान अवश्य थे, परन्तु 'देहली वालों की तरह उर्दू-हिन्दी मिश्रित' भाषा लिखने में जरा सकुचाते थे। इस कारण इसके लिखने का भार मुझ पर डाला गया। मुझ पर समय कम था, इसलिए १४ दिन में जैसे-तैसे मैंने इसको पूर्ण किया। वहीं आज आपके सम्मुख उपस्थित हैं।

सौभाग्य से इस नाटक को उक्त नाटक समाज के रंग-मंच पर आशातीत सफलता प्राप्त हुई। इसके द्वारा कम्पनी ने अच्छा यशोजन और धनार्जन किया। शायद इसलिए कम्पनी में मालिकों ने इसे प्रकाशित करने तथा बेचने का अधिकार जो मैंने कम्पनी को दे चुका था-मुझे या मेरे राधेश्याम पुस्तकालय को दे दिया है, जिसके लिए मैं उनका अनुग्रहित हूँ।

इस नाटक के एक दृश्य का कुछ भाग रामायण के इतिहास का है शेष काल्पनिक हैं। नाटककार का नाटक लिखते समय कल्पना के बिना पूरा मुश्किल से होता है। कथानक चाहें ऐतिहासिक हो या काल्पनिक नाटक के मंच पर उसकी सृष्टि इसीलिए है कि उसके द्वारा करने का यत्न इस नाटक में किया गया है।

एक दोष इसमें अवश्य रह गया है, जिसका अब सुधार होना असंभव है। अर्थात् (ट्रेजिक) और (कोमिक) (करैक्टर्स) का जो सम्बन्ध इसमें मिला दिया गया है वह भद्दा सा जान पड़ता है यद्यपि कॉपी को प्रेस में भेजते समय जहाँ-जहाँ चेतनदास बाबा 'सटक सीताराम' कहते थे। वहाँ-वहाँ मैंने सटक नारायण बना दिया है किन्तु इतने पर भी मुझे संतोष नहीं है। यदि बदलता हूँ तो सारा फिर लिखना पड़ेगा और नाटक इसी रूप में कोई तीन या चार वर्ष स्टेज पर खेला जा चुका है। अतएव अब बिध गहौ सो जी और रह गया सो पत्थर।

यमुना, विश्वनाथ, बदरीनारायण आदि का मानव रूप में प्रकट हुए तथा भगवान शंकर का वशिष्ठ और दशरथ को स्वर्ग की सैर कराना पौराणिक विचार दृष्टि से असंभव नहीं है।

अब मैं अपने मित्र श्रीयुत दुर्लभरामजी तथा गणपतिरामजी को धन्यवाद देता हुआ, एक बात और कहकर इस निकेतन की समालोचना करता हूँ। वह बात है कि शीघ्रता और सरसरी में लिखे जाने के कारण यदि इस नाटक में त्रुटियाँ रह गई हों तो उसे पाठक समालोचक क्षमा करें। सूचना आने पर भविष्य में त्रुटियाँ दूर कर दी जायेंगी।

हम क्या हमारी लेखनी में समर्थ है।
अपनाऊ तो सब कुछ है नहीं सब ही व्यर्थ है।।

(राधेश्याम; वसन्त पंचमी : संवत् 1916)

श्रीसूरविजय नाटक समाज ने अपने मंच पर धार्मिक और सामाजिक नाटक तो जनता के सामने वैसे कई पेश किए हैं परन्तु उन सबसे अधिक रोचक और लोकप्रिय 'श्रवणकुमार' नाम का नाटक हुआ है। आज हमें सही नाटक को संक्षिप्त आलोचना करनी है।

इस नाटक के लेखक बरेली निवासी पण्डित राधेश्यामजी कविरत्न हैं। लेखक ने अपने इस नाटक का सामान्य उद्देश्य अपने ही 'संक्षिप्त निवेदन' में बता दिया है, अर्थात् यह जिससे शिक्षा प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना वाले प्रारम्भिक दृश्यों में विशेष उद्देश्य भी नट के मुख से इस प्रकार कहला दिया है–

पड़के कुसंगति में करे अपमान जो माँ बाप का।
मुंह देखने पत्नी का छड़ा ध्यान जो माँ बाप का।।
उनको बताना है हमें संतान का क्या कर्म।
कर्त्तव्य पत्नी का है क्या और पुत्र का क्या धर्म है।।

इस उद्देश्य में लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है वह हम आगे चलकर देखेंगे। उससे पहले इस जगह पर कुछ शब्द हमें सर्वसाधारण को सेवा में निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होते हैं।

इस समय तक कितने ही ड्रामे अनेक कम्पनियों के द्वारा जनता के सामने पेश किए जा चुके हैं। इस नाटक कम्पनियों ने पर्दे, सीनरी और पोशाकों को बड़ी-बड़ी लड़क-तड़क दिखाकर आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी, बढ़िया साज के साथ चुहकुह तर्ज (थिएट्रिकल सोग्य) द्वारा रसीली मीठी गंजारों से गुंजार दिया, और सौन्दर्य भरे कथानक को लेकर मनचले पात्रों ने अपनी भावभगी से दर्शकों पर मोहनी डाल दी। यह सब कुछ हुआ, परन्तु सारी बातों ने देश को सुधार और उन्नति के मार्ग पर एक इंच भी आगे न बढ़ाया। बढ़ाना क्या उल्टा पीछे हटा दिया। साथ ही पब्लिक की जेब और दिल-दिमाग भी खाली कर दिये।

तह स्वभाविक बात है कि मनुष्य का मन चंचल है और मजेदार ढंग से समाने आने वाली बुरी बातें अच्छी बातों की अपेक्षा उस पर जल्दी और गहरा असर डालती है। इसलिए इन कम्पनियों की कुछ समय तक अच्छी तूती बोली परन्तु प्रकृति के विधान के अनुसार समय समय पलटा और उत्तम विचारों के शिक्षाप्रद नाटकों ने कम्पनियों की जबरदस्त जहरीली लहर को पलट दिया। प्रस्तुत नाटक श्रवणकुमार इसी प्रकार के नाटकों में से एक है। इसीलिए हम इसके लेखक को देश के प्रति बधाई दिये बिना नहीं रह सकते।

ऐसे नाटक के कथानक को धार्मिक और ऐतिहासिक पुस्तक लेना परमावश्यक था। इस कारण लेखन ने इस नाटक का मुख्य प्लाट उस पवित्र पुस्तक से लिया है जो आज के दिनों संसार की लाइब्रेरी में सबसे उत्तम पुस्तक मानी जाती है, और जिसके आधार पर केवल भारतवासियों ने ही नहीं, वरन पुरुष और अमेरिका के अनेक गद्य-पद्य लेखकों ने महत्व की पुस्तकें लिखीं हैं।

इस पुस्तक से हमारा इशारा रामायण की तरफ है जिसमें माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष, शत्रु-मित्र, राजा-प्रजा आपके धर्म और व्यवहार संबंधी उच्चकोटि के ऐतिहासिक आदर्श मौजूद है।

सम्पूर्ण नाटक पर विचार की दृष्टि डालते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना रह सकते कि जिन सामान्य और विशेष उद्देश्यों का लक्ष्य करके यह नाटक लिखा गया है वे उच्चे कोटि के हैं। और लेखक को उनकी पूर्ति में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। विशेष उद्देश्य की पूर्ति तो नायिक और नायिका चरित्र-चित्रण में हो जाती है और

सामान्य उद्देश्य की पूर्ति अन्यथा पक्षों के (करैक्टर्स) में मिलती है इन दोनों उद्देश्या पूर्तियों के ढंग को अब जरा पृथक-पृथक देखना चाहिए।

नाटक का नायक श्रवणकुमार बड़े उत्कृण्ठ चरित्र का युवक है, बल्कि यों कहना कि इस नाटक की जान है। आदि से लेकर अन्त तक उसका जीवन सच्चाई और पवित्रता से भरा हुआ है। वह दृढ़ता के साथ कष्ट सहने वाला माता-पिता का सच्चा सेवक और उपासक है। बढ़े और माता-पिता ज्ञानवती और शान्त्वन को कावर में बिठाकर उस कावर को कंधों पर लेकर पैदल ही दूर-दूर के तीर्थ कराना ऐसा कठिन और दुसाध्य कार्य है जो आजकल के सुकुमार और कोमलता के युग में एक असंभव सी घटना जान पड़ती है। विस्तार बढ़े जाने के भय पर भी श्रवण के कुछ थोड़े से उन वाक्यों का जो उकने सच्चे और वास्तविक चरित्र पर प्रकाश डालते हैं नीचे उद्धृत करना समुचित मालूम होता है-

१. यही है सबसे ऊँचा ज्ञान मात-पिता ही है भगवान।
(अंक १, दृश्य १ माता-पिता की भक्ति)

२. अगर इस खाल के जूते बने तो खाल हाजिर है।
अगर इस आँख का सुर्मा बने तो आँख शाखिर हैं।।
(अंक २, दृश्य ४ निष्ठा)

३. सूरज चाहे आकाश से पृथ्वी पर उतर आये... इत्यादि।
(अंक १, दृश्य ७ दृढ़ता)

४. जानी हैं पुराण और शास्त्र की कथा अनेक-इत्यादि।
(अंक ५, दृश्य ७ अविचल पितृ-भक्ति)

परन्तु इन सबसे अधिक प्रभावपूर्ण और जोरदार श्रवण की मृत्यु के समय की लालसा है-

मैं जहाँ जाऊँ वहाँ सेवा करूँ माँ-बाप की और फिर जब स्वर्ग में जो उठता है तब भी यही पुकार है माता-पिता माता-पिता। इससे बढ़कर माता-पिता की सेवा अथवा भक्ति और क्या हो सकती है? ऐसी अन्य भक्ति और अनुरक्ति का स्वाभाविक फल इस लोक में वश और परलोक में स्वर्ग का आनन्द होता है।

श्रवण कुमार माता-पिता की सेवा का जितना ख्याल रखना है उतनी ही उनकी स्त्री विद्यावती सास ससुर की सेवा का अपूर्व भाव दिखलाती है। स्त्री का अपने पित की सेवा का सच्चा भाव दिखाना तो एक सामान्य कर्त्तव्य है किन्तु सास ससुर की सेवा का भागी। जैसा कि नाटक की नायिका बिजावती के निम्नलिखित वाक्यों से व्यंजित होता हैं वास्तव में प्रशंसनीय और स्त्रीमात्र के लिए उपदेश है।

१. दिखलाऊँगी मैं होती हैं ऐसी युवतियाँ...

२. स्वामी के भी स्वामी हैं पति के भी पति हैं...
अंक १, दृश्य ४

इसी माता-पिता की भक्ति का उल्टा नमूना नये फैशन के साथ चम्पक लाल और उसकी बीवी चमेली है। यह दोनों की चम्पक लाल के माता-पिता (भानुशंकर और लक्ष्मी) से जरा बुरा व्यवहार करते और वे सामान उन्हें घर से निकाल देते हैं और फिर इस नीच काम का जैसा परिणाम वे आगे चलकर भोगते हैं वह आजकल के उन युवकों को जिनका विवाह किसी फैशनेबिल लेडीज से बना हुआ है विशेष रूप से शिक्षाप्रद है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-छोटे पात्र हैं जो इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालते हैं

अब हम नाटक के सामान्य उद्देश्य पर विचार करते हुए यह देखते हैं कि समाज की ओर क्या-क्या शिक्षायें इस नाटक से प्राप्त हो सकती है।

१. इस विषय में सबसे पहले हम ये बातें समझते हैं जिन पर आजकल देश के प्रचण्ड आंदोलन हो रहा है अर्थात् राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध। इस राजा प्रजा के सम्बन्ध के विषय पर महाराज दशरथ का उदार चरित्र बड़ा निर्मल और स्वच्छ प्रकाश डालता है, और प्रत्येक शासक को शिक्षक की नाई कुछ बातें जतलाता है।

(अ) प्रजा है जबकि राजा से तो राजा भी प्रजा से है। प्रजा का राजा को पिता के समान और राजा का प्रजा को अपनी सन्तान के समान मानना जंगली जानवरों का शिकार केवल प्रजा की रक्षा के लिए उचित समझना।

(ब) किसी अच्छे काम करने वाले महापुरुष की सहायता के लिए अपनी शक्ति और

रुपया उसके अर्पण करना फिर चाहे वह श्रवणकुमार की तरह बिना राज सहायता के लिए अपने ही बल पर काम करें।

(स) अगर कोई अपराध हो जाय तो उसे छिपाने की चेष्टा न करना बल्कि सच्चाई के साथ उसे स्वीकार करना।

२. दूसरी बात सर्वसाधारण के मतलब की है। अर्थात् स्त्री-पुरुष का परस्पर व्यवहार, जिस पर सारे देश की उन्नति निर्भर है।

नाटक की नायिका विद्यादेवी एक आदर्श देवी है। जो बतलाती है कि आज्ञा में पति की चाले यह नारी का कम शिक्षा देव नारी को यह नर का धर्म। इसके अतिरिक्त स्त्री को दिया नम्रता आदि गुण भी आवश्यक बतलाये गये है, मगर यह याद रहे कि देश में जहाँ विद्या देवी पतिव्रता स्त्री का जिसके सतीत्व धर्म को चम्पक लाल जैसा व्यक्ति नष्ट न कर सका। जरूरत है तो वहाँ यह भी जरूरत है कि पुरुष भी श्रवणकुमार के समान पक्के नारीव्रत धर्म का पालन करने वाले ही इस विषय में भी नाटक में ऐसे में बिल्कुल उल्टा नमूना बाबा चेतनदास और चमेली दिखलाए गए हैं। इन पतिन पापियों का अन्त में (नरक वाले दृश्य में) जो परिणाम दिखाया गया है वह जितना लोमहर्ष का है उतना ही शिक्षा देने वाला है। चमेली को उसके पति चम्पक लाल से जैसा कि आजकल रिवाज है फैशनेबिल लेडी बनाया इसका जो खेदजनक परिणाम हुआ, वह लेखक ने खूब दिखलाया है। इतने पर भी जो नवयुवक फैशन के अन्धे भक्त बने रहेंगे, तो उनका सब यह सुनना पड़ेगा-

अब देख अपनी मौज उड़ाने का नतीजा।
जोरू को मजेदार बनाने का नतीजा।।

३. तीसरी बात जिस पर इस नाटक में प्रकाश डाला है वह अच्छी और संगति का प्रभाव है। वास्तव में इस संगति-विषयक शिक्षा के आजकल बड़ी आवश्यकता है। यहाँ पर शिक्षा का मतलब आजकल के स्कूल और कॉलेजों में नाम लिखा लेना, या कुछ गिनती की किताबें पढ़ लेना या किसी भाषा में गणित, भूगोल आदि पढ़ लेना या किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त कर लेना नहीं है, बल्कि अच्छी और बुरी संगति के द्वारा होने वाले अच्छे-बुरे परिणाम को

ठीक-ठीक पहचान और सम्पर्क ज्ञान प्राप्त करने लायक योग्यता का जाना है, किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेने पर मनुष्यों में अपने आप को खोटे मार्ग से बचकर शुद्ध दृढ़ और धार्मिक बनने की सामर्थ्य आ जाती है। इसमें संदेह नहीं कि आज के बिगड़ने और सुधरने की संगति से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। देखिये न हमारे नाटक का नायिका का भाई नन्दूशंकर एक पवित्र आत्मा है किन्तु वही पवित्र आत्मा वाला युवक तास्तिक चम्पकलाल के बहकाने में आकर, झूठ बोलने का पाप करके (माँ को बीमारी का बहाना बताकर) विद्यादेवी को अपने साथ बुलाकर लाता है। इसी तरह उसकी माता भी अपनी बहू और उसकी सखियों के कुसंग में पड़कर उनके कहने से नाचने लग जाता है, लेकिन उसी समय जब विद्यादेवी वहाँ पहुँचकर माँ को रोगशय्या पर पड़ी देखने के बदले नाचते हुए देखती है तो कुसंग के कारण रचे हुए नन्दूशंकर का षड़यंत्र की कलई खुल जाती है। और अन्त में विद्यादेवी के सत्संग और सही उपदेश से दोनों पति-पत्नी सही मार्ग पर आ जाते हैं इसी तरह हास्य के दृश्यों में देखिए कि बिचारे बेवरदीप के नाबालिक लड़के रामजी दास पर बाबा चेतनदास कुसंग का रंग ऐसा चढ़ता है कि रामजी दास को अपने बाप की भी बात सुनना नागवार है। बस गुरु बाबा की ही भक्ति उसके हृदय में है।

नटक को नायिका विद्यादेवी का जो उज्जवल और निर्मल चरित्र है वह अधिकतर श्रवणकुमार की सत्संगत का प्रभाव है।

इन तीन लाभदायक विषयों के अतिरिक्त कुछ और भी उपयोगी शिक्षा देने वाली बातों पर नजर डालना आवश्यक है लेखक ने बताया कि जहरीले गीतों ने और मुस्टे पन्डों के हथकन्डों से होशियार रहने की जरूरत है। नाटक की नायिका विद्यादेवी ने अपना माँ के सामने कितनी खूबसूरती के साथ बतलाया है कि गाने व होने चाहिए जो उपदेश से भरे हों न कि गन्दे शृंगार रस में सने हुए यमुना नदी के तट पर पण्डों के जमघट का दृश्य सुधार की इच्छा लेखक ने दिखाया है और बाबा चेतनदास का मन्दिर तथा आदि में अन्त तक उस दुराचारी साधु का चरित्र विशेषत: स्त्रियों की आँख खोलने के लिए है। ऐसे साधुओं की रोकथाम के लिये लेखक ने कानूनों कौसलिों से अपील भी की है हमें आशा है कि लेखक की यह अपील निष्फल न जायेगी।

सारे नाटक का समष्टिरूप से विचार करते हुए हम इसे पवित्र नाटकीय साहित्य में एक ऊँचा स्थान देने को तैयार है। नाटक के सभी पात्र अच्छे चरित्र वाले हैं और जिनका चरित्र गिरा हुआ है प्राय: वे भी आगे चलकर तीसरे अंक में बड़ी सुधारता के साथ बदल कर उच्च कोटि के धार्मिक चरित्र वाले बन गये हैं। नाटकीय ढंग के प्रास और अनुप्रासान्त वाक्य तो सभी जगह भरे पड़े हैं। शृंगार रस के भी एक दो दृश्य बतौर चटनी के रख दिये गये हैं।

दर्शकों के चित्त पर गहरा प्रभाव डालने वाले दृश्य भी कई हैं। इसमें से विशेष रूप से उल्लेख योग्य पहले अंक में माँ की ममता का दृश्य है, जिसमें लक्ष्मी अपने पति के साथ अपने बेटे चम्पक लाल के घर से निकलती है। बल्कि यों कहिये कि निकाली जाती है उस समय का उसका यह वाक्य...

''न लोटा दे न थाली दे मगर इतना तो दे बेटा।

तू यह कह दे मेरी माता मैं यह कह दूँ मेरा बेटा, हृदय को भी धड़काता है।।।''

अन्तिम अंक में श्रवणकुमार की मृत्यु वाला दृश्य भी आँखों से आँसू टपकने वाला है और मध्य के दृश्य में चम्पक और चमेली का लड़-झगड़ कर एक दूसरे से सम्बन्ध तोड़ने वाला दृश्य संसार की स्वार्थ परायणता का नमूना इतनी स्पष्टता के साथ सम्मुख ले आता है कि सच्ची और निर्मल प्रकृति वाले व्यक्ति के चित्त में वैसे देखकर समुचे बैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त लेखक ने और भी ऐसी खूबियाँ दिखाकर नाटक को सुपाठ्य और भी रोचक बनाया है, जिसमें वस्तुत: विवरण देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती।

विषय का विस्तार बहुत हो चुका है इसलिए और बातों को कर अन्त में इस ड्रामे की तस्वीर का दूसरा पहलू भी देखना उचित है। इस नाटक में भारतवर्ष के अतीत कालीन इतिहास या चित्र खींचकर जनता के सम्मुख उपस्थित करने की चेष्टा की गई है, किन्तु ड्रामे को अधिक मनोरंजक बनाने के लिए ऐसी बातों का समावेश भी कहीं-कहीं किया गया है जो ऐतिहासिक नहीं है इतिहास से बाहर की बातों की यह मिलावट कहीं-कहीं ऐसी है जिसका समय श्रवणकुमार का जीवन काल (रामायण से पहले का समय) तो नहीं हाँ आजकल का जमाना तो जाना जा सकता है। नाटक

को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वालों की नजरों में यह त्रुटि इस नाटक में जरूर खटक सकती हैं।

किन्तु यह बात ध्यान में रखकर कि ड्रामा लिखने वाले को नाटक के मुख्य प्लॉट की उत्तमता सर्वसाधारण में से अधिकांश जन समुदाय को मनोरंजकता गद्य की प्रौढ़ता और पद्य की मधुरता देश की विविध प्रकार का उपादेय शिक्षा तथा पात्रों की चरित्रता कृष्टता इत्यादि सैकड़ों बातों का ध्यान रखना पड़ता है जो कि सामान्य रीति का गद्य-पद्य मय पुस्तकों के लिखने में नहीं होता। हम कह सकते हैं कि लेखक ने कवि-स्वतंत्र की सीमा का उल्लंघन नहीं किया है।

उपसंहार में हम लेखक को एक बार फिर सर्वसाधारण की ओर से बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि जनता इस नाटक से वास्तविक लाभ उठायेगी। केवल नाटकीय साहित्य में ही नहीं, हिन्दी साहित्य के ग्रंथों में भी इस नाटक को योग्य स्थान मिलना चाहिए।

लक्ष्मीनारायण लाल

पारसी थियेटर और राधेश्याम कथावाचक

पारसी थियेटर की नाट्यप्रकृति और प्रदर्शनपद्धति के परिदृश्य में हम इसके तीन निश्चित विकास चरण पाते हैं–

प्रथम चरण : 1853 ई. से 1900 ई. तक (उद्भव काल)

द्वितीय चरण : 1901 ई. से 1917 ई. तक (विकास काल)

तृतीय चरण : 1918 ई. से 1938 ई. तक (उत्कर्ष काल)

प्रथम चरण (उद्भव काल)

पारसी थियेटर का श्रीगणेश जिस पहली कंपनी में हुआ था, उसका नाम था 'हिन्दू ड्रोमेटिक कोर' और इसके तत्त्वावधान में नौ मार्च अठारह सौ तिरपन को जो पहला ड्रामा खेला गया, वह था मराठी ड्रामा। फिर खेले गए गुजराती ड्रामे और छब्बीस नवंबर को पहला हिन्दुस्तानी ड्रामा 'राजा गोपीचंदर' खेला गया। यह नाटक शेरोशायरी से लबालब कुछ 'ओपेरा' जैसा था और इस तरह के नाटक उद्भव काल के इन प्रारंभिक वर्षों में लगातार खेले जाते रहे हैं। इसका कारण यह था कि हिन्दुस्तानी दर्शक-जो अब तक मूलतः 'लीला', 'स्वाँग', 'भगत', 'नौटंकी', 'तमाशा' आदि नाट्य परंपराओं के भीतर से आया था, उसे उसी के ही मनोरंजन स्तर से अपनी एक नई दुनिया में खींच लाना पारसी कंपनियों का परम उद्देश्य था।

इस उद्भव काल के साथ ही नए-नए रोमांचक कथावस्तुओं तथा 'इश्क' और 'जंग' के वस्तुविषयों पर आधारित पारसी नाटकों के उद्भव प्रारंभ हुए। इस प्रारंभिक चरण में ध्यान देने की बात यह है कि ये नाटक किसी न किसी उस काल की अंग्रेजी कंपनी या क्लब की ही मदद से खेले गए थे। निर्देशक से लेकर पेंटर और 'मेकअपमैन' तक सब अंग्रेज ही थे। केवल नाटककार (मुंशी) और अभिनेता

(मुसलमान, पारसी, मराठी) हिन्दुस्तानी होते थे। अर्थात् इस चरण का सारा रंगशिल्प और प्रस्तुतीकरण विधि विदेशी थी। यह उद्‌भव काल अनेक महत्वपूर्ण कंपनियों के जन्म का काल है :

बंबई में पूर्ण व्यवस्था के साथ पहली व्यावसायिक नाटक कंपनी पेस्टनजी फ्रामजी की 'ओरिजनल कंपनी' (1870 ई.) थी। इस कंपनी के सभी अभिनेता पारसी थे, जिनमें खरशेदजी बल्लीवाला, कासनजी खटाऊ, सोहराबजी तथा जहाँगीरजी विशेष उल्लेखनीय हैं। महमूद मियाँ 'रौनक' बनारसी इस कंपनी के नाटककार (मुंशी) थे। 'इंसाफें महमूद' इनका सबसे प्रसिद्ध नाटक है।

सन् 1877 ई. में खरशेदजी बल्लीवाला ने दिल्ली में अपनी नई कंपनी खोली- 'विक्टोरिया थिएट्रिकल कंपनी' के नाम से। इस कंपनी के प्रमुख अभिनेता स्वयं बल्लीवाला तथा रुस्तमजी थे। इनके अतिरिक्त मिस खुरशीद और मिस मेहताब तथा एक अंग्रेज महिला 'मेरी फैंटन' भी इस कंपनी में काम करती थी। खुरशेदजी बल्लीवाला हास्य अभिनेता के रूप में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इस कंपनी के प्रमुख नाटककार मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' थे। 'लेलो निहार', 'दिलेर दिलशेर' आदि उर्दू नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने 'विक्रमविलास', 'गोपीचंद', 'हरिश्चंद्र' आदि प्रसिद्ध हिन्दुस्तानी नाटक भी लिखे।

सन् 1877 ई. के लगभग कावसजी खटाऊ ने 'एल्फ्रेड थिऐट्रिकल कंपनी' स्थापित की। कावसजी कलापूर्ण अभिनय के लिये इतने प्रसिद्ध थे कि इन्हें 'इरविंग' (इंग्लैंडका परम विख्यात अभिनेता)की उपाधि दी गई थी और इन्हें 'इरविंग हिन्दुस्तानी' के नाम से जाना जाता था। अल्फ्रेड कंपनी के प्रमुख नाटककारों में मेंहदी हसन 'अहसान' और नारायण प्रसाद 'बेताब' परम उल्लेखनीय हैं। इन कंपनियों ने उर्दू हिन्दी नाटकों के साथ-साथ अंग्रेजी से अनुवादित नाटकों को भी खेला।

द्वितीय चरण (विकासकाल)

इस काल तक आते-आते पारसी नाटक और रंगमंच ने हिन्दुस्तान की जमीन को मजबूती से पकड़ लिया। रंगशिल्प और प्रस्तुतीकरण विधान अंग्रेजों से स्वतंत्र हो हिन्दुस्तानियों द्वारा ही संपन्न होने लगा।

कथावस्तु और वर्ण्य विषय के स्तर से (अ) पौराणिक ऐतिहासिक तथा (ब) सामाजिक नाटकों की स्वतंत्र रंगमंचीय धारा इस चरण में प्रवाहित हुई।

इस चरण विशेष में कोई ऐसी नई नाटक कंपनी नहीं खुली, जिसका नामोल्लेख किया जा सके। विशेषकर वही अल्फ्रेड कंपनी ही सन् 1914 तक निरंतर चलती रही और तभी कावसजी खटाऊ की मृत्यु (1914) के बाद इस चरण का अंत मान लेना चाहिए। 1914 से 1917 तक इन तीन वर्षों में पारसी नाटक और रंगमंच क्षेत्र में विषयवस्तु और संरचना में परिवर्तन और एक नया-उत्कर्ष और एक नया वातावरण उपस्थित होने में अनेक घात प्रतिघात और नूतन प्रभाव इकट्ठे होते रहे। ये वर्ष एक ओर प्रथम महायुद्ध के थे, क्या दूसरी ओर राष्ट्रीय चेतना और आर्यसमाज के कार्यों तथा उद्‌बोधनों से सांस्कृतिक गौरव तथा अतीत के महापुरुषों, योद्धाओं, त्यागियों, प्रेमियों की चरित्रकथाओं के स्मरण का भी यह समय था। सारे वातावरण में एक ओर राष्ट्रीय संघर्ष का तनाव था तथा दूसरी ओर औपनिवेश स्वराज्य पाने के स्वप्न थे। इन स्वप्नों में अपने उसी स्वर्णिम अतीत और गौरवपूर्ण संस्कृति को फिर से प्राप्त करने की आकुलता थी।

तृतीय चरण (उत्कर्ष काल)

हिन्दीभाषी जनमानस और लोकचेतना में उठती हुई राष्ट्रीय आकुलता, नए जीवन के स्वप्नों में पैदा होती हुई भावुकता, और उस जमाने की हवा में मौजूद एक अजब तरह की रोमानियत इसी में से पारसी नाटक रंगमंच का श्रेष्ठतम अंश पैदा हुआ, जिससे इस धारा का उत्कर्ष (अंतिम चरण) सामने आया।

(अ) नाट्यलेखन और

(ब) रंगमंच (कंपनियां)

इन दोनों स्तरों से सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ इसी चरण की हैं प्रथम चरण में भी ज्यादा महत्वपूर्ण नाट्य कंपनियों इसी काल की देन हैं।

द्वितीय चरण की सर्वाधिक प्रसिद्ध कंपनी 'अल्फ्रेड थिएट्रिकल' की समाप्ति के बाद, इसी की बृहत्तर परंपरा में 'न्यू अल्फ्रेड कंपनी' की स्थापना हुई। इसी कंपनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर थे सोहराबजी, जो इस काल के एक प्रसिद्ध अभिनेता हुए। इसी

कंपनी के माध्यम से नारायण प्रसाद 'बेताब' के बाद पारसी रंगमंच के वे दो प्रतिनिधि नाटककार–आगा हश्र तथा राधेश्याम कथावाचक उदित हुए जो आगे चलकर इस पूरे उत्कर्ष काल भर में छाए रहें, बल्कि इन्हीं के व्यक्तित्व से यह उत्कर्ष संभव हुआ।

'न्यू अल्फ्रेड कंपनी' के प्रभाव और इसके नाटकों की इतनी लोकप्रियता के फलस्वरूप इस चरण में अनेक नाटक कंपनियाँ खुलीं। स्वयं आगा हश्र ने 'शेक्सपियर थिएट्रिकल कंपनी' खोली और भारतवर्ष के कोने-कोने में जैसे खुलतीं गयी। लाहौर में खुलीं 'ओल्ड पारसी थिएट्रिकल कंपनी', दिल्ली में 'जुबली थिएट्रिकल कंपनी' और 'लाइटनिंग ऑफ इंडिया कंपनी', इंपीरियल थिएट्रिकल कंपनी, 'अलेक्जैंड्रिया कंपनी' तथा इस चरण की अंतिम प्रसिद्ध कंपनी कलकत्ते का 'कोरंथियन थिएटर'।

उपर्युक्त व्यवसायी थिएट्रिकल कंपनियों के अतिरिक्त दो और भी व्यवसायी कंपनियाँ उल्लेखनीय हैं। काठियावाड़ की 'श्री सूरविजय कंपनी' तथा मेरठ की व्याकुल भारत कंपनी।

इन दोनों कंपनियों के उल्लेख इसलिये भी महत्वपूर्ण हैं कि ये कंपनियाँ पारसी थियेटर के भद्देपन, अश्लीलता के विरोध में, तथा जनता में पारसी नाटकों के प्रभाव से बढ़ती हुई कुरुचि को परिष्कृत तथा परिमार्जित करने के उद्देश्य से खोली गई थीं। इन कंपनियों ने तभी एक नई नाट्यधारा को जन्म देना चाहा। इन्होंने केवल हिन्दी नाटकों को ही महत्व दिया और उन्हें सादर अपने रंगमंच में स्थान दिया। 'श्रीसूरविजय कंपनी' ने राधेश्याम के प्रसिद्ध नाटक 'उषा अनिरुद्ध' के प्रदर्शनों से ख्याति अर्जित की। 'व्याकुल भारत कंपनी' ने अपने संस्थापक विश्वंभरनाथ 'व्याकुल' के प्रसिद्ध नाटक 'बुद्धदेव' तथा जनेश्वर प्रसाद 'घायल' के 'सम्राट चंद्रगुप्त' की प्रस्तुतियों से पर्याप्त यश कमाया।

नाट्यसाहित्य

इस चरण की इतनी नाटक कंपनियों के अस्तित्व का अर्थ यह है कि कितने नाटकों की अपेक्षा इस काल में हुई होती। लाहौर सियालकोट से लेकर दिल्ली, पटना और कलकत्ता एक ओर, बंबई अहमदाबाद सूरत से लेकर हैदराबाद तक दूसरी

ओर-इस विशाल हिन्दीभाषी क्षेत्र के प्रत्येक नगर, केन्द्र तथा मेलों, प्रदर्शनियों में एक साथ कितने नाटक खेले जाते थे।

स्पष्ट है, इस काल का नाट्यसाहित्य अपार रहा है। 'बेताब', 'आगा हश्र', 'राधेश्याम' के अतिरिक्त इस काल के अन्य उल्लेखनीय नाटककार हैं-'कृष्णचंद्र', 'जेबा', 'मेंहदी हसन', 'एहसान', 'अहसान लखनवी', 'आरजू', 'ज्वाला प्रसाद वर्क', 'तालिब बनारसी', 'हुसैनी मियाँ जरेफ' और 'हाफिज मुहम्मद'।

आश्चर्य न होना चाहिए, इन नाटककारों में अनेक ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने तीस से लेकर साठ तक संपूर्ण नाटक लिखे हैं। उदाहरण के लिये आगा हश्र ने कुल इकतीस ड्रामें, 'बेताब' ने इक्कीस ड्रामें, आरजू लखनवी ने दस ड्रामें, हाफिज मुहम्मद ने साठ ड्रामें, हुसैनी मियाँ जरेफ ने पच्चीस ड्रामें लिखे।

प्रतिनिधि नाटककार

उत्कर्षकाल अथवा वास्तविक पारसी रंगमंच के प्रतिनिधि नाटककार हैं क्रमशः

१. नारायण प्रसाद 'बेताब'

२. आगा हश्र और

३. राधेश्याम कथावाचक

ये इस अर्थ से और भी ज्यादा प्रतिनिधि है कि, पारसी नाट्यसाहित्य की तीनों धाराओं का प्रतिनिधान और उनकी प्रतिष्ठा इन्हीं तीनों के द्वारा हुई है। मुख्य रूप वे तीनों धाराएँ प्रवृत्तियाँ हैं:

१. पौराणिक,

२. रोमानी और

३. पुररुत्थानवादी।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि ये तीनों प्रवृत्तियाँ सर्वथा एक दूसरे से निस्संग नहीं है। वस्तुतः पारसी थियेटर के प्रत्येक नाटक में, चाहे वह ऐतिहासिक हो,

या पौराणिक या सामाजिक या राजनीतिक-सबमें रोमानियत, पुनरुत्थानवादी चेतना और पुराण जैसी इतिवृत्त का किसी स्तर से एक साथ होना जैसे आधारभूत विशेषताएँ थीं। वैसे देखा जाय तो विशुद्ध पौराणिक चेतना के नाटककार हैं-नारायण प्रसाद 'बेताब', रोमानी चेतना के आगा हश्र, और पुराण, इतिहास (स्वर्णिम अतीत) तथा किंचित सामाजिकता के परिदृश्य से पुनरुत्थानवादी भावधारा के नाटककार हैं राधेश्याम कथावाचक।

इन तीन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त दो गौण धाराएँ और बह रही थीं। वे थीं सामाजिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों की। हरिकृष्ण 'जौहर' जहाँ सामाजिक नाटकों के लिये प्रसिद्ध हैं, वहाँ किशनचंद जेबा राजनीतिक नाटकों के लिये।

नाट्यलेखन की परिस्थितियाँ और उद्देश्य

पारसी थियेटर के नाट्यसाहित्य-अर्थात् उसके विषयवस्तु, चरित्र, शैली, रचनाविधान, भाषा आदि के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये हमें उनकी रचना प्रक्रिया को अनुशासित प्रभावित करने वाली उन परिस्थितियों तथा लेखन परिवेश की तह में जाना आवश्यक है।

यह काल एक ओर राष्ट्रीय चेतना तथा दूसरी ओर पुररुत्थानवादी चेतना तथा रूमानियत के बोध का है। राष्ट्रीय चेतना के लिये जितना ही देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम, शौर्यत्याग वांछित था, उतना ही हिन्दुत्व, आर्यभावना भी महत्वपूर्ण थी। साथ ही आत्मपीड़ित, दमित, गुलाम भारतीय जनता को हुश्न और इश्क की दुनिया की भी जरूरत थी। उसके आदर्श जहाँ एक ओर पुराण और इतिहास के स्वर्णिम अतीत और भूत में थे, वहीं उसकी उड़ान भारते से दूर, बहुत दूर, रोम, एथेंस, ईरान, लंदन, पेरिस और इश्कोवहिश्त तक थी- दरअसल यही सारा माहौल पारसी थियेटर का है, और इस काल में पारसी ड्रामा और थिएटर के माने था यही सब चीज।

अतएव यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस थिएटर में सबसे बड़ा, मान्य, मूल्यवान, अर्थवान, नाटककार वही था, जिसके नाटक में ऊपर बताई हुई सारी चीजें एक साथ हों। 'बेताब', 'आगा हश्र' अपने स्तर से तभी इतने महत्वपूर्ण और अर्थवान सिद्ध हुए।

एक कथावाचक, उपदेशक, गायक ब्राह्मण राधेश्याम को इस काल विशेष ने इतना महत्वपूर्ण नाटककार बनाया और उसे इतना सामाजिक महत्व दिया गया-आज यह बात आश्चर्यजनक सी लगती है।

''भारत के महामान्य, पूज्यवाद पं. मदनमोहन मालवीय कभी किसी पेशेवर नाटक मंडली में नाटक देखने नहीं पधारे हैं, पर मैं अपनी कंपनी में उन्हें दो बार (दो नाटकों को अभिनय दिखाने) लाया। मेरे भाई इंद्र (स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंद के सुपुत्र) ने तो 'श्रवणकुमार' नाटक की ओपनिंग सैरिमनी ही कराई है। 'ईश्वर भक्ति' नाटक की ओपनिंग सैरिमनी मेरी प्रार्थना पर, भारत के श्रद्धेय, त्यागवीर पंडित मोतीलाल नेहरू ने की है-वह भी उस साल, जिस साल वे इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रेजीडेंट थे। इसके अतिरिक्त देश के अनेक नेतागण, सनातन धर्मी तथा अन्य धर्मावलम्बी विद्वान पंडितवर्य राजा महाराजा मेरे अनुरोध पर, समय-समय पर पधारकर मुझे आभारी करते रहे हैं...।''

ऐसा लगता है कि जैसे उस समय, देश की राजनीति, धर्म, सामाजिक चेतना को वहन करने वाली संस्थाओं धाराओं में पारसी थियेटर और उसका नाटककार कितना अधिक महत्वपूर्ण था। वह उस काल की भावात्मक रागात्मक चेतना का प्रतीक ही नहीं, वही उसका माध्यम भी था।

नाटक कंपनी ही उसके नाट्यलेखन की व्यावहारिक धुरी थी। वह नाम से कंपनी का मुंशी था, पर संबंध और पद के स्तर से वही अब कंपनी का आधारस्तंभ था। क्योंकि अब वह थिएटर की दुनिया में नाटककार, निर्देशक, रंगशिल्पी यहाँ तक कि संगीतनृत्य तक का अधिकारी ही चला था। अब तक पारसी थिएटर से अंग्रेज कलाकार, प्रस्तुतकर्ता, रंगशिल्पी-इन सभी रूपों से बहुत दूर चले गऐ थे। अतएव अब पारसी थिएटर और उसका पूर्ण स्वामित्व कंपनी के मालिक और नाटककार के अधिकार में आ गया था।

'न्यू अल्फ्रेड' कंपनी से उनके नाटककार-जैसे आगा हश्र और राधेश्याम का जो संबंध और दर्जा प्राप्त था, उसका अनुमान 'कंपनी के शरायत' से लगाया जा सकता है।

१. नाटककार का कंपनी से वैतनिक संबंध था।

२. कंपनी के भीतर मालिकान का हुक्म चाहे टल जाय, पर नाटककार का हुक्म नहीं टलता था।

३. संबंध वैतनिक था, पर कंपनी में तभी रहना पड़ता था, जबकि उसका नया नाटक स्टेज होता था। बाकी महीनों में आजाद।

४. कंपनी में आने के लिये मय नौकर के सैंकंड क्लास का भाड़ा मिलता था। इसके अलावा रहने को आरास्ता (बिजली पंखा आदि सहित) मकान दिया जाता था। भोजनादि को पाँच रुपये रोज भत्ता दिया जाता था।

५. नाटककार को कुल तनख्वाह सात सौ पचास रुपये महीने। सौ रुपये माहवार उसके सहायक को।

इन शरायतों से नाटककार और उसकी यथार्थ परिस्थितियों (रंगमंच, नाटक संबंधी) पर ही प्रकाश नहीं पड़ता, वरन इनसे उसके कार्यक्षेत्र, उसके मूल्यों तथा उद्‌देश्यों के भी पर्दे उठते हैं।

उसके नाट्यलेखन से नाटक कंपनी का सफलता से चलते रहना, उसके व्यापार में उत्तरोत्तर उन्नति होते रहना-नाटककार की पहली और बुनियादी जिम्मेदारी थी-ऐसी जिम्मेदारी, जिस पर उसकी सारी हैसियत और उसकी साहित्यकता, कलाकारी की बुनियादी खड़ी होती थी।

यह रचनात्मक जिम्मेदारी निश्चय ही अंततोगत्वा दर्शक समाज की रुचि और उसकी भावनाओं से जुड़ती है। इस रुचि और भावना में जो सच्चाई थी, उसी का प्रतिफलन इस काल के नाटक में विषयवस्तु बनकर आया था।

आगा हश्र के अतिरिक्त 'बेताब' और 'राधेश्याम' नाट्यलेखन में कुछ ऐसे भी उद्‌देश्य थे, जो उन्हें प्रतिष्ठित और जनप्रिय बनाने में काफी मददगार थे। ''मुझे हर्ष है कि मैंने इन नाटकों के द्वारा हिन्दी की सेवा की है, हिन्दुत्व को आगे बढ़ाया है और धार्मिक भावों का प्रचार किया है।'' (मेरा नाटक काल, पृष्ठ 204, संस्करण 1957 ई.)

हिन्दीभाषा, हिन्दुत्व का गौरव, धार्मिक भावों का प्रचार-यह उद्‌देश्य नाटककार का निजी भी था और उस काल की चेतना को छूते, प्रभावित करने वाला भी था।

पौराणिक नाटक

इस काल की समूची चेतना को अभिव्यक्ति देने में 'पौराणिकता' ही सबसे अधिक उपयुक्त थी। यही कारण है कि इस काल में पारसी नाटकों के अतिरिक्त जो साहित्यिक नाटकों की धारा चल रही थी, उसका भी महत्व कम नहीं है। बद्रीनाथ भट्ट के 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित' मैथिलीशरण के 'चन्द्रहास' और 'तिलोत्तमा' विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक का 'भीष्म' और माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', सुदर्शन कृत 'अंजना' गोविंदवल्लभ पंत कृत 'वरमाला' और जयशंकर प्रसाद कृत 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटक हैं।

पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटक इस साहित्यिक धारा की शिल्प और संरचना के स्तर से प्रभावित करते रहे हैं-इस भूलना न होगा। बल्कि यदि यह कहा जाय कि साहित्यिक पौराणिक नाटक पारसी रंगमंच पर खेले जाने वाले पौराणिक नाटकों की प्रतिक्रिया में लिखे जा रहे थे, तो असंगत न होगा।

इसीलिये दोनों में एक बुनियादी अंतर है। साहित्यिक पौराणिक नाटकों में चूँकि आधुनिक भारत को कहीं न कहीं दिखाना उनका उद्‌देश्य था, इसलिये उनकी रचना दृष्टि में लौकिक तथा ऐतिहासिक तत्वों पर विशेष बल है। ठीक इसके विपरित पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटकों में अतिमानुषिक घटनाओं तथा अप्राकृतिक प्रसंगों तथा कार्यों पर अधिक बल है। इसका कारण यह है कि ये पारसी रंगमंच के नाटक-उस विशाल हिन्दू समाज के दर्शकों के लिये रचे गए थे जो अपने देवी देवताओं को, उनकी महिमाओं को, उनकी अपार शक्तियों को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। लौकिक तत्व के लिए इन नाटकों में समानांतर रूप से एक दूसरी हल्की सी कथा या प्रसंग चलता रहता था, जिससे दर्शकों को हास्य मनोरंजन प्राप्त होता था और साथ पुराण से, अतीत से 'आधुनिक' के अंतर को भी अनुभव किराया जाता था। उदाहरण के लिये 'राधेश्याम' अथवा 'बेताब' के किसी भी पौराणिक नाटक को लिया जा सकता है-जैसे, बेताब कृत 'महाभारत' नाटक में 'गोपीवाला भाग'-राधेश्याम कृत 'वीर अभिमन्यु' में राजा खटपट सिंह और सुंदरी का प्रसंग।

पारसी रंगमंच की पौराणिक नाट्यधारा इतनी बलवती और परम प्रतिनिधित्व पाने वाली थी कि इसके अंतर्गत प्रायः सभी प्रमुख नाटककार आते हें-जैसे नारायण

प्रसाद 'बेताब', राधेश्याम, आगा हश्र, हरिकृष्ण, जौहर, तुलसीदत्त, शैदा, श्रीकृण, हसरत तथा कृष्णचंद्र 'जेबा'।

इस काल के समस्त पारसी रंगमंच के पौराणिक नाटकों को पढ़कर यह बात सबसे अधिक स्पष्ट होती है कि इनका जैसे चरम उद्‌देश्य था-दर्शकों को पौराणिक कथा, घटनाएँ, चरित्र दर्शन कराके मनोरंजन कराना और उन्हें 'हिन्दूधर्म' विषयक उपदेश देना, धर्म के अंतर्गत एक पक्ष के अतिरिक्त अनेक पक्षों पर एक ही नाटक में उपदेश देना, जैसे इनका मुख्य कार्य था। उदाहरण के लिये अपने 'पत्नीप्रताप अथवा सती के अनुसूया' नाटक की भूमिका में 'बेताब' लिखते हैं कि उनके नाटक का उद्‌देश्य सती के गौरव की प्रतिष्ठा करना है। इसी प्रकार (एक ही पौराणिक नाटक में कई संवेदनाओं, उद्‌देश्यों की प्रतिष्ठा), 'भक्त प्रहलाद' में राधेश्याम कथावाचक एक ओर ईश्वरभक्ति पर जोर देते हैं, तो दूसरी ओर महात्मा गाँधी के अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धांतों को परोक्ष रूप से प्रतिष्ठित करते हैं। साथ ही स्त्रीशिक्षा का भी प्रचार उनका उद्‌देश्य सा लगता है।

पौराणिक नाटक के कथानक

पारसी रंगमंच के नाटक की कथा मुख्यत: पुराण से इसीलिये ली जाती रही है कि अपार हिन्दू दर्शक समाज उसके नाम से आकर्षित होकर आता था। उसे धर्मकथा मानकर वह स्वीकार करता था। उस कथा को समझने और उसके आचार से मनोरंजन करने में उसे सुविधा थी। वह कथा उसके संस्कार तथा सांस्कृतिक गौरव के बोध को परितोष देती थी। फलत: इन नाटकों में पुराण की मूल कथा, प्रसंग अथवा प्रकरण और कथाखंड उसी तरह बिना किसी हेरफेर के ले ली जाती थी। स्पष्ट अर्थों में वह नाटक को कथावस्तु न होकर वही पुराण की इतिवृत्तात्मक कथा होती थी। इसलिये इनमें पौराणिक नाटकों जैसी काव्यशैली को नहीं ढूँढना चाहिए। इस अर्थ में पारसी रंगमंच के ये नाटक 'कथानाटक' कहलाए जाने चाहिए, 'ड्रामा' नहीं। इसलिए भी नहीं कि इसमें कथानक योजना जैसी कोई दृष्टि नहीं है। कथा को ठीक उसी रूप में ले लेने, घटनाओं कार्यों को उसी तरह नाटक में रख लेने का फल यह भी था कि इनमें नकोई अर्थ की नवीनता थी न इनमें किसी नई व्याख्या का आभास ही। कथाएँ चूँकि

सपाट, एकतली होती थीं और उनको उसी धरातल से नाटक में रख लिया जाता था, फलत: सारे कथानक सपाट, एकतली और मात्र इतिवृत्त से सिद्ध होते हैं।

कथानक स्तर पर इन 'कथानाटकों' को 'नाटक' बनाने के लिये नाटककारों ने एक नए कथासाधन का प्रयोग किया है-मूल पुराण कथा के समानांतर एक या एक से अधिक कल्पित कथानकों की उद्भावना। उदाहरण के लिये 'बेताब' रचित 'सती अनुसूया' या 'पत्नी प्रताप' में मूल कथा पुराण की अनुसूया की है, परन्तु इसे 'नाटक' बनाने के लिये 'बेताब' ने अनुकूल और विपरित, इन दो कथापरिस्थितियों की इस तरह सृष्टि की है-

(अ) अनुसूया की ही तरह एक कल्पित स्त्री 'रेवा' की कथा, जो अपने पातिव्रत धर्म के बल पर सूर्योदय को रोक देती है।

(ब) और दूसरी-अनुसूया के प्रसंग से बिल्कुल विपरित एक व्यभिचारिणी स्त्री का प्रसंग जो अपने अनेक पापकर्मों के कारण दु:ख भोगती है।

इस प्रकार नाटककार ने इन कल्पित कथाप्रसंगों या उपकथाओं से नाटक को कथास्तर से ऊपर उठाकर कथानक का स्तर देना चाहा है। नाटक में नाटकीयता उत्पन्न हुई है। अनुसूया की पौराणिक कथा में इनसे एक नया महत्व तथा प्रभाव आया है।

'बेताब' के अत्यंत प्रसिद्ध नाटक 'महाभारत' में अद्भुत भवनप्रसंग से लेकर युधिष्ठिर का इंद्र के साथ नरक भ्रमण तक की इतनी ज्यादा और मोटी पुराण की कथा है। पर इसे नाटक बनाने के लिये 'बेताब' ने 'चेता चमार' के एक मनोरंजक कथानक से मंडित किया है। 'महाभारत' नाटक इस 'चेता चमार' प्रसंग के कारण इतना विवादास्पद और जनप्रिय हुआ कि इस पर परस्पर विरोधी विचार और प्रतिक्रियाएँ चार वर्षों तक (1913 से 1917 ई. तक) दर्शक समाज में फैली रहीं। "कुछ लोग तो इसे चंद्र में कलंक मानते थे, कुछ शरीर में प्राण। अस्तु कंपनी के व्यापारिक उद्देश्यानुसार तीन चार वर्ष एक दल की इच्छापूर्ति करके मैंने उस विवादास्पद विषय को 'सती गोपी' की कथा से बदल दिया।"

इन नाटकों के कथानक पौराणिक होने के नाते उसमें कोई कथाप्रयोग दो कारणों से और भी नहीं कर पाते थे। राष्ट्रीय जागरण के भीतर जो हिन्दू नवजागरण

हुआ था, उसमें प्राचीन कथा में तनिक भी हेरफेर उस समय खतरनाक काम था। दूसरे ये सारी नाट्यकंपनियाँ अपनी व्यावसायिकता के लिये अपार हिन्दू दर्शक जनता को इसी कथा की ही बुनियाद पर खींचती थीं।

ये नाटककार मूल धार्मिक कथाओं को क्या कभी छोड़ कर कुछ नई उद्भावनाएँ कर कुछ नया धर्म प्रसंग नहीं छेड़ सकते थे? पर आज इतनी दूर से उस पूरी स्थिति पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि ऐसा संभवत: दो कारणों से नहीं हुआ। एक तो दर्शक समाज जड़ धार्मिकता और कट्टर विचारों वाला था, दूसरे व्यावसायिकता का इतना दबाव था और इस दबाव पर कंपनियों के मालिक तथा डाइरेक्टरों का इतना प्रभाव था कि काई भी नाटककार न पूरी तरह से पौराणिकता पर ही ध्यान केन्द्रित कर कार्य कर सका, न उससे सर्वथा हटकर कुछ नया रच सका। इस तरह नाटककारों को अपने अन्य चरम उद्देश्यों को ध्यान में रखकर नाटक लिखना पड़ा, नाटक के उद्देश्य से नाटक नहीं रच सके।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका
16 जनवरी, 1991

रणवीर सिंह

सामाजिक मुद्दों पर चिंता और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ आवाज

राधेश्याम कथावाचक जिन्होंने ज्यादातर धार्मिक नाटक लिखे मगर उन्होंने भी अपने खास तरीके से धार्मिक नाटकों के जरिये उस वक्त के सामाजिक मुद्दों और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ आवाज उठाई। राधेश्याम के किसी भी नाटक सेन्सर बोर्ड पाबन्दी नहीं लगा सका। अंगरेज़ अफसराज को समझ ही नहीं आती थी कि इशारा ब्रिटिश सरकार की तरफ है या कहीं और।

अपने नाटक 'भक्त प्रह्लाद' जो 1921 में खेला गया था। उसमें उन्होंने किसानों की ज़िन्दगी के हालात की तस्वीर पेश की। भला किसानों का भक्त प्रह्लाद की कहानी से क्या ताल्लुक। मगर उन्हें अपनी बात कहनी थी। किसानों की हालत चाहे कोई सी भी सरकार रही हो हालत एक सी ही रही है। अपनी बात कहने के लिए राधेश्याम जी ने पहली बार पारसी थियेटर में नट और नाट का इस्तेमाल किया। नट और नाट के जरिये हिरण्यकश्यप को जगदीश बना दिया। दरअसल में जगदीश और कोई नहीं ब्रिटिश हुकुमत का ही प्रतीक है। आज वह हमारी किसी भी सरकार का हो सकता है। नाटक में किसानों का डेलीकेशन जगदीश से मिलने आता है। जगदीश यानी हिरण्यकश्यप या उन सब के लिए जो सत्ता के नशे में अपने आप को भूल जाते हैं और अपने को ईश्वर समझने लगते हैं उनका प्रतीक है। जब डेलीकेशन हिरण्यकश्यप के सामने आता है तो वह उन्हें पहचानने से इंकार कर देता है। यह आज भी होता है।

हिरण्य : (पूछता है) यह कौन है?

किसान : तेरे अन्याय की सच्ची तस्वीरें! गरीब किसानों की सूखी हड्डियां। तू यदि जगदीश है तो देश में अकाल क्यों हैं? तू यदि लक्ष्मीपति है तो देश आज कंगाल क्यों है? तू यदि न्यायकारी परमात्मा है तो प्रजा अन्याय से बेहाल क्यों है? झूठे जगदीश का दावा करने वाले राजा शर्म कर और हम बेकसों की मुर्झाई हुई हालात को

देख जिस क़ौम की कमाई हुई दौलत से तू जगदीश होने का दावा करता है उसी किसान क़ौम की मुर्दा सूरतों को देख।

जुल्म हम पर हो रहे हैं और तू खुशहाल है
धिक है उस जगदीश पर जिसकी प्रजा पामाल है।

किस खूबसूरत तरीके से राधेश्याम जी ने बात कही। अफसरान यह समझते रहे कि किसान तो जगदीश की बात कर रहे हैं। मगर दरअसल में इशारा ब्रिटिश सरकार की तरफ था। आज 100 साल बाद यह इशारा हमारी सरकार की तरफ हो सकता है।

आगे राधेश्याम ने एक गीत के जरिये अपनी बात और मजबूती के साथ रखी जो हजारों के लबों पर थी।

हम बारिश धूप में मर मर कर पैदा इस देश को नाज करें
और राज के ज़ालिम अधिकारी हम को दिन दिन मोहताज करें।
जगदीश हमारी ही खाकर अन्याय का हम पर राज करें
इंसाफ इसी को कहते हैं? तुम कार करो हम काज करें।

यहाँ बात ग़ौर करने की है कि किस तरह से राधेश्याम सेंसर बोर्ड की आँख चुराते हुए अपनी बात साफतौर पर कह गये। इस हुनर के वे सरताज थे। इसी तरह समाज में हर प्रकार के भेद-भाव जात-पांत, धर्म-मजहब के झगड़ों को लेकर उन्होंने नाटकों के ज़रिये अवाम तक पहुँचाया। थियेटर की बहुत बड़ी जिम्मेदारी को निभाया।

नट : (नाट से कहता है) एक पिता के दो पुत्र हैं। निराकार और साकार को मानने वाले। जुदा-जुदा पसन्द रखते हुए भी हैं तो एक ही पिता के पुत्र। एक जननी जन्मभूमि के लाल। एक ही रक्त, एक ही मांस, एक ही मज्जा के बने हुए। फिर झगड़ा कैसा।

रास्ते तो हैं अनेक पर स्थान एक हैं
कोटानुकोट भक्त हैं भगवान एक हैं
हो आर्य या सनातनी, ईसाई या इस्लाम
आँखें तो हैं जुदा जुदा पहचान एक है

शोभा यही है मिल के परस्पर रहें सभी
धर्मानुकूल धर्म धुरंधर रहें सभी
है सम्प्रदाय भेद तो लड़ने की क्या है बात
डोरी में जाति प्रेम की बंध रहे हैं सभी।

एकता का मसला भारत में सदियों से रहा है और आज भी है। इस समस्या को उन्होंने अपने नाटक 'उषा अनिरुद्ध' में उठाया। उषा और अनिरुद्ध के प्रेम की कहानी का सहारा लिया। उषा शिव भक्त वाणासुर की बेटी, और अनिरुद्ध श्री कृष्ण के बेटे प्रद्युमन का पुत्र, जो एक शैव और दूसरे वैष्णव थे। यह सच्चाई है। धार्मिक है। इसलिए इसकी खिलाफत नहीं होगी और अराम को आसानी से समझ भी आ जायेगी। और सेन्सर से बचाव भी हो जायेगा। यहाँ भी उन्होंने नट और नाट की अपनी बात कहने के लिए इस्तेमाल किया। अपनी बात को इस तरह से इस्तेमाल किया।

नट : (नाट से) प्रिय, यह भारत का दुर्भाग्य है जो सम्प्रदायों के झगड़े इस देश की उन्नति नहीं होने देते। शैव लोग वैष्णवों के द्वेषी हैं तो गणपति के उपासक शाक्त धर्म की निन्दा करते हैं। सनातन धर्मियों द्वारा जैन धर्मियों का हास्य और जैन धर्मियों द्वारा सनातन धर्मियों का उपहास! हाय जाति का इतना हास–सर्वनाश, सर्वनाश।

नाट : तो क्या आज जाति संगठन का ही नाटक दिखावा है।

नट : प्रिय, यह काम तो देश की वेदी पर बलिदान होने वाले उन धर्मवीरों का है जो सर्वस्व अर्पण करके हिन्दू संगठन के लिये कटिबद्ध हैं। हमें इतने बड़े मैदान में नहीं जाना है।

नाट : (आश्चर्य से) तो क्या बताना है?

नट : केवल शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के झगड़ों की चर्चा उठाना है। धर्म की आड़ में परस्पर लड़ने वाले धर्माचार्य को प्रेम और एकता के मार्ग पर लाना है।

यहाँ एक बात गौर करने की है। राधेश्याम यह नहीं कहते कि हम समाज को बदलेंगे। नाटककार की जिम्मेदारी सिर्फ यह है कि समाज की सही तस्वीर अवाम के सामने पेश करे और जैसे राधेश्याम ने कहा उसे सही मार्ग पर लाना है। समाज अपने आप बदलता है।

अंक 1 के चौथे सीन में कृष्णदास जो कृष्ण का भक्त वैष्णव है अपने साथियों से कहता है कि शैव लोगों से मुकाबला करने के लिये हमें संगठन बनाना होगा। अपने साथियों से पूछता है कि तुमने यह कभी यह सोचा है कि तुम कमजोर क्यों हो। तुम सब एक अच्छे जानदार, सुगन्धि से परिपूर्ण, लहकते और महकते हुए पुरुष हो। परन्तु कमी इतनी है कि एक तागे में पिरोये हुए नहीं हो।

बिखरे पुष्पों को नहीं मिलता वह सुस्थान
जैसे माला को सुमने पाते हैं सम्मान।

समाज को बदलने के लिए एकता का होना बहुत जरूरी है। राधेश्याम हर भारत निवासी को याद दिलाते हैं कि, तुम एक अच्छे जानदार, सुगन्धि से परिपूर्ण लहकते और महकते हुए पुरुष हो। परन्तु तुम एक तागे में पिराये हुए नहीं हो। शैव और वैष्णव के बीच विवाद की बात करते हुये संगठन पर जोर देते हैं। वो वाणासुर को ब्रिटिश सरकार बनाते हैं। उस का वध करने के लिए संगठन की अहमियत पर जोर देते हैं। कृष्णदास की जुबां से अपनी बात ब्रिटिश सरकार के खिलाफ अवाम तक पहुँचाते हैं ताकि संगठन के जरिये एक होकर उनका मुकाबला कर सकें।

कृष्णदास : संगठन का तत्व समझना हो तो जल बिन्दुओं से पूछो, एक-एक बिन्दु मिलकर जब नदी बन जाती है तो बड़े पर्वत को बहा देती है। संगठन की शक्तियों को जानना हो तो आग की चिंगारियों से पूछो, एक-एक चिंगारी मिलकर जब प्रचण्ड ज्वाला बन जाती है तो बड़े से बड़े राज महल को जला देती है। संगठन का बल देखना है तो प्रकाश की किरणों से पूछो, एक-एक किरण मिलकर जब तीव्र धूप का स्वरूप बन जाती है तो ऊँचे से ऊँचे हिम शिखर को पिघला देती है।

राधेश्याम अपने नाटकों के जरिये मनोरंजन करते हुये लोगों को उन की फर्ज़ की याद दिलाते हुये, उनके दिल मेंजोश और हिम्मत पैदा करने के लिए अपने नाटक 'रुक्मिणी मंगल' में यह गीत लिखा-

तभी जग में विजयी होगी, तभी विजयी कहलाओगे
फतह दुश्मन से पहले आप पर तुम जब कि पाओगे
नहीं है जिसमें बल साहस कहां वह नाव खेता है
जो खुद को जीत लेता है जगत को जीत लेता है।

रुक्मिणी मंगल नाटक में उन्होंने यह भी कहा कि-

मर के भी रहता है जीता वान का मारा हुआ,
पर है जीते जी मरा, अपमान का मारा हुआ।

आजादी हासिल करने और गुलामी से नज़ात पाने को उन्होंने इन लफ्ज़ों में बयां किया-

अब नहीं नवकर चलेंगे नौकराई देख ली
मालिकों के मन में थी जितनी सफाई देख ली
बेचकर स्वाधीनता जो की कमाई देख ली
किस तरह होगी भलाई में बुराई देख ली
घोट दो गला इससे न जी घबरायेगा
पर गुलामी का फंदा अब न गले को भायेगा।

188, लाइन्स लेन
हनुमान नगर विस्तार, जयपुर-203012
मो. : +91-9829294707

मधुरेश

प्रेमचंद और राधेश्याम कथावाचक की जुगलबंदी

प्रेमचन्द उम्र में राधेश्याम कथावाचक से भले ही दस वर्ष बड़े हों, यह संयोग ही है कि हिन्दी में दोनों की रचनात्मक सक्रियता का काल लगभग एक है। सन् 1915 में जब पंडित राधेश्याम 'वीर अभिमन्यु' के लेखन में व्यस्त थे, प्रेमचन्द की पहली हिन्दी कहानी 'पंच परमेश्वर', 'सरस्वती' जून 1916 में प्रकाशित हुई-भले ही उसके पाँच वर्ष पूर्व सन् 1908 में 'सोज़ेवतन' की जब्ती के बाद सन् 1910 में मुंशी नवाबराय की जगह 'प्रेमचन्द' का प्रादुर्भाव हो गया था। राधेश्याम कथावाचक के प्रायः सभी महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय नाटक सन् 1915 से 1939 के बीच प्रकाशित हुए। सन् 1939 में 'सती-पार्वती' के प्रकाशन के बाद उन्होंने सिर्फ 'देवर्षि-नारद' लिखा जो प्रकाशित भले ही सन् 1961 में हुआ था लेकिन लिखित पाठ के आधार पर उसका मंचन काफी पहले से ही होता रहा था।

प्रेमचन्द की सारी रचनात्मक सक्रियता का दौर भी यही है-सन् 1915 से 1936 के बीच। भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी के उदय और फिर अन्ततः शिखर पर पहुँचने का दौर भी लगभग यही है। राष्ट्रीय आंदोलन में साम्प्रदायिक सद्भाव की आवश्यकता, आंदोलन में स्त्रियों और सामान्य जनता की भूमिका, जनता को दीक्षित एवं संस्कारित करने में साहित्यकार का दायित्व-ये वस्तुतः कुछ ऐसे कार्यभार थे, जो प्रेमचन्द को राधेश्याम कथावाचक की ओर आकृष्ट करते रहे होंगे। फरवरी 1932 में जब प्रेमचन्द ने 'हंस' का आत्मकथा अंक निकाला, उसमें राधेश्याम कथावाचक से भी लिखवाया। राधेश्याम कथावाचक के आत्मकथ्य का शीर्षक था-'मेरा नाटकीय जीवन और उसके अनुभव'। यह अनुमान मुश्किल नहीं है कि वस्तुतः उनका यही आत्मकथ्य आगे चलकर, सन् 1957 में लिखी गई उनकी आत्मकथ्य 'मेरा नाटक काल' का बीजरूप था। इस आत्मकथ्य में संक्षेप में जिन तथ्यों को उन्होंने उद्घाटित किया, 'मेरा नाटक काल' वस्तुतः उन्हीं का विस्तार है। यह उनकी आत्मकथा का

हिस्सा नहीं, उसका ढाँचा और कच्चा प्रारूप है। नाटक और रंगकर्म की तत्कालीन स्थिति पर टिप्पणी करते हुए गहरी पीड़ा के साथ अपने इस आत्मकथ्य में उन्होंने लिखा, 'शिक्षितों का इस संसार में अभाव है। चरित्र का यहाँ दर्शन तक नहीं है, परस्पर की ईर्ष्या और स्वार्थ ने तो इस कला के कलाघरों को इस तरह दबोच रखा है कि मानो उन्होंने मनुष्य-योनि में जन्म ही नहीं लिया है। यही कारण है कि कोई विद्वान चरित्रवान इधर आता तक नहीं और आ भी जाता है तो थोड़े दिनों टक्करें मारकर सदा के लिए नमस्कार कर लेता है। स्वयं मुझ पर ऐसे-ऐसे समय आए हैं कि नाटक लिखना तो क्या, नाटक के नाम तक से घृणा हुई है, पर क्या करूँ आखिर तो लंका में जाकर ही सीता माता की सुधि हनुमान जी को लेनी पड़ी थी, इस वातावरण में रहकर ही तो हिन्दी-माता और हिन्दू जाति की कुछ सेवा कुछ कल्याण कर सकूँगा- इसी उद्देश्य से जो कुछ बन पड़ता है, करता हूँ और करूँगा। जरूरत है कि 'हिन्दी रंगमंच लिमिटेड' बनाया जाए और उसमें सुयोग्य, सुशिक्षित एवं चरित्रवान व्यक्ति रखकर इस कला का उद्धार किया जाए'(हंस, आत्मकथा-अंक सम्पादक प्रेमचन्द, फरवरी, 1932, पृष्ठ 120)। जनता को प्रशिक्षित और संस्कारित करने की नाटक की भूमिका से प्रेमचन्द अपरिचित नहीं थे। नाटक की इस शक्ति को समझकर ही उन्होंने न सिर्फ गाल्सवर्दी के कुछ विशिष्ट और उल्लेखनीय नाटकों का अनुवाद किया, स्वयं भी 'कर्बला' (1924) नामक नाटक लिखा।

प्रेमचन्द इतिहास के विद्यार्थी थे, लेकिन इतिहास के आधार पर लिखित रचनाओं के विषय में उनकी अच्छी धारणा नहीं थी। भले ही आगे चलकर उनकी इस राय में बदलाव आया। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के सांस्कृतिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले नाटकों और वृन्दावन लाल वर्मा के 'गढ़ कुण्डार' (1929) जैसे उपन्यास को भी शुरू में उन्होंने संदेह की दृष्टि से देखा। 'स्कन्दगुप्त' की अपनी आलोचना में इतिहास की धरती में गड़े मुर्दों को उखाड़ने जैसा कुछ बताकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की। इसमें नाटकों के प्रसंग में मंच और अभिनेताओं के प्रति प्रसाद की कथित उपेक्षा के मुकाबले गन्दगी में रहकर गन्दगी को दूर करने की राधेश्याम कथावाचक की भावना शायद उन्हें अधिक यथार्थ और वास्तविक लगती थी। प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आए थे। क्लिष्ट, संस्कृत-बोझिल और तत्सम् बहुल हिन्दी की अपेक्षा वह हिन्दी उन्हें अच्छी लगती थी और स्वयं महात्मा गाँधी ने 'हिन्दुस्तानी' के रूप में जिसे

मान्यता दी थी-उसकी सैद्धांतिक बारीकियों और विरोधियों के तर्कों की अधिक छानबीन किए बिना देवकी नन्दन खत्री से लेकर प्रेमचन्द स्वयं इसी भाषा के पक्षपाती थे। यह एक ऐसी भाषा थी जो साधारण जनता-हिन्दू और मुसलमान की समझ में आती थी और कहीं-न-कहीं वह उसे अपनी लगती थी।

अपनी उर्दू की पृष्ठभूमि, महात्मा गाँधी और स्वाधीनता आंदोलन के गहरे प्रभाव के कारण प्रेमचन्द जिस भाषा के समर्थक थे, उसकी प्रकृति पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, 'हम इस सत्य की ओर से आँखें बंद नहीं कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धुन में तोड़-मरोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर होता है, लेकिन लिखित भाषा सदैव बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी दूर होती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोलचाल की भाषा भी अवसर और परिस्थिति अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा में अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ न कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नहीं की भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फारसी शब्दों में शीन-फाक की बड़ी कैद है, लेकिन कौमी भाषा में यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह 'क' ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे महत्व की चीज है कि उसे ज्यादा से ज्यादा चाहे वे किसी प्रान्त के रहने वाले हों, समझें, बोले और लिखें। ऐसी भाषा न पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुंजाइश है और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है... (साहित्य का उद्देश्य, संस्करण 1967, पृ. 128) उन्होंने उस उर्दू की भी मजम्मत की जो 'सिरात का पुल' बनकर रह गई है, जिससे जरा भी इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुँचे। वे स्वयं जैसी भाषा लिखते थे, राधेश्याम कथावाचक की भाषा अपनी प्रकृति में एक तरह से वैसी ही भाषा थी। उनके पौराणिक पात्र भी 'रामायण और रुक्मिणी मंगल' आदि में, उर्दू-फारसी बहुल भाषा बेहिचक बोलते हैं, लेकिन उनकी भाषा और आगा हश्र के

हिन्दी पुराणों पर आधारित नाटकों की भाषा में एक गुणात्मक अन्तर था। यह अन्तर ही उन्हें समाज और दर्शकों के बीच स्वीकार्य बनाता था।

प्रेमचन्द साहित्य-रूपों में नाटक की शक्ति से परिचित थे। उन्होंने न सिर्फ गाल्सवर्दी और मेटरलिंक के कुछ प्रमुख नाटकों का अनुवाद किया था, स्वयं भी 'संग्राम' (1921) और 'कर्बला' (1924) लिखे। उत्पीड़न और दमन के परिणामस्वरूप स्त्रियों और किसानों की दुदर्शा के कुछ स्वाभाविक चित्र पंडित राधेश्याम कथावाचक ने 'परम भक्त प्रह्लाद' में अंकित किए थे। 'संग्राम' अवध के किसान आंदोलन की उसी पृष्ठभूमि पर है जिस पर, उसी के आस-पास उन्होंने 'प्रेमाश्रम' (1922) लिखा। ब्रिटिश अमलदारी और ज़मीदारी के दो पाटों के बीच पिसता किसान सदैव उनकी रचना का केन्द्र रहा। पौराणिक आख्यान में गाँधी के गहरे प्रभाव के कारण, सत्ता और साम्राज्य की निरंकुशता के सामयिक संदर्भ राधेश्याम कथावाचक अपने नाटकों में पिरो रहे थे, अनुमान लगाया जा सकता है कि वे प्रेमचन्द के गहरे आकर्षण का कारण रहे होंगे। प्रेमचन्द के लिए नाटक की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी मंच पर उसकी प्रस्तुति थी। मंच पर आने के कारण ही वह जनता के बीच पहुँचता है और अपना अपेक्षित प्रभाव डाल पाता है।

प्रेमचन्द के जीवन काल में ही जयशंकर प्रसाद के सारे नाटक आ चुके थे। लेकिन मंच के प्रति उनकी उपेक्षा और अभिनेताओं के प्रति उनका हिकारत का भाव प्रेमचन्द ठीक नहीं समझते थे। प्रसाद के नाटकों की मंचीय संभावनाओं का अन्वेषण जब हुआ, दुर्भाग्य से न प्रसाद जीवित थे, न ही प्रेमचन्द। लेकिन फिर भी उनके पूर्ववर्ती नाटकों के साथ 'ध्रुव स्वामिनी' (1933) को रखकर देखे जाने से ही सूक्ष्म स्तर पर घटित इस परिवर्तन को लक्षित किया जा सकता है।

प्रेमचन्द सांस्कृतिक बहुलता और धार्मिक उदारता के पक्षधर लेखक थे। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'महात्मा ईसा' (1922) को सुनने का प्रस्ताव शुरू में उन्हें अधिक उत्साहित नहीं करता। लेकिन शायद एक युवा और नए लेखक को हताश न करने के विचार से वे उसे सुनने को तैयार हो गए। फिर उसकी भूमिका के प्रस्ताव को भी उन्होंने स्वीकार किया। नाटक की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा, ''लेकिन पहले ही दृश्य में मेरी आशंका बहुत कुछ निवृत्त कर दी और पहला एक्ट समाप्त होते-होते

में उसका भक्त हो गया। भाव, भाषा, चरित्र-चित्रण, कथानक सभी ने मुझे मुग्ध कर दिया। हिन्दी में अच्छे ड्रामों की कमी है। डी.एल. राय के नाटकों को निकाल दीजिए तो हमारे पास कुछ रह ही नहीं जाता। अब हम भी एक उच्च कोटि के मौलिक ड्रामे को अन्य भाषाओं के सामने पेश कर सकते हैं। 'महात्मा ईसा' महाशय राय के किसी नाटक से टक्कर ले सकता है। ऐसे मौलिक और गहन विषय पर नाटक लिखकर उग्र जी ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा कर दिया है।'' (प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य-2 सम्पादक कमल किशोर गोयनका, संस्करण 1988, पृ. 375)।

द्विजेन्द्र लाल राय के पौराणिक एवं ऐतिहासिक बांग्ला नाटकों के अनुवाद तब हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई के नाथूराम प्रेमी ने प्रकाशित किए थे। वे प्रेमचन्द के भी प्रकाशक थे। हिन्दी में मौलिक नाटकों के अभाव की चिन्ता में प्रेमचन्द उन अनुवादों को भी 'अपना' अर्थात् हिन्दी का मान लेते हैं। शायद 'महात्मा ईसा' से प्रेरणा लेकर इसी सांस्कृतिक बहुलता को विस्तार देने के लिए उन्होंने स्वयं 'कर्बला' (1924) लिखा। नाटक की भूमिका में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियों से मुसलमानों के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्राय: उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुस्लिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं (कर्बला, भूमिका संस्करण में सन् का उल्लेख नहीं, पृ.5)। फिर अपने नाटक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, ''किसी जाति के महान पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन उस जाति के साथ आत्मीयता के सम्बन्ध का प्रवर्तक होता है, इसमें संदेह नहीं'' (वही पृ.6)।

प्रेमचन्द नाटक को मंचीय विधा मानते थे और उसकी सफलता की कसौटी अन्तत: मंच पर उसे सफलतापूर्वक खेला जाना ही समझते थे। हिन्दी के जिन कुछेक नाटकों की चर्चा उन्होंने की है-सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, भुवनेश्वर आदि के नाटकों सहित, उसमें भी उनकी कलात्मक उपलब्धियों से कहीं अधिक महत्व उन्होंने मंच पर उनके प्रदर्शन को दिया। अपने नाटक 'कर्बला' के प्रसंग में वे ऐसी कोई अपेक्षा नहीं जगाते। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं, हमने यह नाटक खेले जाने के लिए नहीं लिखा, मगर हमारा विश्वास है कि यदि कोई इसे खेलना चाहे तो बहुत थोड़ी कांट-छांट से खेल भी सकते हैं। (वही) प्रदर्शनीय कलाओं में लोक रुचि को पर्याप्त महत्व

देने पर भी वे उसे ही सफलता की एकमात्र कसौटी मानने से इन्कार करते हैं। नौटंकी और धनुष-यज्ञ देखने के लिए लाखों की संख्या में जनता टूट पड़ती है, पर उसे उसकी सुरुचि का आदर्श नहीं माना जा सकता। नाटक का मुख्य अंग वे भाव-प्रधानता को ही मानते हैं और यह भाव प्रधानता दर्शकों को मंत्रमुग्ध करके उन्हें नाटक के प्रभाव में डुबोती है। इसी राह चलकर कोई नाटककार अपने अभिष्ट तक पहुँचता है। उनके नाटक 'कर्बला' के दो साल बाद जब पंडित राधेश्याम कथावाचक ने हिन्दू पौराणिक आख्यानों पर आधारित अपने नाटकों से हटकर 'मशरिक़ी हूर' (1926) की रचना की तो स्वाभाविक रूप से प्रेमचन्द को यह अच्छा लगा। उनके तीन सर्वश्रेष्ठ नाटकों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा, ''राधेश्याम जी के 'प्रह्लाद', 'परिवर्तन', 'मशरिक़ी हूर' आदि सब वर्क एक से एक उत्तम हैं। इन नाटकों में आदर्श है, शिक्षा है, पवित्रता है है ओज जिनका विशेष परिचय हम फिर कभी देंगे...'' (प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य-2, पृ. 508)।

कलकत्ता में 'रुक्मिणी मंगल' देखकर पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'आज' में एक कटु टिप्पणी लिखी, ''हमें पौराणिक नाटक नहीं चाहिए।'' बाद में उनसे हुई अपनी भेंट में उग्र जी ने इसे माना भी एक विशेष परिस्थिति में उस टिप्पणी को उन्हें लिखना पड़ा था। प्रेमचन्द ने 'माधुरी' के दिसम्बर 1929 में, 'नाटक प्रेमी' के छद्म नाम से, पंडित राधेश्याम कथावाचक के दो पौराणिक नाटकों-'श्रीकृष्णावतार' और 'रुक्मिणी मंगल' पर एक लेख लिखा 'हिन्दी रंगमंच' शीर्षक से और उसमें उन्होंने विस्तार से पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की चर्चा की-साथ में उनका चित्र प्रकाशित करके।

राधेश्याम कथावाचक के तीन प्रसिद्ध और उल्लेखनीय नाटकों की चर्चा कभी बाद में करने का आश्वासन देते हुए अपना यह लेख उन्होंने पूरी तरह उनके दो पौराणिक नाटकों-'श्रीकृष्णावतार' और 'रुक्मिणी मंगल' पर केन्द्रित किया। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का नाम लिए बिना उन्होंने इन पौराणिक नाटकों की सार्थकता को रेखांकित किया। नाटक के अनेक प्रसंगों एवं दृश्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंन 'कृष्णावतार' की चर्चा नाममात्र को भी अश्लीलता और बुरी भावना से पूरी तरह मुक्त होने के लिए भी की। प्रेम के पावन रूप को सामने लाने के लिए भी उन्होंने नाटक की सराहना की-खासतौर से कदम्ब के नीचे गोप-गोपियों के साथ खड़ी राधा-कृष्ण की

युगल छवि का। जहाँ नाटक के पहले अंक को उन्होंने राजनीति में पूर्ण बताया, वहीं दूसरा और तीसरा अंक क्रमशः भक्तों की नस-नस में भक्ति का स्त्रोत बहाने और वीरता का सजीव अंकन की दृष्टि से पूरी तरह सफल बताए। तकनीकी दृष्टि से भी उन्होंने नाटक की प्रशंसा की-खासतौर से कम्पनी के युवा पेन्टर वासुदेव दिनकर की चित्रकारी की। नाच-मास्टर नर्मदा शंकर, परिधान और साज-सज्जा आदि सहित मंच के आकर्षण की उन्होंने प्रशंसा की और फिर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया, हमने स्वयं विषय का इससे अच्छा नाटक कहीं नहीं देखा (वहीं, पृ. 509)।

'रुक्मिणी मंगल' वस्तुतः 'श्रीकृष्णावतार' का ही विस्तार है-जो भाषा, भाव और चरित्र चित्रण की दृष्टि से पहले भाग से कहीं बढ़ा-चढ़ा है। 'श्रीकृष्णावतार' की तरह इस दूसरे भाग 'रुक्मिणी मंगल' के भी अनेक दृश्यों, प्रसंगों, चरित्रों के रूप के सहित उन्होंने नाटक के तकनीकी पक्ष की भी विस्तार से चर्चा की। नाटक में नाच प्रशंसा उन्होंने खासतौर से की-''नाच भी अच्छे हैं। सबसे अच्छा नाच, नाटक के संसार में पहली बार स्टेज पर आने वाला, संस्कृत के बोलों का नाच है। इस नाच में 24 लड़के काम करते हैं। अब तक संस्कृत बोलों का नाच किसी कम्पनी में नहीं निकला। आगे इस दूसरे भाग के पहले भाग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं उनकी तर्जें भी बहुत अच्छी है। हमारी राय में ऐसे गाने किसी कम्पनी में और किसी नाटक में अब तक नहीं आए'' (वही, पृ. 510)।

धैर्य और गहरी समझ के साथ पंडित राधेश्याम कथावाचक पारसी थियेटर में किस तरह अश्लीलता और भोंडेपन के विरुद्ध संघर्ष करते हुए, उर्दू के गढ़ में, हिन्दी-संस्कृत के लिए जगह बना रहे थे-प्रेमचन्द अपनी टिप्पणी में प्रकारान्तर के इस ओर भी संकेत देते हैं। राधेश्याम कथावाचक यह काम दर्शकों के सहयोग से, उन्हें अपने साथ लेकर कर रहे थे। थियेटर और किसी कम्पनी के लिए पंडित जी के महत्व पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं, पंडित राधेश्यामजी स्वयं भी एक बड़े अच्छे नट हैं, कारण कि उन्होंने अपनी सारी उम्र कथाओं के कहने में बिताई है। अतएव यदि वह स्टेज पर स्वयं पार्ट करने लगें, तब तो संयुक्त प्रान्त को भी इस बात का गर्व हो जाए कि हमारे यहाँ भी गिरीश, शिशिर बाबू या दानी बाबू जैसा नट है। पंडित राधेश्यामजी गाने और तर्ज बनाने में तो कुशल हैं ही, उर्दू का 'मशरिक़ी हूर' लिखकर आपने उर्दू नाट्य जगत में भी एक क्रांति पैदा की है... (वही, पृ. 510)। वे यह भी उल्लेख किए

बिना नहीं रहते कि इस लेख के साथ पंडित जी का चित्र भी उन्होंने, बड़ी श्रद्धा के साथ दिया है।

प्रेमचन्द के लिए पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों का क्या महत्व था इसका कुछ संकेत, इसके बाद, उनके उपन्यास 'गबन' (1930) से मिलता है। अपने फ़रारी के दिनों में जब रमानाथ पुलिस की लुका-छिपी से बचता-बचाता कलकत्ता में पैर जमाने की कोशिश कर रहा होता है, अपने को संकट में डालकर भी वह राधेश्याम का नाटक देखने का मोह नहीं छोड़ पाता। प्रेमचन्द लिखते हैं, एक दिन 'मनोरमा थियेटर' में राधेश्याम का कोई नया ड्रामा होने वाला था। इस ड्रामे की बड़ी धूम थी। एक दिन पहले ही लोग अपनी जगह रक्षित करा रहे थे। रमा को भी अपनी जगह रक्षित करा लेने की धुन सवार हुई। सोचा, कहीं रात को टिकट न मिला तो टापते रह जाएंगे। तमाशे की बड़ी तारीफ है। उस को भी पीछे डाल दिया... (गबन, राजकमल पेपर बैक्स, संस्करण 1994, पृ. 245)। पुलिस से आँख मिचौली का उसका खेल अन्ततः इस नाटक के चक्कर में ही समाप्त होता है। टिकट के लिए अपने अधैर्य और हड़बड़ाहट के कारण ही वह पुलिस के हत्थे चढ़कर पकड़ा जाता है।

प्रेमचन्द और राधेश्याम कथावाचक के बीच मैत्री और अन्तरंगता का काल एक मोटे अनुमान के अनुसार सन् 1927-28 से लेकर 1936 में प्रेमचन्द के निधन तक माना जा सकता है। इसी अवधि में राधेश्याम कथावाचक ने 'मेरा नाटक काल' में उनके तीन बार बरेली आने का उल्लेख किया है। इस अन्तरंगता का आधार 'माधुरी' में प्रकाशित प्रेमचन्द का उक्त आलेख ही था, जिसमें उन्होंने पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'आज' में प्रकाशित टिप्पणी 'पौराणिक नाटक नहीं चाहिए' का उत्तर अपने ढंग से विस्तारपूर्वक दिया था। उग्र के नाटक 'महात्मा ईसा' पर प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'पुरोवाक' के सम्बन्ध में भवदेव पांडेय लिखते हैं, ''देखा जा सकता है कि प्रेमचन्द के उक्त पुरोवाक ने उग्र को भारी रचनात्मक उछाल दी। अपने से बीस-इक्कीस वर्ष बड़े और साहित्य की ज़मीन पर पाँव जमाए कथाकार प्रेमचन्द द्वारा प्रयुक्त 'जी' और 'महाशय' जैसे पद उग्र के लिए महत्वपूर्ण रचनात्मक उपहार सिद्ध हुए। इस 'पुरोवाक' से प्रेमचन्द की महानता सिद्ध हुई थी। यानी 'प्राइमरी राइटर' को बड़े लेखक की तरह प्रस्तुत करना। 'महात्मा ईसा' बंगला भाषा के प्रसिद्ध रचनाकार

डी.एल. राय के नाटकों के समानान्तर रखकर प्रेमचन्द ने जयशंकर प्रसाद को भी 'उग्र' से पीछे धकेल दिया था। यह थी प्रेमचन्द की महानता। परन्तु 'उग्रजी' ने इनकी 'महानता' का अपेक्षित सम्मान कभी नहीं किया था। उग्र के इसी व्यवहार से क्षुब्ध होकर प्रेमचन्द के शिवपूजन सहाय से इनकी गंभीर शिकायतें की थी। जो प्रेमचन्द 'उग्र' के पहले नाटक 'महात्मा ईसा' के पहले ही एक्ट को पढ़ने के बाद उनके भक्त हो गए थे, वे ही प्रेमचन्द 'उग्र' ने प्रेमचन्द को कोई झगड़ा-रगड़ा कर लिया था, बल्कि इसका कारण था, फ़िल्मी दुनिया में 'उग्र' द्वारा किया जाने वाला असामान्य-आचरण'' (उग्र का परिशिष्ट, संस्करण 2008, पृ. 55)। स्वयं 'महात्मा ईसा' की भूमिका लिखने के बाद सन् 30 में उन्होंने गुजराँवाला जेल में बंद जैनेन्द्र कुमार से 'उग्र' के उपन्यास 'शराबी' को पढ़ने और फिर 'हंस' के लिए उसकी समीक्षा लिखने का अनुरोध भी किया था। उग्र की जो अपनी जीवन-शैली थी, उसके कारण वे फ़िल्मी जीवन में आसानी से खप गए। प्रेमचन्द जिन सपनों और आदर्शों के साथ उस दुनिया में गए थे, उससे मोहभंग में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। राधेश्याम कथावाचक ने उनकी हताशा से उपजे इस मोहभंग पर बहुत आत्मीय टिप्पणी करते हुए लिखा, ''उनके विचार के संसार में-और इस नाटक सिनेमा के संसार में-कितना अंतर है'' (मेरा नाटक काल, पृ. 142)।

जैसे प्रेमचन्द और उग्र की जीवन शैलियों में अन्तर था, वैसे ही प्रेमचन्द और राधेश्याम कथावाचक की जीवन शैलियों में भी गहरा अन्तर था। राधेश्याम कथावाचक जाति से सनातनी ब्राह्मण ईश्वर में विश्वास करने वाले, पर्याप्त कर्म-कांडी व्यक्ति थे। कम्पनियों और फ़िल्मी जीवन में बम्बई प्रवास में अपना भोजन वे स्वयं बनाते थे। राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि के बावजूद छुआछूत, पूजा-पाठ और कर्मकांड से वे मुक्त नहीं थे। पंडित मदन मोहन मालीवी से वे गहरे प्रभावित थे और बाद में तो उन्होंने उनके बाकायदा दीक्षा ली। प्रेमचन्द अपने को नास्तिक कहते-मानते थे। राधेश्याम कथावाचक के सम्पर्क में आने से काफी पहले ही जैसाकि एक पत्र में उन्होंने मित्र मुंशी दयानारायण निगम को लिखा था-'' 'वे वोल्शेविक उसूलों के कायल हो चुके थे। ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने कथित घृणामूलक और व्यंग्य विद्रूप पूर्ण लेखन के कारण उन्हें 'घृणा का प्रचारक' कहा गया और 'पंडित मोटेराम शास्त्री' लिखकर बाकायदा उन्होंने एक विवाद को जन्म दिया था, जिसका निपटारा अन्ततः

कोर्ट-कचहरी में हुआ। इस पृष्ठभूमि में राधेश्याम कथावाचक के प्रति उनकी आत्मीयता एवं अंतरंगता का तर्क समझने में बहुतों को दिक्कत हो सकती है।''

प्रेमचन्द सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की भूमिका के पक्षधर लेखक थे। राजनीतिक और सांस्कृतिक सोच के निर्माण में साहित्य और पत्रकारिता के महत्व को न सिर्फ वे भली-भाँति समझते थे, अपने साप्ताहिक 'जागरण' और मासिक 'हंस' से इसी लक्ष्य की दिशा में उन्होंने कार्य भी किया था। जिस कालखंड में वे पंडित राधेश्याम कथावाचक के प्रति अपने गहरे सद्भाव और पारस्परिक आदर का प्रदर्शन करते हैं, भारतीय राजनीति में वह गहरे उथल-पुथल का काल था। प्रेमचन्द ने अपना बहुत महत्वपूर्ण लेखन अधिकांशत: इसी दौर में किया-सन् 1922 से 1932 के बीच। महात्मा गाँधी उन दोनों को एक समान लक्ष्य से जोड़ने बांधने वाले सूत्र थे। ब्रिटिश सरकार के दमन और साम्प्रदायिकता के उभार की दृष्टि से कहीं न कहीं वे एक समान कार्यभार की दिशा में गहरी अन्तरंगता का अनुभव करते थे। उन दोनों की मैत्री का आधार कोई निजी स्वार्थ या साहित्येत्तर समीकरण न होकर देश और समाज की व्यापक चिन्ता से जुड़ा था। यह समाज लक्ष्यों के लिए कला और साहित्य के उपयोग की आकांक्षा से जुड़ी मैत्री थी।

पंडित राधेश्याम कथावाचक ने 'मेरा नाटक काल' में इस बढ़ती हुई मैत्री के कारणों के कुछ संकेत दिए हैं, 'माधुरी' के लेख के बाद श्री प्रेमचन्द जी से मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया था। वे तीन बार बरेली आए हैं। पूरी तीन रातें-हम दोनों की बातों ही बातों में बीती हैं। वे भी यह चाहते थे कि नाटककार बनकर जनता के सामने आएं। पर बड़े ऊँचे विस्तार के वे थे... (मेरा नाटक काल, पृ. 141)। पत्राचार या अन्य किसी रूप में ऐसा कोई साक्ष्य आज उपलब्ध नहीं है, जो प्रेमचन्द की बरेली में इन तीन यात्राओं की सुनिश्चित सूचना दे सके। राधेश्याम कथावाचक इस प्रसंग में अपने नाटक 'ईश्वर भक्ति' (1929) का उल्लेख करते हैं, जिसे देखकर प्रेमचन्द जहाँ नाटक की कलात्मक उपलब्धियों से प्रभावित थे, वहीं वे उसमें आए चमत्कारों के प्रति पर्याप्त सशंक भी थे। अपनी यह शंका उन्होंने पंडित जी से छिपाई भी नहीं थी। अपनी सफाई और नाटक में प्रदर्शित उन चमत्कारों के लिए पंडित जी का तर्क था कि नाटक मूलत: एक व्यावसायिक आयोजन है। काफी बड़े ताम-झाम और पैसे की उसमें एक निर्दिष्ट भूमिका होती है। कम्पनी को नब्बे फीसदी पैसा उसी 'जनता' से

मिलता है, जो चमत्कार पर भी पागल होकर तालियाँ बजाती है। प्रेमचन्द ने उनके तर्क को धैर्य से सुना और फिर उसे इसी रूप में लिखने का सुझाव दिया ताकि वे उसे कहीं किताब में छपवा सकें।

कथा-लेखन और पत्रकारिता में जब प्रेमचन्द अपने उत्कर्ष पर थे-सन् 1925 से 1933 के बीच, उसी दौरान वे साहित्य एवं कला की, प्रभाव एवं त्वरित भूमिका की दृष्टि से, नाटक में भी संभावनाओं की टोह लेने के विचार से ही वस्तुत: राधेश्याम कथावाचक के और घनिष्ट सम्पर्क में आए। पंडित जी ने इसका संकेत भी दिया है- नाटककार के रूप में अपनी भूमिका की जैसे वे टोह लेना चाहते थे। भले ही वे मंचीय नाटक न रहे हों, 'संग्राम' और 'कर्बला' लिखकर वे इस दिशा में अपना हाथ आजमा चुके थे। चाहे नाटक कम्पनियाँ हों, जिनसे पंडित जी लम्बे समय तक अनेक रूपों में जुड़े रहे या फिर बम्बई में फ़िल्म-कम्पनियाँ हों, जिनके लिए दोनों ने ही अपने-अपने ढंग का कार्य किया था और स्थितियाँ अनुकूल होने पर शायद आगे भी करते। लेकिन दोनों क्षेत्रों में सपनों और वास्तविकता के बीच गहरा अन्तर था। अपने-अपने ढंग से दोनों एक से तनाव और चिन्ता से ग्रस्त थे और कुछ न कर पाने की हताशा से क्षुब्ध थे। ये हताशा और क्षोभ भी उन्हें कहीं गहराई से जोड़ते थे। बम्बई में प्रेमचन्द की मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, "प्रेमचन्द जब फ़िल्म लिखने बम्बई गए-तब वहाँ भी मैं उनसे मिला, उस समय तक उन्होंने समझ लिया था कि उनके विचार के संसार में कितना अन्तर है" (वही, पृ. 142)। इसे समझ लेने के बाद वहाँ टिके और बने रहने का कोई अर्थ न था।

हिन्दी सिनेमा में, उसकी सारी सीमाओं के बीच और बावजूद यह वह दौर था जब वही, शान्ताराम, सोहराब मोदी और पृथ्वीराज कपूर सामाजिक राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न फ़िल्मों का निर्माण कर रहे थे। बॉम्बे टाकीज महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाओं पर फ़िल्म बनाने की परम्परा शुरू कर चुका था। हिमांशु राय से उनकी दो-तीन मुलाकातें भी हुई थीं। हिमांशु राय बॉम्बे टाकीज से उन्हों जोड़ना चाहते थे। लेकिन नई कम्पनी के सीमित साधनों के कारण बात बनी नहीं क्योंकि पंडित जी के दिमाग में न्यू अल्फ्रेड की मासिक वृत्ति और इससे मिली ढेर सारी सुविधाएं थीं। बाद में पंडित जी ने स्वयं अनुभव किया कि उनके अनाप-शनाप मांगने के कारण ही वे चुप हो गए थे। इसका मलाल भी पंडित जी को रहा कि उनकी बात मान लेने पर वे नाटककार के

बाद फ़िल्मकार भी होते और उसकी कमाई का तो सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है। देवकी बोस 'सीता' और 'राजरानी मीरा' जैसी फ़िल्में बना चुके थे। इसी दौर में शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ आदि अनेक महत्वपूर्ण बांग्ला लेखकों की रचनाओं पर फ़िल्में बनीं।

अपने कलकत्ता प्रवास में पंडित जी 'बंगाली के बंगाली को आगे बढ़ाने' वाले गुण से खासे प्रभावित हुए। इस बीच शरतचन्द्र की रचनाओं पर बनी फ़िल्में उन्हें प्रेमचन्द की याद दिलाए बिना नहीं रहती। बंगालियों द्वारा बंगाली को प्रोत्साहित करने की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, "आज भी बंगला सिनेमा वाले शरतचन्द्र की कहानियाँ फ़िल्मों में पहुँचा-पहुँचा कर आगे बढ़ाते जा रहे हैं। यद्यपि मैं जानता हूँ कि प्रेमचन्द भी उनके किसी प्रकार कम नहीं है" (वही, पृ. 173)।

बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में वास्तविकता और सपनों के बीच की दूरी वस्तुत: कहीं न कहीं राधेश्याम कथावाचक की अपनी चिन्ता का हिस्सा भी थी। जिस कारण से प्रेमचन्द बम्बई से नहीं टिक सके, कमोबेश उसी कारण से राधेश्याम कथावाचक ने भी पहले थियेटर और फिर अन्तत: कथावाचक को भी अलविदा कह दिया। लेकिन प्रेमचन्द और राधेश्याम कथावाचक में जहाँ उन्हें सद्भाव और अंतरंगता के सूत्र में जोड़ने वाले अनेक सूत्र थे, वहीं एक बुनियादी अन्तर भी था। विचार और साहित्य की दुनिया में प्रेमचन्द एक ऊँची उड़ान वाले लेखक थे। मानवीय श्रम की गरिमा में उनकी अटूट आस्था थी। किसान और जनता की विपन्नता में वे उस धर्म को एक प्रमुख कारक मानते थे, जिसकी आड़ में जमींदार, कारिंदे, पुलिस और धर्म के ठेकेदार एक जोंक की तरह चिपटकर दृश्य-अदृश्य रूप में, इनका खून चूसते हैं। अपने निबन्ध 'महाजनी सभ्यता' में वे लिखते हैं, "मनुष्य समाज दो भागों में बंटा गया है। बड़ा हिस्सा मरने और खपने वालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा सी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए..." (प्रेमचन्द स्मृति, सं. अमृतराय, संस्करण 1959, पृ. 258)। इस सभ्यता के विकल्प के रूप में एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम में उगने का उल्लेख भी उन्होंने अपने इसी निबंध में

किया है। जिस धर्म की वे बेधक और तलस्पर्शी आलोचना करते हैं, उसकी मानव-विरोधी प्रकृति की कड़ी भर्त्सना करते हैं, कथा और पौराणिक नाटकों में पंडित राधेश्याम कथावाचक उसी धर्म में अपनी स्थायी शरण्य देखते और पाते हैं। उसकी शुद्धता में रसे-बसे आचरण को वे अपना रक्षा कवच बना लेते हैं। वे दूर तक उन ऐतिहासिक शक्तियों की टोह नहीं ले पाते, जो प्रेमचन्द की चिन्ता का एक बड़ा हिस्सा छेंकती हैं। महाजनी सभ्यता की कहीं न वे कोई बेधक आलोचना करते हैं और न ही उसके विकल्प को अपनी चिन्ता का हिस्सा बनाते हैं। लेकिन वे महाजनी सभ्यता के बढ़ते हुए आकर्षण से अन्त तक अपने को मुक्त रखते हैं और उस उपभोक्तावाद से गहरा परहेज करते दिखाई देते हैं। महाजनवाद जिसे बढ़ावा देकर मानव सभ्यता को दो हिस्सों में बांट रहा था।

प्रेमचन्द के बाद पंडित राधेश्याम कथावाचक को कोई सत्ताईस साल का जीवन और मिला। जवान बेटे घनश्याम के दु:खद असामयिक निधन ने उन्हें पूरी तरह तोड़ दिया। सांसारिकता से काफी कुछ मुक्त होकर वे उसी धर्म और अध्यात्म की शरण में चले गए, जिसने उन्हें हमेशा सहारा दिया था। तेजी से बदलते समय के साथ अपने को बदल पाना उनके लिए कठिन था। ऐसी कोई कोशिश भी उन्होंने नहीं की। कथा और आश्रम आज जहाँ करोड़ों की कमाई और सामाजिक स्वीकार्यता के साधन है, उन्होंने उस कथा के लिए कुछ लेना बंद कर दिया। बमनसुरी में होली पर होने वाली रामलीला, शहर में जहाँ-तहाँ मंचित उनके नाटकों और धार्मिक आध्यात्मिक आयोजनों में जब-तब वे उपस्थित रहे थे। महाजनी सभ्यता और उपभोक्तावाद के प्रतिरोध का कोई सक्रिय उद्यम उन्होंने नहीं किया। लेकिन स्वयं वे कभी उसका हिस्सा भी नहीं बने। उसके प्रति उदासीन रहकर ही, अपने ढंग से, वे उसका विरोध कर सकते थे और वही उन्होंने किया।

372, छोटी बमनपुरी
बरेली (उ.प्र.)- 243003
मो. : 09319838309

डॉ. हेतु भारद्वाज

जीवंत परम्परा के सूत्रधार : पं. राधेश्याम कथावाचक

मैं भले ही दावा कर लूँ कि मैंने गाँव को छोड़ दिया है, पर सच यह है गांव की बचपन की यादें मेरे मन में कुंडली मारे बैठी रहती हैं। अवसर मिलते ही चेतना पर आकर आहट देने लगती है। बचपन की यादें शायद जीवन भर पीछा नहीं छोड़तीं। हमारे गांव में एक ब्राह्मण थे-रामजीलाल, पूरा गांव उन्हें 'स्वामी जी' के पद से सम्बोधित करता था। वे कोई साधु-संत नहीं थे। उनका अपराध यही था कि वे रामलीला करते थे। उन्होंने खेती के स्थान पर रामलीला को अपना पेशा बना लिया था। उनका स्वर बहुत मधुर था तथा उनका गायन भी बहुत आकर्षक था। वे हारमोनियम तथा ढोलक बजाने में पारंगत थे। गांव के लोग उन्हें केवल मनोरंजन की वस्तु मानते थे। कोई उन्हें गंभीरता से आदर नहीं देता था। उनका विरुद 'स्वामी जी' आदर का नहीं व्यंग्य का प्रतीक था। उनकी अपनी मंडली थी तथा वे दशरथ तथा रावण दोनों की भूमिकाएं सफलतापूर्वक निभा लेते थे। वे महीने में एक दो बार गांव आते थे। वे ज्यादा पढ़े लिखे तो नहीं थे, पर अपने पेशे से बहुत संतुष्ट थे। गांव के लोगों की नज़र में वे 'नचकैया' थे। उपहास के आलम्बन थे।

जब वे गांव आते तो मैं उनके घर जाता और उनके पास जो पुस्तकें थीं, उन्हें पढ़ने के लिए ले आता। वे सहर्ष मुझे पुस्तकें दे देते-लौटाने की शर्त पर। उनके पुस्तक भण्डार में पं. राधेश्याम कथावाचक रचित रामायण थी जिसे प्राय: वे अपने साथ ले जाते थे। यह रामायण लोक में बहुत पसंद की जाती थी, क्योंकि रामलीला का मंचन उस समय इसी रामायण के आधार पर होता था। इसका कारण यह है कि कथावाचक जी ने बड़ी सरल भाषा में इसका प्रणयन किया है। उसकी लयकारी सबकी जबान पर आसानी से चढ़ जाती है तथा उसकी पंक्तियां आसानी से याद हो जाती हैं। लोगों की जबान पर इसकी पंक्तियां प्राय: डोलती रहती थीं। गांव के लोग भले स्वामी जी को पसंद न करते हों, पर उनसे रामलीला करने का आग्रह करते थे। कभी-कभी स्वामी

जी गांव में रामलीला का मंचन कर भी देते थे। यह अलग बात है गांव वाले उन्हें कोई आर्थिक सहयोग नहीं देते-स्वामी जी के प्रति अपने दुराग्रहों के कारण। उन दिनों रामलीला का प्रचलन बहुत था। यह अच्छी बात थी कि स्वामी जी गांव वालों के व्यवहार का बुरा नहीं मानते थे। मुझ जैसे बच्चों के समक्ष वे अपनी पीड़ा व्यक्त करते थे, पर हम लोग तो पूरी तरह असहाय थे।

उनके पास पुस्तकों का जो संकलन था, उसमें पं. राधेश्याम कथावाचक द्वारा रचित काफी नाटक तथा काव्य थे। उनके पास 'आल्हा' की एक मोटी जिल्द थी, जो शायद मटरूलाल एण्ड सन्स, मेरठ से छपी थी। उनके पास 'किस्सा तोता मैना', 'शाही लकड़हारा', 'अरब की हूर', 'लैला मजनू', 'हीर रांझा' जैसी छोटी-छोटी पुस्तकें थीं। इन्हें पढ़ने में बहुत आनंद आता था। स्वामी जी मुझे ये पुस्तकें पढ़ने के लिए उदारतापूर्वक दे देते थे। हर बार हिदायत देते-देख वापस कर देना। तू पढ़ने का शौकीन है इसलिए दे देता हूँ। मैंने पुस्तकें लौटाने में कभी बेईमानी नहीं की। कभी-कभी वे कथावाचक जी की रामायण से पंक्तियों का सस्वर पाठ करने का आग्रह भी करते। असल में रामायण की पंक्तियां सहज ही, दिल में उतर जाती थीं। अभी भी मुझे 'लक्ष्मण परशुराम संवाद', 'शूर्पणखा संवाद' की पंक्तियां याद हैं। लक्ष्मण परशुराम से कहते हैं-

जो ज्यादा मीठा होता है, वह अपना नाश करता है।
मीठे गन्ने को देखो तो, कोल्हू में पेला जाता है।

× × ×

भाई दो राम और लक्ष्मण इसी दण्डक वन में आये हैं।
सीता सुकुमारी प्यारी को अपने संग में वे लाये हैं।

बाद में मेरी समझ में आया कि भले तुलसीदास ने रामलीला की परम्परा देश में शुरू की हो किन्तु रामलीला को आज के युग में लोकप्रिय और बोधगम्य बनाने का श्रेय पं. राधेश्याम कथावाचक की रामायण को है। मंच पर बड़ी लय के साथ इसकी पंक्तियों का वाचन करना, पंक्ति के अंत में हारमोनियम , ढोलक मंजीरें आदि के साथ नगाड़े की गमक एक चिन्ताकर्षक वातावरण बना देती थी। दर्शक मुग्ध हो जाते थे। यह जमाना सांग (स्वांग), नौटंकी, जिकड़ी, ढोला, खयाल, तमाशा, आल्हा आदि

का था और लोग रात-रात भर जागकर इन नाटक तथा गायन रूपों का रसास्वादन करते थे। स्वामी जी की पुस्तकों ने मेरे मन इन सभी के प्रति गहरा आकर्षण उत्पन्न कर दिया। मैं यह मानता हूँ कि इस तरह मेरा लोक-प्रशिक्षण आरम्भ हुआ। मेरे पिता को यह सब पसंद नहीं था। अन्य गांव वालों की तरह वे भी स्वामी जी के प्रति कोई सदय नहीं थे।

इसका कारण मेरी समझ में बहुत बाद में अया। भारत में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ग्रंथ पूरे संसार में अपनी तरह का सबसे पुराना ग्रंथ है। संस्कृत का समस्त काव्य शास्त्र इसी ग्रंथ की व्याख्या में विकसित हुआ। रस निष्पत्ति सूत्र (विभावानुभाव व्यभिचारि भाव संयोग द्रस निष्पत्तिः) की व्याख्याएं भट्ट लोल्लट से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक एक लम्बे कालखण्ड में होती रही हैं। इसके अतिरिक्त छंद, अलंकार, रीति शब्द शक्ति, काव्य गुण, काव्य दोष आदि काव्य शास्त्र के सिद्धांतों की व्याख्या, रस सिद्धांत की व्याख्या के समान ही होती रही हैं। संस्कृत में कालिदास, भास, माघ, भारवि, भवभूति जैसे महान नाटककार हुए। नाट्यशास्त्र ग्रंथ में नाटक के प्रकारों तथा उनके मंचन के विविध अनुषंगों का जितना विशुद्ध और वैज्ञानिक विवेचन हुआ है, उतना विश्व के किसी ग्रंथ में नहीं है। नाटक को दैवी उत्पत्ति से जोड़कर इसे पंचम वेद माना गया। पश्चिम के आचार्यों ने भी इस ग्रंथ की महत्ता स्वीकार की है।

किन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि लगभग दसवीं शताब्दी के बाद भारत में नाटक मंचन की परम्परा प्रायः लुप्त हो गयी। हिन्दी में काव्योत्कर्ष तो हुआ पर रीतिकाल के अंत तक नाट्य लेखन हुआ ही नहीं। भारत में नाटक मंचन की परम्परा को जीवित करने का श्रेय पारसी थियेटर को है जो 19वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुए। पारसी थियेटर का भारत में उद्भव 1870 में हुआ। सबसे पहले ऑरीजिनल थियेट्रिकल कम्पनी बनी जिसके मालिक सेठ प्रिस्टनजी फ्रायजी थे। उसके बाद तो विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी, न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल जैसी अनेक कम्पनियां इस क्षेत्र में सक्रिय हो गयीं। यहां पर उल्लेख करना जरूरी है कि इन कम्पनियों का उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना तथा पैसा कमाना था। शुद्ध मनोरंजन करके किसी प्रकार के सामाजिक मूल्य या आदर्श स्थापित करना इनका उद्देश्य नहीं था। इनमें भोंडे चरित्रांकन, ऊटपटांग, संवाद, फूहड़ भाषा,

स्तरहीन चुटकुलेबाज़ी, सस्ते गाने और नृत्य आदि की भरमार होती थी। इनके विषय भी लैला मजनू, हीर रांझा, मशरिकी हूर, नशा-ए-इश्क, परदे की रानी जैसे होते थे जिनमें अश्लीलता तथा फूहड़ता परोसी जाती थी। इनके मालिक कहते भी थे-हमारा काम दर्शकों को खुश करना है, समाज सुधार का हमारा ठेका नहीं।

इन नाटकों की प्रकृति अश्लीलता की ओर झुकी होने के कारण भारतीय समाज और संस्कृति के अनुकूल नहीं थी। अत: समाज में इन कम्पनियों के खिलाफ एक नापसंदगी पसर रही थी। मो. अली नाखुदा, सोहराब जी, नारायण प्रसाद 'बेताब' आगा हश्र कश्मीरी जैसे अनेक लोग अपनी-अपनी कम्पनी के नाटकों में जनता का मनोरंजन कर रहे थे। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाटक की परम्परा का मौलिक तथा अनूदित नाटकों से सूत्रपात किया। उन्होंने 'नाटक' शीर्षक लम्बा निबंध लिखकर हिन्दी के नाट्यशास्त्र का आरम्भ किया। किन्तु पारसी थियेटर के नाटकों ने इस परम्परा के पल्लवित नहीं होने दिया। इन नाटकों ने समाज में नाटक विधा के प्रति अरुचि उत्पन्न की तथा लोग इस काम को ही घृणित मानने लगे। पारसी थियेटर की तीव्र आलोचना भी हुई। इसीलिए हमारे गांव के लोग स्वामी जी को हेय दृष्टि से देखते थे। यह बात अब मेरी समझ में भी आ गयी।

ऐसे समय में राधेश्याम कथावाचक जैसी प्रतिभा का इस क्षेत्र में उदय हुआ जिन्होंने पारसी थियेटर की निम्नगामिनी प्रवृत्तियों की भर्त्सना की। उन्होंने नाटक विधा की ताकत को पहचाना तथा उनके मन में खयाल आया कि हम भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, नील देवी जैसे नाटकों का मंचन क्यों नहीं करते? इस विधा का इस्तेमाल हम समाज सुधार के लिए क्यों नहीं करते? उन्होंने नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा हश्र कश्मीरी से इस सवाल पर बातचीत की। उन्होंने स्वयं अपनी कम्पनी खोली जिसका नाम था पारसी रिपव थियेट्रिकल कम्पनी तथा जिसके माध्यम से उन्होंने सबसे पहले शेक्सपीयर के 'हेमलेट' नाटक का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया-जिसका शीर्षक था-खून का खून।

यहीं से हिन्दी नाटक के क्षेत्र में एक नयी प्रस्थान यात्रा आरम्भ होती है। कथावाचक जी पारसी थियेटर की खूबियों को पहचानते थे अत: उन्होंने पारसी थियेटर का विधान बदलने का प्रयास किया। उन्होंने उसमें भारतीय संस्कृति तथा

समाज सुधार के रंग भरे। बेताब तथा हश्र ने उनका साथ दिया। पंजाब के बाबू नानकचन्द खत्री ने अपनी कम्पनी से 'रामायण' नाटक करने का प्रस्ताव रखा तथा राधेश्याम कथावाचक से उसमें संशोधन कराया। जब नाटक खेला गया तो वह बहुत सफल रहा। खत्री जी ने कथावाचक जी को इसके लिए एक हारमोनियम भेंट की थी। इसी प्रस्थान बिन्दु से पं. राधेश्याम कथावाचक ने अपनी कम्पनी से 'वीर अभिमन्यु' शीर्षक नाटक लिखा और खेला। 1917 में उन्होंने राधेश्याम प्रेस की स्थापना की तथा उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में लिखा है कि अकेले वीर अभिमन्यु नाटक की उस समय एक लाख से अधिक प्रतियाँ बिकीं। यह एक कीर्तिमान था।

इस प्रयास में उन्होंने सबसे पहले भाषा को उर्दू से हिन्दी की ओर उन्मुख किया। उन्होंने यह संकल्प किया कि उनके नाटकों में मनोरंजन तो कायम रहे पर अश्लीलता न आने पाये। पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक हो साथ ही दर्शकों को प्रेरणा देने वाला हो। नाटकों की भाषा को उन्होंने सम्प्रेषण का सूक्ष्म माध्यम बनाया। उन्होंने सरल, बोधगम्य, गेय तथा प्रेरक गीतों का अपने नाटकों में प्रवेश किया, जिनसे नाटकों की गरिमा बढ़ गयी। उन्होंने नयी-नयी लयों को अन्वेषण किया। उन्होंने जिस लोकप्रिय छंद विधान में 'रामायण' लिखी वह उनके नाम के साथ ऐसी जुड़ी कि अन्य लोगों ने उस छंद का प्रयोग किया तो उन्हें लिखना पड़ा-'बतर्ज राधेश्याम'। यह एक बहुत बड़ी बात थी एक छंद उनके नाम से जाना जाय। जैसे बड़े बड़े उस्तादों ने रागों का अन्वेषण किया वैसे ही कथावाचक जी ने नयी तथा लोकप्रिय लयों का अन्वेषण किया तथा उन्हें साहित्य में स्थापित किया।

उस काल में लीला, रास, स्वांग, भगत नाटंकी, तमाशा जैसे अनेक नाट्य रूप प्रचलित थे। इन सभी रूपों में उनके लेखक राधेश्याम जी की तर्जों का प्रयोग करने लगे। किताबों में वे राधेश्याम कथावाचक के नाम का उल्लेख 'बतर्ज राधेश्याम' के रूप में करने लगे। इस प्रकार पं. राधेश्याम कथावाचक ने पारसी थियेटर को भारतीय रंगमंच का नया रूप प्रदान किया। उनके नाटकों में जो पात्र अभिनय करते थे उनमें काबुली, मास्टर निसार, रहीम बख्श, मास्टर रहमत आदि अपने समय के प्रसिद्ध कलाकार थे। उन्होंने कितनी गम्भीरता के साथ नाटक की सेवा की, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त है-1916 में वीर अभिमन्यु नाटक का प्रथम बार मंचन हुआ,

जिसमें अर्जुन की भूमिका यहूदी कलाकार एलिजर ने अदा की थी। यही एलिजर हिन्दी की पहली सवाक फिल्म 'आलम आरा' में बादशाह की भूमिका में थे।

पं. राधेश्याम कथावाचक का रचना संसार बहुत व्यापक है। उनके काव्य तथा नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमानी, पुनरुत्थानवादी विषयों को समाहित करते हैं। उनकी सभी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के मूल्यों के संरक्षण तथा प्रसार का संदेश है। उन्होंनें अपनी रचनाओं में अश्लीलता और फूहड़ता को प्रवेश नहीं करने दिया। दरअसल पं. राधेश्याम कथावाचक अपने समय की एक महान प्रतिभा थे-वे युग पुरुष थे। उनका अनुकरण पारसी थियेटर की अनेक कम्पनियों ने किया। उनके नाटकों का मंचन अन्य कम्पनियां भी करती थी।

पं. राधेश्याम कथावाचक अद्भुत एवं नाटक और काव्य के प्रति समर्पित व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभा का विस्तार नाटक तथा लोकनाटक के विविध रूपों तक था एवं उन्हें इन कलारूपों की गहरी जानकारी थी। इतना ही नहीं अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने फिल्म संसार में अपनी जगह बनायी। एक बार वे कलकत्ता में रामायण की कथा का वाचन कर रहे थे, उस समय मास्टर निसार भी कलकत्ता में थे। वे सिने जगत के नामी व्यक्ति थे। उनका परिचय वहां राधेश्याम जी से हुआ। आलम आरा के बाद मास्टर निसार ने अपनी फिल्म 'शीरी फरहाद' बनायी, जिसके निर्माता जे.जे. मदान थे। मास्टर निसार ने राधेश्याम जी का जिक्र किया। जे.जे. मदान ने उन्हें बम्बई बुलाया और अपनी अगली फिल्म 'शकुन्तला' के गीत तथा संवाद पं. राधेश्याम जी से लिखवाये। फिल्म की अधिकांश कहानी गीतों में पिरोयी गयी थी। फिल्म अत्यंत सफल रही और राधेश्याम जी का डंका फिल्म जगत में बजने लगा। उनका परिचय क्षेत्र बढ़ता गया। पृथ्वीराज कपूर, केदार शर्मा, चन्द्र मोहन, सोहराब मोदी, के.एल. सहगल, हिमांशुराय, जद्दन बाई, (नरगिस की मां) जैसे लोगों से उनका नियमित मिलना-जुलना होने लगा। बॉम्बे टाकीज के हिमांशुराय ने उन्हें एक फिल्म की कथा लिखने का प्रस्ताव किया, पर हिमांशुराय पंडित जी की मांग को स्वीकार नहीं कर पाये। बॉम्बे टाकीज में 1940 में आई फिल्म 'उषाहरण' पंडित जी की लिखी रचना पर आधारित थी। सोहराब मोदी की 'झांसी की रानी' फिल्म के गीत पंडित राधेश्याम कथावाचक ने ही लिखे। फिल्म की मूल परिकल्पना में सोहराब मोदी ने इस फिल्म में गीत नहीं रखे थे। पर राधेश्याम जी के आग्रह पर उनके लिखे गीत फिल्म में रखे गये।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इन गीतों का कोई मानदेय सोहराब मोदी से राधेश्याम जी ने नहीं लिया। यह उनके व्यक्तित्व का बड़प्पन था। वे स्वयं भी फिल्म बनाने की आकांक्षा पाले रहे किन्तु पारिवारिक बाधाओं तथा अर्थाभाव के कारण वे अपनी आकांक्षा को साकार न कर सके। यह स्वीकार करना होगा कि फिल्म जगत में उन्होंने सम्मानजनक स्थान बनाया। उन्होंने इस माध्यम पर अपनी गहरी पकड़ का प्रमाण दिया।

पं. राधेश्याम कथावाचक को हमने शिष्ट साहित्य से अलग-थलग रखा तथा उनका सम्यक मूल्यांकन नहीं किया। वे सही रूप में 'जनकवि', 'लोककलाकार' तथा अपनी कला से जनता का मन बदलने वाले थे। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में दलित जनता को जागरूक बनाने का कार्य किया। वस्तुत: विभिन्न प्रदेशों में लोक साहित्य के क्षेत्र में जो अद्वितीय प्रतिभाएं जन्मीं, जैसे हरियाणा में पं. लखमीचन्द, मध्यप्रदेश में ईसुरी, बिहार में भिखारी ठाकुर, उनमें पं. राधेश्याम कथावाचक उच्चतम स्थान पर आते हैं। साहित्य में वे एक समृद्ध परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ए-243, त्रिवेणी नगर, गोपालपुरा बाईपास
जयपुर-302018 (राज.)
मो. : 9414752039

डॉ. जीवन सिंह

लोकप्रियता की कला और राधेश्याम कथावाचक का साहित्य

संसार में लोकप्रियता हरेक को हासिल नहीं होती। और दीर्घकाल प्रभावी लोकप्रियता तो विरलों को ही प्राप्त हुआ करती है। एक लोकप्रियता वह होती है जो किसी काल विशेष तक ही सीमित रहती है इसके बाद अपनी एक निश्चित भूमिका अदा करके समाप्त हो जाती है। दूसरी वह होती है जो युग-युगों को प्रभावित करती है। एक तीसरी वह होती है जो स्थायी नहीं होती किन्तु जब उस समय की स्मृति हो आती है तो वह भी सामने आ जाती है। कहना न होगा कि राधेश्याम कथावाचक इसमें तीसरे स्थान पर आते हैं। उनको ऐसी लोकप्रियता बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अपने समय में ही मिल गयी थी। उनकी कला को यदि कोई नाम दिया जाय तो उनकी कला यही लोकप्रियता की कला है क्योंकि उसमें वे सभी तत्व शामिल हैं जो किसी कला को लोकप्रिय बनाते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि उन्होंने इन कामों के साथ प्रेस भी लगाईं, पुस्तकें भी प्रकाशित कीं, भ्रमर नाम की पत्रिका भी निकाली। इसके अलावा तत्कालीन कांग्रेस पार्टी के सदस्य बनकर स्वाधीनता आंदोलन की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से भी वे जुड़े रहे। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि इसमें रूहेलखंड के उस प्रसिद्ध बरेली नगर के संगीत-नाट्यधर्मी वातावरण का भी कम योगदान नहीं रहा है, जहाँ तत्कालीन पारसी थियेटर को लोकप्रिय बनाने वाली अनेक नाटक कम्पनियाँ अपने नाटक करने आया करती थीं। कथावाचक जी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में खुद बतलाया है कि "नाटक कम्पनियों में बम्बई की 'न्यू अल्फ्रेड' यहाँ बहुत आती थी। शायद हर दूसरे या तीसरे साल आ जाती थी। कम्पनी बम्बई से जब चलती थी तो पहला स्टेशन बरेली ही होता था। बरेली दीवानी थी उस कम्पनी पर। सुना है कि भिश्ती मशकें बेचकर भी उस कम्पनी के नाटक देखने जाते थे। 'अलादीन', 'अलीबाबा' और 'चन्द्रावली' नाटक तब खूब चलते थे। इन्हीं के

गीत लोग गली-गली में गाते फिरते थे।'' (पृष्ठ 14-15, संस्करण 2004 ई.) संयोग कुछ ऐसा बना कि कम्पनी बरेली के जिस भवन यानी 'राजा चित्रकूट का महल' में ठहरा करती थी, वह भवन कथावाचक जी के घर के पास था। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' के आरम्भ में ही लिखा है कि- ''बरेली आने वाली नाटक कम्पनियाँ रहने के लिए प्राय: इसी महल को किराए पर लिया करती थी... कम्पनियों की 'रिहर्सलें' (तालीम) भी प्राय: इसी महल में होती थीं। जिनकी 'आवाजें' और 'गानों की धुनें' मेरे पछांव वाले कच्चे मकान में खूब आया करती थीं... और मैं (चार-पाँच वर्ष वाला) बड़े ध्यान और चाव से उन्हें सुना करता था।'' (वही पृष्ठ 13-14) इसके अलावा बरेली के जन-जन का वह संगीत-कला में डूबा वातावरण किसको उसके नशें में नहीं डूबो देगा। इसी के रंग में रंगकर राधेश्याम जी कथावाचक संगीतकार, गायक, नाटककार तथा नाट्यकला में प्रवीण हुए थे। वैसे भी नाटक कभी एक व्यक्ति की कला नहीं होती, वह समवेत कला होती है जिसको अनेक तरह के कलाकार एक जगह मिलकर एकजुट होकर सफल बनाते हैं। यह अलग बात है कि उसमें किसी की ज्यादा बड़ी भूमिका होती है तो किसी की उससे छोटी। वैसे नाट्य मंचन में सुई की भी बड़ी भूमिका हो सकती है। बहरहाल, छुटपन से ही गायक-कथाकार पिता का सान्निध्य कथावाचक जी को मिला था, जिससे आठ वर्ष की अवस्था में ही वे रामलीला के मंच पर सस्वर चौपाई सुनाकर पुरस्कृत भी हुए थे। कथावाचक जी ने यहीं 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी द्वारा पारसी नाट्य शैली में अभिनीत 'चन्द्रावली' नाटक पहली बार देखा। उन्होंने बरेली में उर्दू और हिन्दी दोनों की शिक्षा ग्रहण की थी। इस तरह से उनकी खड़ी बोली हिन्दी का एक हिन्दुस्तानी रूप बना जो पद्य में भी चला और गद्य में भी। महात्मा गाँधी और प्रेमचंद भी हिन्दी के इसी रूप के समर्थक थे। कथावाचक जी के द्वारा रचित राधेश्याम रामायण और नाटकों की भाषा इसी खड़ी बोली का हिन्दुस्तानी रूप है। कहना न होगा कि यह मिलीजुली हिन्दुस्तानी तहजीब का भी एक रूप है। इसकी खासियत यह भी थी कि भाषा का यह रूप उस समय के निम्न मध्यवर्गीय दर्शकों की बोलचाल से मेल खाता था, इसलिए इसके सम्प्रेषण में कोई बाधा नहीं आती थी। इसने भी राधेश्याम जी को लोकप्रिय बनने में काफी मदद की। दूसरी बात यह है कि उनके कथावाचक ने भी उनकी नाट्यकला को एक मजबूत आधार प्रदान किया। यदि वे कथावाचक न होते तो नाटक में उतने

लोकप्रिय नहीं हो पाते जितने वे हुए थे। उनके कथावाचक का श्रोता भी उनके काम में मदद करता था। वही उनके नाटकों का समय आने पर दर्शक भी बन जाता था क्योंकि उनके नाटक के अधिकांश प्रसंग उनकी कथाओं की तरह से धार्मिक हुआ करते थे। उनके नाटकों की धार्मिक अंतर्वस्तु ने भी धर्मपरायण जनता में उनको लोकप्रिय बनाने में मदद की थी। इसलिए उस समय उनकी धार्मिकता ने भी उनको लोकप्रिय बनाने में काफी मदद की। जबकि यह भी सच है कि हिन्दी नाटक और गद्य साहित्य की दिशा धार्मिक नहीं थी। भारतेंदु जी धार्मिक व्यक्ति जरूर थे किन्तु उनके साहित्य की एक प्रवृत्ति उस आधुनिकता की भी थी, जो हिन्दी साहित्य की भावी प्रवृत्ति बनी और उसी का विकास भी हुआ। प्रसाद जी ने अपने एकाध नाटक को छोड़कर इसीलिये पौराणिकता की बजाय प्राचीन ऐतिहासिक प्रसंगों को अपने नाटकों का विषय बनाया यद्यपि उनके मंचन के लिए एक नए तरह के रंगमंच की आवश्यकता थी जो उस समय में उपलब्ध नहीं हो सकी। इसकी वजह उनके नाटकों की वह अंतर्वस्तु भी थी जो आम दर्शक के पल्ले नहीं पड़ती थी। उसकी रूचि या तो तात्कालिक सामाजिक प्रसंगों में या फिर उस धार्मिकता में थी जिसे वह पुण्य कर्म भी मानता था। बहरहाल अनेक कारण थे जिन्होंने उस समय राधेश्याम जी की कला को लोकप्रिय कला बनाया। इनमें एक कारण उनकी वह भाषा भी थी जो दर्शक के मन में सीधे सीधे उतर जाती थी।

इस चलती हुई भाषा और उसमें व्यक्त धार्मिकता का असर दर्शक के हृदय तक होता था इसलिए इसको नए हिन्दी नाटक में स्वीकृति मिलने में देर नहीं लगी। यद्यपि उस समय की उर्दू भाषा के पैरोकार इस बात से आशंकित थे कि उर्दू वाक्य रचना और मुहावरे के अभ्यस्त दर्शक इसे आसानी से स्वीकार नहीं करेंगे। लेकिन जब पारसी थियेटर के नाटकों की इस नयी भाषा में आवक हुई तो दर्शकों ने इसको हाथों हाथ लिया। इसका प्रमाण राधेश्याम जी का पहला नाटक 'वीर अभिमन्यु' रहा जिसकी भाषा को लेकर कम्पनी के किरदारों और व्यवस्थापकों में ही बड़ी झिझक थी लेकिन यह राधेश्याम जी का आत्मविश्वास और 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी के डायरेक्टर सोराब शेठ जी का उनको सतत सहयोग ही था जो इनको सफलता के रास्ते पर ले जा सका। यहाँ यह बतलाना ठीक होगा कि इससे पहले के पारसी थियेटर के नाटककार आगा हश्र कश्मीरी और नारायण प्रसाद बेताब के नाटक उर्दू शैली के हुआ करते थे, जिनकी

मांग भी एक समय तक खूब रही थी इसलिए भाषा के किसी नए रूप और उसके साथ नाटक के किसी नए रूप को लाना एक चुनौती भरा काम था। चूंकि समय बदल रहा था और गांधी जी के नेतृत्व में स्वाधीनता आंदोलन एक नए तरह के आदर्श पेश कर रहा था इसलिए नए नाटक के लिए भी नया वातावरण बन रहा था। और नयी हिन्दी उसमें असरदार भूमिका निभा रही थी। इसी वातावरण की देन हैं राधेश्याम जी के पौराणिक आदर्शवादी नाटक। कहना न होगा कि वे अपने इन नए नाटकों में पौराणिक कथाओं के माध्यम से उनके चरित्रों में नयी संभावनाओं को डालते थे। इस चुनौती में सफल होना ही राधेश्याम जी को पारसी थियेटर के एक नए नाटककार के रूप में स्थापित ही नहीं करता वरन उसे एक नयी थियेटर के एक नए नाटककार के रूप में स्थापित करता है। यहाँ पर एक बात और उल्लेखनीय है जो तत्कालीन नाटक के कथ्य और उसकी संरचना को लेकर है।

दरअसल उस समय के दर्शक को राधेश्याम जी धार्मिक आदर्शवाद की ओर ले गए जो उनसे पहले मानवीय दुर्बलताओं की जरूरतों के अनुसार कुछ शाब्दिक यौनतुष्टि के मनोविज्ञान से प्रेरित होकर उर्दू भाषा के नाटक देखने आता था। कहना न होगा कि इस तरह के ढके-छिपे दर्शक को उन्होंने पारिवारिक दर्शक की तरह मोड़ने का काम किया और वे इसमें सफल भी हुए। उनके नाटकों की आदर्श भावना को देखकर पुरुषों के साथ उनकी गृहणियां और परिवार के अन्य सदस्य भी नाटक देखने के लिए साथ-साथ थियेटर में आने लगे। इससे दर्शकों में तेजी से अभिवृद्धि हुई। इसमें कम्पनी व्यवसाय के लिए भी एक नया अध्याय खुला। इसी से नाटककार के यश में भी चार चाँद लगे। इससे राधेश्याम जी की कीर्ति पताका तेजी से आसमान में फहराने लगी और वे कथावाचन के साथ पूरा समय नाटक को देने लगे। नाटक को समय देने का मतलब था, मांग और अभिरूचि के अनुसार नए-नए नाटक लिखना और उनका प्रभाव मंचन कराना। यह कहना गलत नहीं होगा कि उनके दर्शकों में गाँव का किसान उतना नहीं था जितना नए कस्बों-नगरों के निम्नमध्य और तत्कालीन मध्य वर्ग के लोग। गाँव के रंगमंच अभी तक भी रामलीला, रासलीला, स्वांग, भगत और नौटंकी वाले ही थे। उसकी वजह उनका बेटिकट निशुल्क होना भी था। पारसी थियेटर तो टिकट से चलता था और पूरी तरह से व्यावसायिक था। इन कम्पनियों में व्यावसायिकता की एक पारस्परिक होड़ भी बनी रहती थी और कई तरह के आपसी

झगड़े भी चलते रहते थे। यह स्वयं राधेश्याम जी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में लिखा है। इन्हीं के माध्यम से उनकी बात नीचे तक पहुँचती थी। राधेश्याम जी के घरेलू वातावरण के संस्कार ने उनको कथावाचक ही बनाया था किन्तु पारसी थियेटर और खासकर न्यू अल्फ्रेड कम्पनी और उसके डायरेक्टर सोराब शेठ ने उनको पारसी थियेटर का नाटककार एवं डायरेक्टर बनाने में बहुत सहयोग किया। इसमें उनकी अपनी लगन और प्रतिभा तो महत्वपूर्ण थी ही।

राधेश्याम कथावाचक एक ऐसे युगसम्बंध नाटककार थे जिन्होंने मंचील कला को धार्मिक होते हुए भी एक तरफ अपने युग की राष्ट्रीय जरूरतों से सम्बंध करते हुए युगीन संदर्भ प्रदान किया वहीं दूसरी तरफ उससे जनरंजन का काम भी बखूबी किया। इस मामले में वे अपनी बातें लोकजीवन से भी लेते थे और उसे अपनी वाणी और कला के साथ इस तरह से लौटाते थे कि उनका दर्शक उनका मुरीद हो जाता था। भारतेंदु जी के समय से जो हिन्दी रंगमंच बना था, उसको एक नए रूप में पारसी थियेटर के सहयोग से न केवल राधेश्याम जी ने विकसित किया वरन पारसी थियेटर को भी अपनी कला के अनुरूप एक मनोरंजनधर्मी कला से आगे बढ़कर सामाजिक कला के मंच के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह उनकी सबसे बड़ी देन है। वे जनरंजन और धार्मिक बोधन के उद्देश्य से उसे ही अपनी आजीविका का साधन बनाकर कथावाचन करने के लिए जीवन के मैदान में उतरे थे लेकिन परिस्थितियों ने उनको द्विवेदीयुग में प्रचलित उन सुधारात्मक साहित्य-प्रवृत्तियों से जोड़ दिया जो जनता में निचले लोकस्तर तक जनरंजन के साथ धार्मिक माध्यम से जनबोधन का काम किया करती थी। सच तो यह है कि उन्होंने मंचीय कला के माध्यम से अपनी बात और कला दोनों को आम जन तक पहुंचाया। उस दर्शक तक पहुंचाया, जो रामलीला, रासलीला, स्वांग, भगत और नौटंकी का दर्शक था। जिसे इस तरह के नाटक देखने का अभ्यास नहीं था।

उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती रामलीला के उस मंच की थी, जो रामचरितमानस की आस्था से संचालित होता था। उसकी धार्मिकता की एक ऐसी धाक दर्शक के मन पर थी जिससे उस मंच पर किसी अन्य का पाँव रख पाना मुश्किल ही नहीं, असंभव जैसा प्रतीत होता था। राधेश्याम कथावाचक की यही खासियत है कि उन्होंने अपने दर्शक की नब्ज को पकड़कर और अपने कथावाचक के अभ्यास से

एक ऐसी लय और तर्ज खोज ली जो दर्शक के मन को अपने प्रवाह में आसानी से बहा ले जाती थी। यह तर्ज, जो बाद में राधेश्याम तर्ज के रूप में प्रसिद्ध हुई कदाचित उनको उस समय पारसी थियेटर के उर्दू नाटकों में चलने वाले हल्के-फुल्के शे'रों के अभ्यास से मिली। ऐसा अनुमान होता है कि वे जब नाटक के संवाद सुनते और स्वयं लिखते थे तब उनको एक ऐसे छंद और तर्ज की जरूरत महसूस हुई जो स्वयं संवाद का काम भी करे और जरूरत पड़ने पर गीत-संगीत भी बन जाए। कहना न होगा कि तर्ज राधेश्याम इन दोनों जरूरतों की पूर्ति एक साथ करती है। दूसरी बात यह है कि इसकी लम्बी लय के कारण इसको सामान्य से सामान्य गायक-कलाकार भी आसानी से गा लेता है। या फिर ऐसा लगता है कि यह स्वांग या नौटंकी के बहरेतबील यानी ग़ज़ल की लम्बी बहर का हिन्दी रूप है। रामलीला में इसको नौटंकी के खिलाड़ियों द्वारा मैंने बहरेतवील में गाते हुए सुना है। तब इसकी लय बहुत नाटकीय बन जाती है। कुछ भी हो यहाँ राधेश्याम जी के कथावाचक के गायक का जब मिलन हुआ तब यह तर्ज निकल आयी। यह दरअसल संवाद की नाटकीय लय है। नाटक के लिए वे नयी से नई तर्ज सुनते भी थे और बनाते भी थे। बहरहाल यह उनकी एक ऐसी खोज थी जिसे लोकजीवन से उन्होंने अर्जित किया था। एक और बात, इसकी लय उस वीर छंद की लय भी है जो हिन्दी क्षेत्रों में आल्हा में प्रयुक्त होता है। कहना न होगा कि इसको आल्हा गायन की लय में भी गाया जा सकता है। संभव यह भी है कि इस छंद को वहाँ से उठाकर उन्होंने अपनी संवाद एवं कथा-लय प्रदान की। नाटक में प्रयुक्त गीतों की लय वे स्वयं तैयार किया करते थे। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि यह छंद आल्हा से है और उसकी तर्ज राधेश्याम जी की है। उल्लेखनीय है कि महाकवि जयशंकर प्रसाद ने भी अपनी कामायनी के कई सर्गों में इस छंद का प्रयोग किया है।

यहाँ मैं अपने अनुभव से भी तर्ज राधेश्याम और उनकी नाट्यधर्मी संवाद कला के बारे में कुछ बतलाना चाहता हूँ कि मैंने स्वयं अनुभव किया है कि रामलीला मंचन में राधेश्याम रामायण के संवाद ऐसे स्थलों पर विशेष काम आते हैं जहां तुलसी के अपने छोटे प्रसंगों को चलता कर दिया है। मसलन रावण-शूर्पणखा संवाद, रावण-मरीच संवाद आदि आदि। मैंने राजस्थान के भरतपुर जिले के अपने ब्रज-मेवाती लोकसंस्कृति वाले जुरहरा गाँव में लगभग डेढ़ सदी से बेनागा होने वाली रामलीला में लगभग तीन दशक तक रावण का अभिनय किया। अपने अभिनय में रामचरितमानस

की चौपाइयों के संवाद कथन के बीच राधेश्याम रामायण के संवादों का उनकी तर्ज के साथ जब प्रयोग किया तो दर्शकों पर उसका जो प्रभाव हुआ, वह अवर्णनीय है। सबसे पहले जब शूर्पणखा दरबार में रुदन करती हुई आती है तब रावण से उसका संवाद राधेश्याम जी की रामायण से ही किया जाता है। यद्यपि इस अवसर पर स्थानीय स्तर पर भी राधेश्याम तर्ज में कुछ बातें जोड़ ली जाती हैं। मसलन जब शूर्पणखा आती है और वह दो तपस्वी लड़कों के पंचवटी में आने की बात कहती हुई उनके द्वारा उसकी नाक काट देने की शिकायत करती है तो रावण उससे यह पूछता है...

क्यों गयी वहाँ तू शूर्पणखे, क्या मतलब था तेरा जाने का
कुछ भी तो कारण होगा ही तपस्वियों से नाक कटाने का।

कहने का तात्पर्य यह है कि ये पंक्तियाँ राधेश्याम रामायण में नहीं हैं। इसके बावजूद उसका गहरा असर इन पर है। बहरहाल यहाँ भी राधेश्याम जी द्वारा हिन्दुस्तानी भाषा का जिस तरह से प्रयोग किया है वह इस तरह के प्रसंगों के प्रभाव को बढ़ा देता है जैसे शूर्पणखा द्वारा राम-लक्षमण की वीरता का बखान करते हुए कहना...

बांके हैं और लड़ाके हैं, गोया शमशीर उन्हीं की हो
यों पंचवटी में रहते हैं जैसे जागीर उन्हीं की हो।

इन दो मिसरों की प्रकृति ग़ज़ल के शे''र जैसी है जिसका प्रयोग अक्सर नाटकों में किया जाता था। वैसे भी यह छंद यहाँ किसी ग़ज़ल की बहर सा लगता है क्योंकि इसमें 'उन्ही की हो' पंक्ति एक रदीफ़ की तरह है इसमें शमशीर और जागीर जैसे काफिये मौजूद हैं। जैसा कि पहले भी मैंने कहा है कि रामायण के कई प्रसंगों में उनकी अदायगी अशआर की तरह भी की जा सकती है। वैसे भी राधेश्याम जी की भाषा का आस्वाद तुलसी से अलग उस भाषा का है जिसमें उर्दू के शब्द यथावसर अच्छी मात्रा में प्रयुक्त किये गए हैं। इसमें दरअसल उनका अंदाजे बयां नया है और वही उनको नाटकों और कथाओं दोनों में लोकप्रिय बनाता है। इसके दो कारण हैं एक तो वे उर्दू पढ़े हुए थे। दूसरे उस समय तक संयुक्त प्रांत के मध्य वर्ग की भाषा लगभग यही थी। ग्रामीण इलाकों में हिन्दी की बोलियाँ बोली जाती थी। जहां रामलीला, रासलीला, नौटंकी, भगत या कथाएँ चला करती थी। इस तरह से सभी तरफ से

धार्मिक वातावरण का निर्माण एक तरह के सांस्कृतिक वातावरण की तरह बना हुआ था। इसमें राधेश्याम जी के नाटक आगा हश्र कश्मीरी और नारायण प्रसाद बेताब के उर्दू और उर्दू वातावरण प्रधान नाटकों के सामने खड़े हो सके। इसी वजह से तत्कालीन नाटक के दर्शकों के बीच उनके नए नाटकों की मांग तेजी से बढ़ने लगी। यही उनकी सफलता और लोकप्रियता का रहस्य है। एक बात और कि उनके नाटकों की मांग दूर दूर तक जाने लगी और इससे स्थानीय स्तर पर भी कई स्थानों पर रामलीला के अंत में दो या तीन दिन तक पारसी रंगमंच बनाकर नाटक खेले जाने लगे। मेरे गाँव जुरहरा में ही रामलीला के अंत में तीन दिन तक किये जाने वाले नाटक की शुरुआत 1933 ई. पारसी थियेटर पर मंचन से हुई। जिस तरह राधेश्याम जी द्वारा रचित नाटकों का मंचन भी अक्सर किया जाता था। यह तथ्य भी उनकी लोकप्रियता को सिद्ध करता है। उनके द्वारा रचित वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, रुक्मिणी मंगल, श्री कृष्णावतार, परिवर्तन आदि नाटक कई बार हमारे गाँव में 1933 से लम्बे समय तक मंचित किये गए।

चूंकि पारसी नाटक कम्पनियाँ अपना व्यवसाय किया करती थी इसलिए उनका उद्देश्य अपनी सीमा के बाहर जाकर जनता को कोई परिवर्तनकारी रूप में शिक्षित करना नहीं था। उस समय इतना ही पर्याप्त था कि पहले वे दर्शकों की विकृत होती अभिरुचि को परिष्कृत करें। निस्संदेह उसका परिष्कार राधेश्याम जी के नाटक करते हैं। राधेश्याम जी तत्कालीन नाटकों में प्रचलित मर्यादाहीन फूहड़पन से लड़े। यह उनकी उस सांगत का परिणाम था उन्होंने कांग्रेस के तत्कालीन आंदोलनकारी नेताओं के साथ की थी। महात्मा गाँधी से नजदीकी उल्लेख भी उन्होंने किया है। मोतीलाल नेहरू के आनंद भवन में उन्होंने कथा ही नहीं कही है वरन अपने ईश्वरभक्ति नाटक का देहली में उद्घाटन भी उनसे करवाया है। इसी सगत से उनकी भाषा द्विवेदीयुगीन खड़ी बोली के नजदीक आयी और धार्मिक नाटक में स्वाधीनता बोध की गुंजाइश पैदा हुई। यह भी है उनकी लोकप्रियता का रहस्य। यह वही समय है जब तत्कालीन उर्दू के नाटकों को देखने के लिए लोग अपनी महिलाओं के साथ नहीं जा सकते थे। जबकि राधेश्याम जी के नाटक आ जाने के बाद ऐसे दर्शक बेझिझक पारसी थियेटर के नाटक देखने जाने लगे। यद्यपि दर्शकों की अभिरुचि के अनुसार उनके नाटकों में आधुनिक जीवन मूल्यों की सीमित आवक होने के बावजूद वे नाटकों में चमत्कार की

युक्तियाँ भी लाते थे। प्रेमचंद उनके नाटकों के प्रशंसक थे। माधुरी में उनके एक नाटक श्रीकृष्णावतार की प्रशंसा में उन्होंने लिखा भी था। यद्यपि उनमें प्रयुक्त 'चमत्कार' की युक्ति पर प्रेमचंद ने उंगली भी उठाई थी। तब उन्होंने राधेश्याम जी के 'ईश्वर-भक्ति' नाटक में प्रयुक्त चमत्कारों से यह कहकर ''चमत्कार इसमें क्यों लिखे हैं'' असहमति व्यक्त की थी। तब उनको जवाब देते हुए राधेश्याम जी ने उनको बतलाया था कि ''जनता अभी वैसी नहीं बनी है... जैसे तुम हो... या तुम्हारे ख्याल के थोड़े से और दर्शक हैं। यह व्यवसायी कम्पनी के नाटक हैं, फेल हो जाये तो कम्पनी ही फेल हो जाए। नब्बे फीसदी पैसा हमें उसी जनता से मिलता है-जो चमत्कार पर भी पागल होकर तालियाँ बजाती है।'' (मेरा नाटक काल, पृष्ठ 141-42) इसका सीधा सा मतलब यह है कि व्यावसायिकता से किसी भी कला को अपने समय से आगे होने का कितना खतरा रहता है। यही वह कारण है कि तत्कालीन मंच पर भारी सफलता पा लेने के बावजूद राधेश्याम जी के नाटक अपनी अंतर्वस्तु में उस आधुनिक ऊँचाई को प्राप्त नहीं कर सके जो प्रसाद के नाटकों को हासिल हुई। लोकप्रियता तो निस्संदेह उनको खूब मिली लेकिन समय की ऊँचाई को पाने से वे महरूम रहे। प्रेमचंद का इस तरफ भी उनको संकेत रहा होगा कि आधुनिकता के इस जमाने में ये लम्बी दौड़ नहीं लगा सकेंगे और न ही अपने दर्शक की अभिरूचियों को आधुनिक जीवन मूल्यों की तरफ ले जा सकेंगे।

इससे पहले पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने भी एक बार नाराज होकर ही सही, इसी तरफ इशारा किया था कि इस तरह के पौराणिक थीम के नाटक ज्यादा नहीं चलेंगे। बहरहाल ये बातें विचारणीय हैं लेकिन व्यावसायिकता के दबाव में राधेश्याम जी आधुनिक जीवन मूल्यों की प्रस्तुति वाले और ज्यादा एवं बड़े रास्ते इस पर नहीं चल सकते थे। उन्होंने लोकप्रियता के रास्ते पर चलना जारी रखा और पौराणिक, सामाजिक और चन्द्रगुप्त जैसे ऐतिहासिक नाटक भी उन्होंने लिखे। नाटकों के रास्ते पर ही भविष्य में भी चलते रहे और उनमें खूब शोहरत भी बटोरी तथा कमाई भी खूब की। यद्यपि राष्ट्रीयता के सीमित भावों को भी वे इन नाटकों में व्यक्त कर दिया करते थे। आदर्श चरित्रों की योजना भी उन्होंने अपने नाटकों में की थी। वे ही थे जो 'परिवर्तन' नाटक की चन्दा को सन्यासिनी बना सकते थे। जिसके बारे में आगा हश्र कश्मीरी ने उनसे कहा था कि यह काम तुम ही कर सकते थे। इसका जिक्र राधेश्याम

जी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में करते हुए लिखा है कि "श्री आगाहश्र ने 'परिवर्तन' और 'मशरिकी हूर' देखकर एक दिन मुझसे कहा कि चन्दा का सन्यासिनी बनना और हमीदा का शादी न करके मदीने जाना हम नहीं लिख सकते थे, हमारे खून में यह तपस्या और त्याग है ही नहीं।

गांधी जी के अनुयायी ही ऐसा प्लाट स्टेज पर ला सकते थे।" (पृष्ठ 111) कहना न होगा कि इसी सीमा तक वे नवीनता ला सकते थे। इससे आगे पारसी थियेटर की व्यावसायिकता सीमा की दीवार आकर खड़ी हो जाती थी। इसके साथ राधेश्याम जी की एक बात और थी कि उनके लगभग सभी नाटक और नाट्यमंचन की सभी प्रक्रियाओं में सर्वधर्मसमभाव की भावना को बराबर रखा गया। उन्होंने कभी किसी अभिनेता को उसके धर्म के आधार पर पृथकवादी नज़रिए से नहीं देखा। उनके लिए सबसे बड़ी कसौटी अभिनेता की प्रतिभा और उसकी कलात्मक योग्यता हुआ करती थी इसीलिए उनके साथ हिन्दू-मुसलमान और पारसी मिलकर और एकजुटता से काम करते थे। उन्होंने प्रसाद जैसे तत्सम प्रधान परिष्कृत हिन्दी रूप को न अपनाकर उसके उस साधारण बोलचाल के रूप को अपनाया जिसमें उस समय तक उर्दू शब्दावली खूब खुलकर आती थी। इसके बाद हम जानते हैं कि हिन्दी में उर्दू शब्दावली तो रही किन्तु वह आमफहम शब्दावली से आगे नहीं बढ़ पाई, जैसी वह राधेश्याम जी के यहाँ है। उनकी भाषा सच में तो मैथिलीशरण गुप्त जी की काव्य भाषा के ज्यादा समीप है। यह उस समय की बनती हुई खड़ी बोली है। इस तरह से वे तत्कालीन खड़ी बोली काव्य भाषा के निर्माण में भी अपना योगदान करते हैं।

दरअसल यह बात नहीं है कि कथावाचक जी अपने अग्रगामी समय से परिचित नहीं थे। एक समय आया जब वे पारसी थियेटर की रंगमंचीय कला को सिनेमा की काल की तरफ भी ले गए यद्यपि प्रेमचंद जी की तरह उनको भी वहाँ का माहौल अपनी भावनाओं के अनुकूल नहीं लगा। उन्होंने पौराणिक सुधारात्मक नाटकों से अलग एक यह भी कोशिश की और ऐतिहासिक वस्तु जैसे वाल्मीकि के जीवन और उनकी साहित्य साधना पर 'महर्षि वाल्मीकि' शीर्षक से नाटक लिखा था। सच तो यह है कि कलकत्ता में जब वे बंगाली नाटक के संपर्क में आये और इससे पहले मराठी नाटक के यथार्थवाद से परिचित हुए तो हिन्दी में भी नाटक की इस नयी और आधुनिक प्रवृत्ति पर कुछ काम करने की इच्छा हुई। उन्होंने मराठी नाटक के बारे में

'मेरा नाटक काल' शीर्षक आत्मकथा की शुरुआत में ही लिखा है कि " मराठी कम्पनियों में 'नायक' जाति के नट प्राय: नहीं के समान मैंने देखे। मराठे ही उनमें अभिनय करते थे। अपने समाज की किसी भी बुराई को लेकर उनके लेखक (जो प्राय: विद्वान थे) नाटक लिखते थे... और मराठे नट भी उस नाटक में सराबोर होकर अपना अभिनय करते थे। (पृष्ठ 39-40) यहाँ खास बात नोट करने की यह है कि मराठी नाटकों में उस समय के अपने समाज की बुराइयों पर भी नाटक लिखे और खेले जाते थे। लेकिन यह परम्परा अन्य भाषाओं के नाटकों में उतनी नहीं आ पायी थी। कदाचित यही वजह रही कि आधुनिक नाटक के क्षेत्र में बंगाली और मराठी थियेटर अग्रगामी रहे। राधेश्याम कथावाचक जी के मन पर इन सबसे ज्यादा उस तत्कालीन गुजराती नाटक का प्रभाव ज्यादा पड़ा जो धार्मिक अंतर्वस्तु को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाता था। उन्होंने लिखा है कि "धार्मिक नाटकों तो 'काठियावाडी' (ब्राह्मण) ही बम्बई के स्टेज पर प्रारम्भ में लाये। भाषा उनकी भी 'गुजराती' थी। स्त्रियाँ उनकी कम्पनियों में नहीं रहती थी। लेखक भावुक थे, पुराणों से गाथा लेकर, स्टेज की दृष्टि से उसे उचित अदल-बदल कर खिलवाते थे। सीनरी अच्छी पेश करते थे। उनके नाटकों का मुझ पर खास प्रभाव पड़ा।" (पृष्ठ 40)

इतना ही नहीं कथावाचक जी ने कलकत्ते में रहते हुए यह भी जान लिया था कि हिन्दी नाटक का स्तर और ऊँचा उठाया जाना चाहिए। उन्होंने 'मेरा नाटक काल' में लिखा है कि "कितने ही समय से मेरे मस्तिष्क में यह विचार लहरें मारा करता था कि अब समय आ गया है... हिन्दी नाटक का स्तर ऊँचा उठाना ही चाहिए। 'मराठी' नाटक देखे थे। बंगला भी इधर कलकत्ते में देखे। दोनों भाषाओं के नाटकों में किसी एक विषय को लेकर खूब बहसें कराई जाती थी, लम्बे-लम्बे भाषण भी रखे जाते थे। उन्हीं के ढंग का नाटक हिन्दी में भी क्यों न लिखा जाय, इन्हीं विचारों से ओतप्रोत मैं एक सवेरे नदिया (नवद्वीप) में गंगातट बैठकर अपने एक पुराने लिखे हुए कथानक 'महर्षि वाल्मीकि' को नए सिरे से तरतीब देकर लिखने लगा।" (पृष्ठ 190) दरअसल उनके मन पर इस बात का गहरा प्रभाव था कि नाटक तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक वह दर्शकों के बीच मंचित नहीं होता। मंचन को ही वे नाटक की पूर्णता मानते थे। एक बात और जो बहुत महत्वपूर्ण है। वह है कि राधेश्याम कथावाचक ने थियेटर की कला को अपने जीवन में पूरा उतार लिया था। वे उसमें पूरी तरह से डूबे

हुए थे। नाटक उनकी प्रतिबद्धता हो गया था। यद्यपि कथावाचक उनकी प्राथमिक प्रतिबद्धता थी। कथावाचक भी उनके लिए एक तरह का वाचिक नाटक ही था। वैसे भी नाटकीयता के बिना कला बनती ही नहीं है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का बड़ा कारण उसकी जबरदस्त नाटकीयता और उसका नाटकीय शिल्प ही है। राधेश्याम जी भी अपने कथावाचन में इस कला का प्रयोग जरूर करते होंगे। राधेश्याम जी की रामायण की संवाद कला में यह देखा जा सकता है। उनको भी अपनी वाणी द्वारा विभिन्न पात्रों का वाचिक अभिनय करना पड़ता था, तभी उनका सम्मोहनकारी असर होता था। बहरहाल, जरूरत पड़ने पर वे नाटक में हारमोनियम बजा सकते थे, तबला भी बजा सकते थे और एक्टर की भूमिका भी अदा कर सकते थे। निर्देशन तो उन्होंने लम्बे समय तक किया ही था। कहने का मतलब यह है कि वे नाटककार और कथाकार के साथ पूरी तरह से एक मंजे हुए सधे हुए ऊँचे दर्जे के कलाकार थे। उनके व्यक्तित्व में एक पूरा कला-युग बोलता है।

1/14 अरावली विहार
अलवर-301002 (राजस्थान)
मो. : +91-9785010072

मूल : डॉ. पामेला लोथस्पिच
अनुवाद : डॉ. नितिन सेठी

वीर अभिमन्यु

प्रस्तुत आलेख डॉ.पामेला लोथस्पिच की प्रसिद्ध पुस्तक 'द एपिक नेशन: रिमेजनिंग द महाभारत इन द एज ऑफ द ऐम्पायर' के एक अध्याय पर आधारित है। 'द एपिक नेशन' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुई है। डॉ. पामेला अमेरिका में एशियन स्टडीज की प्रोफेसर हैं। पामेला जी ने प्रस्तुत पुस्तक में महाभारत के सम्बंध में महत्वपूर्ण विचार किए हैं। इसी में एक अंश पंडित राधेश्याम रामायण कथावाचक के प्रसिद्ध नाटक 'वीर अभिमन्यु' पर भी आधारित है, जिसका नाम है 'वीर अभिमन्यु एंड द फैबुलस पारसी थियेटर'। प्रस्तुत अध्याय का अंग्रेजी से हिन्दी भाषा में भावानुवाद हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य के प्रख्यात अध्येता डॉ. नितिन सेठी ने प्रस्तुत किया है, जिसके लिए डॉ. नितिन सेठी के हम आभारी हैं। (सम्पादक)

मैथिलीशरण गुप्त का जयद्रथ वध जब सन 1910 में प्रकाशित हुआ था, अनेक हिन्दी कवियों और नाटककारों ने अभिमन्यु विषय को आधार बताकर अपनी रचनाएँ लिखीं। तब कम से कम 11 कृतियाँ वीर अभिमन्यु के जीवन और पाँच कृतियाँ अभिमन्यु वध पर आधारित रही थीं। एक हिन्दी नाटक 'वीर अभिमन्यु' परिपूर्णानन्द वर्मा द्वारा कुल पाँच बार सन 1926 से 1937 के बीच में प्रकाशित किया गया। राधेश्याम कथावाचक का वीर अभिमन्यु नाटक जो सन 1916 में मंचित हुआ था, वह भी बड़ा प्रसिद्ध रहा। इस प्रकार अभिमन्यु का चरित्र उत्तर भारत की साहित्य परम्परा में एक महत्वपूर्ण विषय बनकर उभरा। अंतर केवल इतना ही था कि मैथिलीशरण गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी पत्रिका 'सरस्वती' की परम्परा से निकले थे जबकि राधेश्याम कथावाचक पारसी थियेटर की परम्परा से सम्बन्धित रहे थे। दोनों रचनाकारों का लक्ष्य एक ही था-महाभारत पर आधारित कथा का शब्दांकन। कथावाचक भी वीर अभिमन्यु जैसे हिन्दू चरित्रों को मंच पर लाते थे और इस तरीके

से देशवासियों में हिन्दुत्व का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे। दोनों ही लेखक खड़ी बोली हिन्दी का स्तर भी उठाना चाहते थे। परन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण अंतर था। गुप्तजी ने ब्रजभाषा कविता को अपना माध्यम नहीं बनाया जबकि कथावाचक ने ब्रजभाषा साहित्य से बहुत सारी सामग्री अपने सृजन के लिए प्राप्त की। कथावाचक ने महाभारत से अनेक विषयों को स्टेज के हिसाब से परिवर्तित भी किया था। उनके सामने सामाजिक प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण थे, जिस कारण पंडित राधेश्याम ने अपने लेखन में अपेक्षित परिवर्तन भी किए थे।

पंडित जी ने उस समय की अभिमन्यु आधारित अनेक कृतियों का अध्ययन किया था परन्तु उन्हें अनुभव हुआ कि इनमें से अधिकांश मंच के लिए उपयुक्त नहीं था। इसीलिए वह महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित सचित्र महाभारत खरीद कर लाए और इसके आधार पर अपना अभिमन्यु नाटक लिखा। कथावाचक न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी मुंबई के सोराब जी फरामजी ओगरा के कहने पर इसके कथ्य पर काम कर रहे थे। कथावाचक की स्क्रिप्ट से प्रभावित होकर उन्होंने उनके इस नाटक के मंचीय प्रस्तुतिकरण की हामी भर दी। उल्लेखनीय यह भी है कि आगा हश्र कश्मीरी द्वारा लिखित 'सूरदास' के मंचन को भी उन्होंने राधेश्याम के इस अभिमन्यु नाटक के कारण रोक दिया। वीर अभिमन्यु का प्रथम नाट्यमंचन 4 फरवरी सन 1916 के दिल्ली के संगम थियेटर में हुआ। हॉल खचाखच भरा था। सभी लोग सोच रहे थे कि छह घंटे लम्बा यह नाटक दर्शकों को पसंद भी आ पाएगा या नहीं। अनेक उहापोहों के बीच जब इस नाटक का मंचन किया गया, अप्रत्याशित परिणाम मिले। 'सरस्वती', 'विजय', 'ब्रह्मचारी', 'सनातन धर्म पताका', 'प्रताप', 'प्रतिभा' आदि पत्र-पत्रिकाओं ने वीर अभिमन्यु की सर्वांग प्रशंसा प्रकाशित की। महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रशंसा मिलने पर कथावाचक लिखते हैं, ''मैं फूला नहीं समाया। देश के कोने-कोने में अभिमन्यु का मंचन किया गया।'' अपने प्रथम नाटक वीर अभिमन्यु के बाद कथावाचक जी ने और भी अनेक नाटक लिखे, जो हिन्दू चरित्रों पर आधारित थे। 'श्री कृष्ण अवतार' नाटक के अभिनेता भोगीलाल के चित्र की तो लोग अपने-अपने घरों पर पूजा किया करते थे। इसी प्रकार 'परमभक्त प्रह्लाद' और 'श्रवण कुमार' भी व्यावसायिक रूप से सफल नाटक थे। 'श्रवण कुमार' सन 1967 तक चौदह बार प्रकाशित किया गया। कथावाचक ने 'परिवर्तन' नाम का एक सामाजिक नाटक भी

लिखा, वह भी ओबरा जी के कहने पर। उन्होंने 'परिवर्तन', 'मशरिकी हूर', 'श्री कृष्ण अवतार', 'रुक्मणी मंगल', 'श्रवण कुमार', 'ईश्वर भक्ति' और 'द्रौपदी स्वयंवर' नामक कुल सात नाटकों का निर्देशन भी किया। 'वीर अभिमन्यु' की प्रसिद्धी के बाद की सफलता के बाद पंडित राधेश्याम न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के स्टाफ लेखक बन गए। यद्यपि उन्होंने बहुत सारे नाटक इस कम्पनी के लिए लिखे, साथ ही साथ कुछ नाटक अन्य कम्पनियों के लिए भी उन्होंने लिखे। इनमें 'सूर्य विजय समाज' और कोलकाता की 'मदन थियेटर' नामक कम्पनियाँ प्रमुख हैं। न्यू अल्फ्रेड से उन्होंने सन 1930 में इस्तीफा दे दिया और मदन थियेटर में काम करने लगा। कथावाचक जी ने 'शकुंतला' नाम की फ़िल्म के संवाद और गाने भी लिखे। उन्होंने इस फ़िल्म का निर्देशन भी किया और यह बड़ी प्रसिद्ध हुई। 'श्री सत्यनारायण' और 'झांसी की रानी' फ़िल्म की कहानियाँ भी कथावाचक जी ने लिखीं। कथावाचक जी न केवल नाटकों और फ़िल्म कहानी के प्रसिद्ध लेखक थे बल्कि अपने समय के प्रसिद्ध कवि भी थे। उन्होंने न केवल अपने नाटकों को गीतों के ढाला, बल्कि 'कृष्णायन' और 'रामायण' जैसे महाकाव्यों की रचना भी की। इसके अतिरिक्त भी उनके अनेक गीत, भजन, छंद आदि धार्मिक और ऐतिहासिक चरित्रों पर आधारित मिलते हैं। मुख्यत: उन्हें 'राधेश्याम रामायण' नामक ग्रंथ से काफी प्रसिद्धी मिली थी। उल्लेखनीय बात यह भी है कि रामानंद सागर द्वारा निर्मित 'रामायण' धारावाहिक के बहुत सारे स्त्रोत राधेश्याम रामायण से ही लिए गए हैं। अपने समय में कथावाचक जी भारत भर में प्रसिद्ध थे। राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', विशंभरनाथ कौशिक आदि सभी ने राधेश्याम जी की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है। नेपाल सरकार ने तो उन्हें 'कथा वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की थी। उत्तर प्रदेश सरकार ने मेरा नाटक काल पर उन्हें सम्मानित किया था। सन 1927 में 'हिन्दी नाट्य परिषद्' और 'बजरंग परिषद्' ने भी उनके सम्मान में आयोजन किए थे। अपने जीवनकाल में ही पंडित राधेश्याम को नाम और नामा दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिले। आश्चर्य की बात है इसके बाद के अनेक आलोचकों ने पंडित राधेश्याम के सृजन को उतनी मान्यता नहीं प्रदान की।

अपने लेखन काल के आरंभ में कथावाचक जी को अपने नाटकों को प्रकाशित

करवाने का एकाधिकार नहीं प्राप्त था। इसका वर्णन वे अपनी पुस्तक 'मेरा नाटक काल' में करते हैं। वे बताते हैं कि न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के प्रबंधक गौरीशंकर मिश्रा द्वारा अंग्रेजी में दिए गए कांट्रेक्ट पर उन्होंने कितने बेमन से हस्ताक्षर किए थे। इसमें न्यू अल्फ्रेड कम्पनी ने 'वीर अभिमन्यु' नाटक का एकाधिकार पंडित राधेश्याम से मांगा था। कथावाचक जी आगे भी बताते हैं कि वैसे दो या तीन वर्षों बाद 'वीर अभिमन्यु' को प्रकाशित करने का अधिकार कम्पनी ने उन्हें दे दिया था। 'श्रवण कुमार' के सन 1916 के संस्मरण में भी वे कम्पनी प्रबंधन का इस बात का धन्यवाद ज्ञापित करते हैं कि कम्पनी ने उन्हें नाटक प्रकाशित करने और बेचने का अधिकार प्रदान किए। सन 1924 में न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के साथ पंडित जी ने एक कांट्रेक्ट किया, जिसमें उन्हें अपने नाटकों को प्रकाशित करने का अधिकार मिल गया परन्तु वे इन्हें तभी प्रकाशित कर सकते थे, जब वे उस नाटक के बाद एक अगला नाटक लिख लें। तब भी सन 1943 तक कथावाचक जी के कुछ नाटक कॉपीराइट के झगड़े के कारण प्रकाशित नहीं हो पाए थे। कथावाचक जी ने सन 1917 में अपनी प्रेस 'राधेश्याम पुस्तकालय' खोली थी। उस समय भी साहित्य चोरी की प्रथा थी। इस कारण अपना फोटो और हस्ताक्षर वे इन पुस्तकों पर छापा करते थे। तभी उन्होंने देखा कि बरेली के ही पास की एक प्रेस ने वीर अभिमन्यु की दो हजार कॉपी धोखाधड़ी से छाप ली हैं। आश्चर्य यह भी था कि उसमें उनका फोटो और हस्ताक्षर भी थे। परन्तु उनके पुत्र ने इन सब पुस्तकों को बाजार में जाने से पहले ही जब्त करवा लिया था। इसी अंतराल में एक लेखक थे वेणीराम त्रिपाठी, जिनके तीन नाटक 'वीर अभिमन्यु', 'श्रवण कुमार' और 'भक्तवर प्रह्लाद' पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों से बहुत ज्यादा साम्य रखते थे। वैसे वेणीराम त्रिपाठी के नाटक अपने कथ्य और प्रस्ततीकरण में राधेश्याम जी की कलम से उपजता था। त्रिपाठी जी के भावहीन और रसहीन वर्णन कथावाचक जी के नाटकों के सामने कहीं नहीं ठहर पाए। त्रिपाठी जी ने बड़ी संख्या में धार्मिक और ऐतिहासिक विषयवस्तु के नाटकों की रचना की। उनकी अधिकांश रचनाएँ कम गुणवत्ता के कागज पर छपती थीं। यहीं अंतर दोनों की पुस्तकों के मुख्यपृष्ठों में भी रहता था।

पंडित राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' का मुख्य प्लॉट महाभारत की एक कथा है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है। उस समय के व्यवसायिक

नाटकों की तरह ही इसमें भी प्रत्येक अंक के बाद पर्दा गिरता है और कुछ भावुकता भरे संवाद आते हैं। प्रथम अंक में कौरवों द्वारा चक्रव्यूह बनाना और अभिमन्यु की निर्मम हत्या के दृश्य रखे गए हैं। दूसरे अंक में अभिमन्यु की मृत्यु का बदला और अर्जुन द्वारा जयद्रथ के वध की शपथ दिखाई गई है। तृतीय अंक में श्रीकृष्ण की सहायता से अर्जुन जयद्रथ का वध कर देते हैं। नाटक की गति तीनों अंकों में समान है। अधिकांश संवाद गीतों और कविताओं में रखे गए हैं। कथावाचक जी ने महाभारत के समानांतर ही वीर अभिमन्यु की कथा भी चलाई है। यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध' की भाँति ही कुछ आवश्यक सुधारवादी उत्साह से करते हैं। इसमें वे भाषा का प्रश्न भी उठाते हैं। नाटक का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। सूत्रधार, नट और नदी का आपसी संवाद भी है; जिसमें वे मंच पर खेले जाने वाले नाटक का आपस में वर्णन करते हैं। वे यह भी दर्शाते हैं कि यह 'वीर अभिमन्यु' नाटक पारसी रंगमंच पर दिखाए जाने वाले वध दृश्यों से किस प्रकार अलग है। कथावाचक जी का सदैव यह प्रयास रहा कि वे कुछ ऐसा दिखाएँ जिसमें मनोरंजन के साथ-साथ हमारे देश और समाज का भी कल्याण हो। नाटक के अभिनेता से राधेश्याम जी कहलवाते हैं, "और सुनो यह एक हिन्दू नाटक है। हिन्दी भाषा का इसमें प्रयोग है। सभी अभिनेताओं को समझा दिया जाए कि वे हिन्दी और हिन्दू दोनों का ही आदर और सम्मान, अपने चरित्रों और प्रदर्शन में और अपने संवादों में बनाए रखेंगे क्योंकि हमें आर्य सभ्यता का गौरवपूर्ण इतिहास जनता तक पहुँचाना है। वास्तव में यह शुरुआती संवाद कुछ राजनैतिक विचार लिए हुए रहते थे। एक प्रकार से राधेश्याम दर्शाना चाहते थे कि समय की माँग है। देश की संस्कृति भी हिन्दी और हिन्दुत्व के कारण ही बची रह सकेगी। ये सब बाते हिन्दुत्व के प्रति कथावाचक जी का समर्पण दिखलाती हैं। उल्लेखनीय है कि अपने नाटकों की विषयवस्तु और भाषा-शैली, दोनों ही पंडित जी ने भारतीय भूभाग से सम्बंधित रखें। धार्मिक-राजनैतिक एजेंडे का अंतर्गुंफन यहाँ स्पष्ट दर्शनीय है।

वीर रस और श्रृंगार रस में भाषा प्रयोग-

'वीर अभिमन्यु' में कथावाचक ने अभिमन्यु का उत्तरा से सम्पर्क दिखलाया है। गुप्त जी की तरह ही राधेश्याम दिखलाते हैं कि वीर अभिमन्यु अपनी पत्नी उत्तरा के

पास जाता है और उसे अपनी जीत का आश्वासन देता है। उत्तरा तक पहुँचने से पहले अभिमन्यु अपने हृदय मं एक अंतर्द्वन्द्व महसूस करता है, ''मेरी वीरता कह रही हो, जाओ! जाओ! जाओ और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो। जाओ शत्रुओं को नष्ट कर दो। जबकि मेरा प्रेम कहता है युद्ध के मैदान में जाने से पहले प्रेम के मैदान में जाओ। अपनी उत्तरा को बाहों में भर लो और मुरझाती हुई माधुरीलता को रसवंती बना दो। अभिमन्यु सोचता है जितना वह वीरता का निवेदन मांगता है, उतना ही प्रेम का तत्व उसको अपने मोहपाश में लेता जाता है। यहाँ राधेश्याम जी एक कविता भी रखते हैं-

देखो, प्रेम का पंथ निराला,
नैना थके प्रेम-रस भरत न प्यास-पियाला।
क्षीर उठत है महावेग से, जब लागत है ज्वाला,
बैठ जात है वाही छिन, जब जल की छींटा डाला।
देखो प्रेम का पंथ निराला।।

द्रष्टव्य है, यहाँ कथावाचक जी ने ब्रजभाषा का प्रयोग भी किया है। प्रेम के आवेगों को दर्शाने के लिए कथावाचक जी ब्रजभाषा का आश्रय लेते हैं। जबकि अधिकांश नाटक का हिस्सा खड़ी बोली हिन्दी में ही रचा गया है। इस कविता में अभिमन्यु प्रेम का कराल पंथ दर्शाता है। जिस प्रकार उफनते हुए दूध पर पानी का छींटा डालें तो दूध का उबलना शांत हो जाता है। अभिमन्यु की स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की है। अभिमन्यु सोचता है जिस क्षण मैं उत्तरा से मिलूंगा, उसके प्रेम की भावना शांत हो जाएगी। इस समय अभिमन्यु प्रेम और कर्त्तव्य के भंवर में फंसा हुआ है। पंडित राधेश्याम कथावाचक यहाँ ब्रजभाषा के विरह वर्णन का शाब्दिक चित्र उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार वे उत्तरा के विरह वर्णन को दर्शाते हैं। उत्तरा भी वर्षा का एक गीत गाती है और अपने अनुपस्थित पति को याद करती है। उत्तरा का विरह होली की बरसात में दिखाया गया है, जिसमें श्लेष अलंकार के द्वारा कथावाचक लिखते हैं, ''वर साथ नहीं अर्थात् बरसात नहीं''। ये दो दिन उसे दो वर्षों के समान दु:खदाई लगते हैं। राधा और शकुंतला की तरह ही वह भी विरह से व्यथित है और उसकी सखियाँ उसके स्वास्थ्य की चिंता करती हैं। जब अभिमन्यु पहुँचता है, उत्तरा प्रसन्न होती है; परन्तु जल्दी ही युद्ध के बारे में सुनकर वह दु:ख के सागर में डूब जाती है। अभिमन्यु उसे समझाता है और कहता है कि मैं अपने वीर रस के उद्यान को तुम्हारे

प्रेम जल से सींचने आया हूँ। वह कहता है, ''तुम्हारे चेहरे पर ये आँसू ऐसे लग रहे हैं, मानो सूरजमुखी के पुष्प पर ओस के कण। उत्तरा का हृदय अभी भी व्यथित है और वह अपशकुन देखती है। अभिमन्यु अभी भी युद्ध में जाने की जिद करता है और उत्तरा मानो उसको न जाने के लिए कहती है। ध्यान से देखा जाए तो पंडित राधेश्याम कथावाचक अभिमन्यु और उत्तरा के चरित्रों का मानवीय स्वभाव यहाँ दर्शाते हैं। वीर रस के आगे शृंगार रस हार जाता है। यह सत्य भी है। देश के लिए लोग स्वयं का और अपने परिवार का बलिदान करने में नहीं हिचकते।

चक्रव्यूह में जाने से पहले अभिमन्यु प्रण करता है कि वह चक्रव्यूह को भंग करके दिखाएगा। युद्ध में अभिमन्यु पराक्रम दिखाते हुए कौरवों द्वारा निहत्था मारा जाता है। यहाँ प्रथम दृश्य का समापन हो जाता है। पंडित जी ने वीर और करुण का सुंदर समन्वय किया है। अभिमन्यु और उत्तरा के दैवीय संबंधों में शृंगार रस है। कथावाचक जी के नाटकों में व्यवसायिकता और रंगमंचीयता की दृष्टि से कुछ दृश्य अवश्य जोड़े जाते थे। सामान्य सी बात है जनता भी कुछ ऐसे काल्पनिक चित्र देखना चाहती थी। इसीलिए भावुकता के कुछ बिन्दु इस प्रकार जोड़े जाते थे कि जनता की भावनाएँ नाटकों के साथ जुड़ सकें। उदाहरण के लिए जब अर्जुन जयद्रथ और उसके पिता का वध करते हैं, तब व्याकुल भारत नाम की कम्पनी में दर्शाया गया है कि भयंकर तूफान आता है, बिजली कड़कती हैं और बारिश होने लगती है। तारे आकाश से गायब हो जाते हैं। बड़े-बड़े राक्षस दिखाई देते हैं, जिनके मुँह से आग और साँप निकल रहे हैं। आकाश में तीर चलने लगते हैं। कुछ निर्धारित दृश्य तो पारसी थियेटर में निर्धारित ही रहते थे, जो जनता की उत्तेजना भी बढ़ाया करते थे। वैसे तो इस प्रकार के दृश्य इन नाटकों के सत्यता में एक प्रकार की बाधा थे परन्तु व्यवसायिक बुद्धि स्वर्ग की ओर ले जाते हैं। जब अर्जुन जयद्रथ का वध करते हैं और जब विजयी पांडव अपने उत्तराधिकारी परीक्षित को राज्य सौंप देते हैं, तब इस प्रकार के दृश्यों का आना आम बात है। कथावाचक लिखते हैं, ''अभिमन्यु चक्रव्यूह के दृश्य में मैं भी भाव विह्वल हो गया था। जब देवता उसको स्वर्ग में ले जाते हैं और पुष्प वर्षा करते हैं जनता ने अनेक बार पर्दा उठाने का और यह दृश्य दिखाए जाने का आग्रह किया। वंस मोर-वंस मोर की आवाजों ने मुझे भी भुला दिया।'' उस समय के पारसी थियेटर का यह भी गुण था कि बीच-बीच में हास्यप्रधान दृश्य रखे जाते थे। बेताब की 'महाभारत'

और अन्य पारसी नाटकों में यह परम्परा मिलती हैं। पुरुष कॉमिक का किरदार स्वयं ओबरा जी निभाते थे। विदूषक राजबहादुर वीर पांडवों के बिल्कुल ऑपोजिट रूप में था। राजबहादुर दिशाहीन और लक्ष्यहीन है। वह दुर्योधन की चापलूसी करता है और राजबहादुर की पदवी प्राप्त करता है। दर्शकों को भी वह समझाता है, ''यदि जीवन का आनंद लेना चाहते हो तो चापलूसी करना सीखो। यदि धनी होना चाहते हो, बड़ा आदमी बनना चाहते हो तो तलवे चाटना सीखो। तुम्हें किसी विद्यालय जाने की आवश्यकता नहीं है, चापलूसी सीखने के लिए। सबसे अच्छे गुरु तो भद्रपुरुष हैं, धनी नौकर, वेश्याएं, अभिनेता और दरबारी लोग हैं। एक सामान्य से व्यापारी का बेटा भी जागीरदार बन सकता है।'' राजबहादुर को गाने गाते भी दिखाया गया है। वास्तव में इस प्रकार के चापलूस चरित्र रखने के पीछे पंडित राधेश्याम कथावाचक का एक दृष्टिकोण था। वे जमींदार वर्ग पर प्रहार करना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार कोई न कोई उपाधि, जागीरें, धनराधि आदि देकर अनेक जमींदारों को अपना गुलाम लेती थी। इसी क्रम में आगे दिखाया गया है कि राजबहादुर अंतर्रात्मा की आवाज पर युद्ध में भाग लेने से मना कर देता है, जो दर्शाता था कि अनेक जमींदारों ने स्वतंत्रता सेनानियों से प्रेरित होकर ब्रिटिश सरकार की गुलामी करना छोड़ दिया था। राजबहादुर उर्दू भाषा का प्रयोग करता है। पंडित राधेश्याम उसकी सामाजिकता पर भी व्यंग्य करते हैं। पर्दा-प्रथा का पालन, स्त्री शिक्षा के विरोध और विधवा विवाह के विरोध पर पंडित जी इन चरित्रों की जमकर खिंचाई करते हैं। राजबहादुर की चिंता है कि उसकी नई-नवेली पत्नी सुंदरी को खूब सारी आजादी चाहिए। इसका कारण वह स्त्री शिक्षा को ही दर्शाता है। वह डरता भी है कि उसकी पत्नी सुंदरी उसकी मृत्यु के बाद पुनः विवाह कर लेगी। सुंदरी को यहाँ उत्तरा के विपरित चरित्र में दर्शाया गया है। अपनी मजाकिया प्रवृत्तियों के बावजूद भी 'वीर अभिमन्यु' कर यह चरित्र धार्मिक उन्माद, महिलाओं की सामाजिक स्थिति और जमींदारी व्यवस्था को भली-भाँति सामने लाता है।

यह मात्र संयोग नहीं है कि 'वीर अभिमन्यु' जहाँ एक ओर पारसी थियेटर में धार्मिक चरित्र बनकर आया, वहीं आधुनिक हिन्दी में प्रबंधकाव्य चरित्र बनकर भी आया। एक ओर राधेश्याम जी का 'वीर अभिमन्यु' नाटक था, तो दूसरी ओर कविवर मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' था। इनमें और इस प्रकार की अन्य कृतियों में

अभिमन्यु को अनेक मानवीय गुणों से युक्त दिखाया गया है। अभिमन्यु आज्ञाकारी पुत्र, समर्पित पिता, वीर और शौर्यवान क्षत्रिय है। परतंत्रता के समय हिन्दी साहित्यकारों ने अभिमन्यु की कथा अन्योक्तिपूर्ण ढंग से सुनाई; जिसमें भारतवर्ष ब्रिटिश राज के चक्रव्यूह में फंस जाता है और जिस से निकलना न केवल राजनैतिक रूप से बल्कि नैतिक सुधारों के लिए और अपनी संस्कृति को बचाए रखने के लिए भी जरूरी था। अभिमन्यु जहाँ एक ओर महान योद्धा था, वहीं दूसरी ओर देश पर प्राण न्यौछावर करने वाला एक स्वतंत्रता सेनानी भी था। अपने कुल, देश और धर्म के नाम पर कथावाचक जी का अभिमन्यु अपना जीवन कुर्बान कर देता है। अभिमन्यु ने अपने प्राण सोलह वर्ष की अल्पायु में ही देश के लिए न्यौछावर कर दिए। ठीक इसी समय भारत के अन्य अनेक राज्यों में न जाने कितने नामी-अनामी स्वतंत्रता सेनानी अपने और अपने परिवारों का होम देश की रक्षा कर रहे थे। ये सब स्वतंत्रता सेनानी हमारे क्षेत्रीय गीतों में आज भी याद किए जाते हैं और इनका नाम आज भी अमर है। राधेश्याम कथावाचक ने शब्दों में भी इन्हें जीवित रखा।

सी-231, शाहदाना कॉलोनी
मॉडल टाऊन बरेली (उ.प्र.)-243005
मो. : 0902744306

हरिशंकर शर्मा

कथावाचक का पारसी थियेटर ऋणी रहेगा

प्रतिभाएं किसी मोहताज नहीं होती हैं। वे अपनी मंजिल स्वयं तलाश लेती हैं। पं. राधेश्याम कचावाचक का जन्म गरीब सनातनी परिवार में हुआ था। समय का फेर नाटक और कथावाचकी का रंग सिर चढ़कर बोला। अपने जीवन की तमाम घटनाओं, उतार-चढ़ाव तथा रंगमंच की ओर आने की कथा मेरा नाटककाल में लिख चुके हैं। अधिकांश लेखकों ने मेरा नाटककाल का दामन पड़कर कर कथावाचक को निज अनुभवों से परिभाषित किया है। कहने का आशय है, कथावाचक जब नाटक में सक्रिय थे, उस समय पारसी रंगमंच का बोलबाला था। पारसी थियेटर के मालिकों के पास पैसा तथा साधन, लेकिन अच्छे कलाकार नहीं थे। थियेटर के अनेक मालिक फ़िल्मों में भी अपना भाग्य अजमाने लगे। अत: पारसी कम्पनियों के सामने अच्छे नाटकों-रोजगार का संकट था। ऐसे समय में आगाहश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक जैसे रंगकर्मी, लेखक मिले। इन नये लेखकों में कथावाचक की विशिष्ट भूमिका है, कथावाचक के पास प्रतिभा थी, मंच के साधन और धन का अभाव। मंच के साधनों एवं धनी पारसी धमनियों के लिए राधेश्याम कथावाचक जैसे नाटककारों की आवश्यकता थी। अत: पारसी कम्पनियाँ भारतीय लेखकों कलाकारों को साधकर चलीं। यह समझदारी इनं व्यवसायिक कम्पनियों के सामने समय की मांग थीं और फ़िल्मी अनुभवों के कारण मज़बूरी भी।

पारसी थियेटर की पहली कम्पनी हिन्दू ड्रामाटिक कोर (1853), से लेकर इसके उत्कर्ष काल (1918-1938) तक अल्फ्रेड 'थिएट्रिकल' की समाप्ति के बाद 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी की स्थापना हुई। इसके माध्यम से नारायण प्रसाद बेताब (दिल्ली) आगाहश्र कश्मीरी (वाराणसी) तथा पंडित राधेश्याम कथावाचक (बरेली) पूरे उत्कर्ष काल तक छाये रहे। 'श्री सूर विजय कम्पनी' ने राधेश्याम के प्रसिद्ध नाटक 'उषा अनिरुद्ध' से ख्याति अर्जित की। इस काल का नाट्य साहित्य

अपार रहा है। अत: पारसी रंगमंच के प्रतिनिधि नाटककार के रूप में पंडित नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्र कश्मीरी और पंडित राधेश्याम कथावाचक ने पौराणिक और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों की दृष्टि से ख्याति अर्जित की। पुनरुत्थानी कथावाचक, उपदेशक, गायक ब्राह्मण राधेश्याम को काल विशेष ने इतना महत्वपूर्ण नाटककार बनाया और उसे इतना सामाजिक महत्व दिया गया, आज यह बात आश्चर्यजनक सी लगती है। लक्ष्मी नारायण लाल ने 'पारसी थियेटर और राधेश्याम' लेख में न्यू अल्फ्रेड कम्पनी में उक्त नाटककारों को 'कम्पनी की शरारत' आलेख के आधार पर सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना है।

उ.प्र. के बरेली जनपद में 25 नवम्बर 1890 में जन्में पंडित राधेश्याम कथावाचक का पारसी रंगमंच ऋणी रहेगा। प्रतिभा के धनी कथावाचक जी ने राधेश्याम रामायण, उत्तर रामचरित, राधेश्याम विलास, राधेश्याम कीर्तन, द्रौपदी लीला, भक्त प्रह्लाद, वीर अभिमन्यु, परिवर्तन, रुक्मिणी मंगल, उषा अनिरुद्ध, छत्रपति शिवाजी, कृष्ण-सुदामा, पद्यमपुष्पांजलि, घन्टापन्थ, सेवक रूप में भगवान श्री कृष्ण, शांति दूत श्री कृष्ण, कृष्णायन तथा मेरा नाटककार तथा राधेश्याम गीतावली कृतियों का साहित्य जगत में स्वागत हो चुका है। 'भ्रमर' के प्रकाशन से आपकी प्रतिष्ठा साहित्य जगत में बहुत हुई। नाटकों में 'वीर अभिमन्यु' को अच्छी ख्याति मिली थी। श्रवण कुमार, ईश्वर भक्ति, सती पार्वती, शकुंतला तथा महर्षि वाल्मीकि इनके पुनरुत्थानवादी नाटक हैं। साथ ही यह श्रेय राधेश्याम कथावाचक तथा नारायण प्रसाद बेताब जैसे लेखकों को ही है कि आदर्शवादी पौराणिक नाटकों के द्वारा उन्होंने जन साधारण की सोच को परिष्कृत करने का कार्य किया। उन्होंने नाटक लिखे हैं- श्रीकृष्णावतार, ईश्वर भक्ति, द्रौपदी स्वयंवर तथा परिवर्तन नाटकों को मैं देख चुका हूँ। उषा अनिरुद्ध तथा वीर अभिमन्यु को भी रंगमंच की दृष्टि से विशेष सफलता मिली। 'मेरा नाटक काल' में उन्होंने लिखा-आगा हश्र कश्मीरी के अतिरिक्त बेताब और राधेश्याम के नाट्य लेखन में कुछ ऐसे उद्देश्य थे जो उन्हें प्रतिष्ठित और जनप्रिय बनाने में काफी मददगार थे। मैंने इन नाटकों के माध्यम से हिन्दी की सेवा की है। हिन्दुत्व को आगे बढ़ाया है और धार्मिक भावनाओं का प्रचार किया है।

राधेश्याम जी का सम्बंध मूलत: बम्बई की न्यू अल्फ्रेड कम्पनी से था। हिन्दी नाटक का उद्‌भव और विकास तथा 'हिन्दी नाटक' ग्रंथों में डॉ. दशरथ ओझा तथा

गुलाब राय ने उन्हें पारसी शैली का उत्तम नाटककार माना है। न्यू अल्फ्रेड पारसी थियेटर कम्पनी के नाटक पंडित जी द्वारा रचित नाटकों के लगभग 20 वर्ष पूर्व अश्लीलता फूहड़पन होता था। राधेश्याम के नाटकों से कम्पनी को एक नया जीवन मिला। अहमदाबाद में 'भक्त प्रह्लाद' नाटक 22 दिन तक लगातार दिखाया गया था। 'भारत माता' (नाटक) जालंधर कन्या महाविद्यालय की बालिकाओं द्वारा 192 में मंचित किया गया। 'स्त्री-दर्पण' आज सरस्वती आदि पत्रिकाओं ने इनके अच्छे नाटकों की बहुत प्रशंसा की थी। महाभारत का महत्वपूर्ण पात्र अभिमन्यु बालक ही नहीं, शौर्य-पराक्रम तथा युवाशक्ति का भी प्रतीक है। पंडित जी के इस चर्चित नाटक के विषय में 'भारत मित्र' लिखता है-'वीर अभिमन्यु हिन्दु आदर्शों को सामने उपस्थित करने वाला नाटक है।' स्टेज पर सफलतापूर्वक मंचित, करुणा वीरता की प्रस्तुति अपने पूर्वजों के गौरव-कर्त्तव्यपरायणता का चित्रण उत्तम रीति से नाटक में किया गया है। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी हेतु उन्होंने स्त्री प्रधान 'रुक्मिणी मंगल' नाटक लिखा। इसमें श्री कृष्ण-कंस वध के पश्चात की घटना है। राधा-उद्धव संवाद एकदम स्तम्भित कर देता है। दिल्ली के मोती टाकीज में पंडित राधेश्याम के कई नाटकों का उद्‌घाटन पंडित मोतीलाल नेहरू ने किया था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वाधान में आयोजित राधेश्याम कथावाचक जन्मशती समारोह में पद्मश्री क्षेमचन्द सुमन ने उनके नाटकों के विषय में कहा-'पंडित राधेश्याम कथावाचक जी को हिन्दी कथा जगत भूल चुका है। उन्होंने नाटकों के माध्यम से साहित्यिक-धार्मिक जगत में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। नाटकों के माध्यम से उन्होंने हिन्दी को जन-जन तक पहुँचाया। नाटक जब अपने शैशवावस्था में था तब आपने पारसी नाट्य शैली के जरिये आपने एक नयी सांस्कृतिक चेतना प्रकट करने का कार्य किया। वे व्यवसायिक रूप से नाटकों में नहीं आये।'

इस अवसर पर आगा हश्र के भतीजे आगा जमाल कश्मीरी ने कहा था-''हमारे पूर्वज एवं श्री कथावाचक जी का नाटककाल एक ही है। कथावाचक के नाटकों से पूर्व श्री आगा हश्र धार्मिक तथा पौराणिक नाटक लिख चुके थे। भक्त सूर उनका पहला नाटक सन 1914 में श्री आगा हश्र ने लिखा। हिन्दी ड्रामा को तारीखबार लिखे बिना उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रवक्ता 'डॉ. नर्मदेश्वर राय' ने कथावाचक जी को सफल नाटककार के रूप में

वस्तुत: श्री राधेश्याम कथावाचक पारसी नाटक के लिये ही जाने जायेंगे। उन्होंने श्री आगा हश्र की नाट्य शैली से भिन्न रासलीला, रामलीला तथा लोक नाट्य शैली (नौटंकी) के मिश्रित रूप को पारसी मंच से प्रस्तुत किया। भारत की गौरवमयी परम्परा को आपने जयशंकर प्रसाद के समान ही महिमा मंडित करने का कार्य किया। अपने नाटकों से आपने पारसी मंच की आयी अश्लीलता को दूर किया तथा उसे परिष्कृत किया तब लोगों ने समझा कि घर की स्त्रियों के साथ भी नाट्यशाला तक जाया जा सकता है। अनेक विवादों के कारण पारसी थियेटर का मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है। इसके पश्चात जब भी इसका (हिन्दी-रंगमंच) का मूल्यांकन स्वरूप निर्धारित होगा तभी राधेश्याम जी का मूल्यांकन करना उचित रहेगा।

पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों से पद्मश्री चिरंजीत एक लम्बे समय तक जुड़े रहे हैं। आपने पारसी थियेटर शब्द हिन्दू साहित्यकारों की घृणित भावना से उपजा माना है। इस स्थिति में उनका नाटककार और कथावाचक का व्यक्तित्व एक-दूसरे का पूरक है। उन्होंने अपने संस्मरण द्वारा यह बताया कि अमृतसर में राधेश्याम जी के नाटकों की बड़ी धूम थी। उन्हें मैंने आँखों देखा है। अत: जिस नाटक को जनता पसन्द करे वहीं सफल है। पारसी रंगमंच एक सफल मंच था। वे पारसी मंच के लिये ही लिखते थे। यह बात दूसरी है कि हिन्दी रंगमंच के साथ उसका विरोधाभास है।

प्राय: सभी आलोचकों ने पंडित राधेश्याम जी का मूल्यांकन मात्र कथावाचक रूप में किया है। नाटककार की प्रतिभा को प्राय: सभी ने नज़रअंदाज कर दिया है। सन 1928 में इलाहाबाद से प्रकाशित भारतेन्दु (पत्रिका) के दिसम्बर अंक में प्रकाशित लेख 'भारत के रंगमंच' लेखक पंडित रामधर दुबे ने पंडित राधेश्याम तथा उनकी कृतियों की भ्रामक सूचनायें प्रकाशित की थी। इस विषय पर बरेली से प्रकाशित 'भ्रमर' (मासिक पत्रिका) के सम्पादक ने पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों के प्रति ओछे विचार रखने वालों की ख़बर ली है-'परिवर्तन तथा अभिमन्यु नाटकों' का लेखक पंडित नारायण प्रसाद बेताब को लेखक ने बताया है। लेखक पंडित राधेश्याम जी का कहीं उल्लेख नहीं है 'कथावाचक की करतूत' शीर्षक से भारतेन्दु (मासिक) ने पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों को दो कौड़ी का माना है। अन्नी प्रसाद जैसे समीक्षकों के उपहास्यात्मक रवैया के कारण उनका सही मूल्यांकन आज तक नहीं हो पाया है। वे साहित्यिक परिधि से अलग कर दिये गये।

श्रीवास्तव जी राधेश्याम जी को उन नाटककारों में नहीं गिनते जबकि उन्होंने भारतीय रंगमंच को सुधारने का कार्य किया है। हक़ीकत तो यह है कि अब तक किसी नाटककार ने रंगमंच (नाटक) सुधारने का कार्य ही नहीं किया है। 'भ्रमर' आगे लिखता है-नाटक में अच्छे विचारों का समागम हो और दर्शकों के मनोरंजन में कमी भी न आये इन कठिनाईयों में रहते हुए यदि कथावाचक जी यदि साहित्य पहलू को ऊँचा नहीं उठा सके तो वे क्या बिल्कुल नालायक हैं। यह पहले नाटककार हैं जिन्होंने नाटकों को पेशेवर कम्पनियों के स्टेजों पर पहुँचाया। पेशेवर कम्पनियों का स्टेज शनैः शनैः हिन्दी स्टेज बनता गया। यह सब पंडित राधेश्याम कथावाचक जैसे नाटककारों के प्रयासों-पुरुषार्थ का ही फल है (भ्रमर : मासिक, फरवरी 1928)

सोहराब मोदी के कहने पर उनकी फ़िल्म झाँसी की रानी के लिए पंडित राधेश्याम कथावाचक ने गीत लिखे थे जो कि चर्चित रहे। (स्वतंत्र भारत : 17 अप्रेल 1991 ई.)

पंडित राधेश्याम कथावाचक का नाटककार रूप आगे चलकर हिन्दी साहित्य का एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बना। प्रतिभा के धनी कथावाचक जी ने जीवन के अन्तिम दिनों तक लेखन जारी रखा। लगभग एक सौ पचास ग्रंथों का सृजन-सम्पादन उन्होंने किया। रामायण की कथावाचक शैली उनकी कृतियों में एक नये रूप में ढली 1910 से 1960 की डायरियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल धरोहर हैं।

हिन्दी नाट्यय मंच भी श्री राधेश्याम का ऋणी रहेगा। उन्होंने नाटकों को पेशेवर कम्पनियों के स्टेजों पर पहुँचाने का उद्योग किया। पेशेवर कम्पनियों का पारसी स्टेज ही शनैः शनैः हिन्दी का स्टेज बनता गया। राधेश्याम कथावाचक का सम्बंध मूलतः बम्बई की न्यू अल्फ्रेड पारसी थियेटर कम्पनी से था। महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में सत्य 'हरिश्चन्द्र' तथा 'श्रवण कुमार' नाटक के पश्चात उत्पन्न जिस सत्य, मातृ-पितृ भक्ति का उल्लेख किया है उसकी मूल प्रेरणा में पारसी थियेटर तथा कथावाचक को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

न्यू अल्फ्रेड पारसी थियेटर कम्पनी के नाटक पंडित जी द्वारा रचित नाटकों से लगभग 20 वर्ष पूर्व अश्लील तथा फूहड़पन होता था। पंडित राधेश्याम के नाटकों से कम्पनी को एक नया जीवन मिला। जब अहमदाबाद में नाटक 'भक्त प्रह्लाद' कम्पनी

ने खेलना आरम्भ किया तो 22 दिन तक लगातार दिखाया गया था। भारत-माता (नाटक) का मंचन जलन्धर कन्या महाविद्यालय की छात्राओं द्वारा किया गया। 'स्त्री दर्पण' तथा सरस्वती पत्र-पत्रिकाओं में स्त्री शिक्षा सम्बंधी इस नाटक की प्रशंसा की गयी।

पंडित राधेश्याम कथावाचक की प्रेस से अनेक ग्रंथों का प्रकाशन किया गया। यहाँ हास्य व्यंग्य की पुस्तक अजायबघर छपती थी। 'वियोग कथा' (लेखक जगन्नाथ मिश्र केमल) तिलिस्म-रहस्य की पुस्तक 'प्रेतलोक', 'भ्रमर' (मासिक पत्रिका), श्रीमद्भागवत गीता (पंडित राम नारायण पाठक), 'भगवत गीत' (पं. माधव प्रसाद शुक्ल), प्रहलाद चरित्र (पं. रामनारायण पाठक), वीरवाला 'मशरिकी हूर', 'सतलड़ी' कहानी संग्रह (जगेश्वर नाथ वर्मा), मोहन गीतावली (मदन मोहन लालजी कृत) 'ध्रुव चरित्र' (सहाय तमन्ना) सहित अनेक ग्रंथों का प्रकाशन श्री राधेश्याम प्रेस से किया गया।

लगभग सभी चिन्तक-विचारक श्री राधेश्याम की शैली को लेकर आगे बढ़े। रुहेलखंड की साहित्यिक परम्परा में पंडित राधेश्याम कथावाचक तथा उनके सहयोगियों ने पंडित राधेश्याम स्कूल को जन्म दिया। इस उद्यमी व्यक्तित्व ने 26 अगस्त 1963 ई. में संसार से विदा ली।

'रामायण' की तर्ज पर पंडित जी ने 'द्रौपदी चरित्र' लिखा। यह उनकी पहली रचना (कृति) मानी जाती है। राधेश्याम रामायण में जन्म से लेकर राजतिलक की कथा 20 भागों में विभक्त हैं। यह उर्दू में भी प्रकाशित होती थी। इसी परम्परा में उत्तर रामचरित में गायन शैली की अच्छी छाप है। सीता वनवास से लेकर सतवन्ती सीता तक कथा विभाजन विषय को बांधता है।

वैष्णवी विचारों से प्रभावित पंडित राधेश्याम जी के ग्रंथों में गाँधी चिंतन भी है और कीर्तन भी। ईश्वर प्रार्थना, विद्या-महिमा, सदाचार-नीति उनके प्रिय विषय हैं। 1928 तक राधेश्याम कीर्तन के छह संस्करण छप चुके थे। तत्कालीन मूल्य था-आठ आना।

श्री कृष्ण लीला पर आधारित नाटक का चाल पर गायन युक्त राधेश्याम विलास है। इसमें लगभग 250 गीत हैं जो कवि हृदय की पहचान में समर्थ हैं। 'मीठी गुन्जार',

'मधुर मुरली', 'मधुर मुरली', 'ईसीलीतान' तथा 'कुसुम-कुंज' का सम्पादन पंडित जी ने 'भ्रमर' के चतुर्थ वर्ष तक की चुनी हुई कविताओं को संकलित किया है। 'मुसाफिर की पॉकेट बुक' तथा 9400 नाम पतो का संग्रह व्यवसायिक प्रतिभा का परिणाम है। इससे पाठकों के स्तर, प्रसार संख्या का पता भी लगता है।

महाभारत का एक महत्वपूर्ण पात्र अभिमन्यु बालक ही नहीं शौर्य-पराक्रम का प्रतीक भी है। पंडित जी के चर्चित नाटक 'वीर अभिमन्यु' के संदर्भ में 'भारत मित्र' समाचार पत्र ने लिखा था-"वीर अभिमन्यु हिन्दू आदर्शों को सामने उपस्थित करने वाला नाटक है।" स्टेज पर सफलतापूर्वक मंचित, वीर-करुण रस युक्त अपने पूर्वजों के गौरव तथा कर्त्तव्य परायणता का चित्रण रीति से इस नाटक में खींचा गया है। ऐसी सम्मति तत्कालीन पत्रिका सरस्वती, दैनिक आज (काशी) तथा लाहौर से प्रकाशित दैनिक प्रताप की थी।

न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के लिए पंडित राधेश्याम कथावाचक ने 'रुक्मिणी मंगल' (स्त्री प्रधान) नाटक लिखा। इसमें कृष्ण-कंस-वध के पश्चात की कथा है। राधा-उद्धव संवाद एकदम स्तम्भित कर देता है। राधेश्याम जी का मूल्यांकन मूलत: एक कवि-कथावाचक रूप में ही किया गया है।

उनके नाटकों की भाषा, भाव, चरित्र, आदर्श आदि दृष्टि से सुधरे हुए हैं। यह पहले नाटककार हैं जिन्होंने नाटकों को पेशेवर कम्पनियों के स्टेजों पर पहुँचाने का उद्योग किया। पेशेवर कम्पनियों का स्टेज ही शनैः शनैः हिन्दी स्टेज बनता गया। यह सब पंडित राधेश्याम कथावाचक जैसे नाटककारों के प्रयासों व पुरुषार्थ का ही फल है। (अमर उजाला; 19 नवम्बर 1989 ई.)

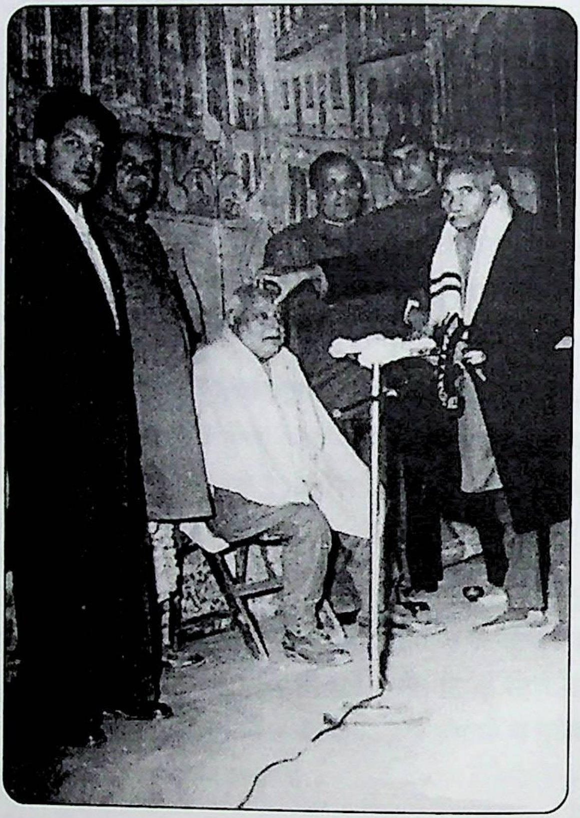
कथावाचक ने नाटक ही नहीं लिखे उन्होंने घंटा पथ, कृष्ण-सुदामा शान्ति के दूत श्रीकृष्ण, सेवक के रूप में भगवान श्री कृष्ण भारत माता आदि एकांकी नाटक भी लिखे हैं। कथावाचक के कई नाटक आज तक अप्रकाशित हैं- उद्धार (जनवरी सम्वत 2000) ; आजादी (20-10-1951 ई.) धन्नाभगत (2-11-1951 ई.)। कथावाचक ने अपने जीवन में लगभग 6 डायरियाँ भी लिखी हैं। वर्ष 1961 ई. की डायरी के अध्ययन करते समय पता चला कि वे रावण राज्य प्लाट पर नाटक लिखने की भूमिका में थे।

'इधर यह विषय भी चक्कर काट रहा है कि अगला नाटक 'रावण-राज्य' लिखूं (25 दिसम्बर 1960 ई.) ये तीनों नाटकों की प्रवृत्ति भिन्न है। तीनों पाण्डुलिपियां मेरे संग्रह में है। आचार्य पीठ के राघवाचवार्य ने कथावाचक ने नाटक 'सुख कहाँ' का उल्लेख किया है उसकी पाण्डुलिपि मुझे कहीं नहीं मिली। 'सत्यनारायण' (नाटक/फ़िल्म) की मूल प्रति मेरे संग्रह में है। सत्यनारायण के सम्वादों में ज़िन्दादिली है। मेरी योजना कथावाचक को अधूरे नाटकों को प्रकाश में लाने की है ताकि उनकी नाट्य यात्रा का समुचित मूल्यांकन हो सके।

स्व. श्री सुरेन्द्र मोहन मिश्र के पुत्र अजय मिश्र (चंदौसी उ.प्र.) के पास मैं राधेश्याम कथावाचक कृत 'श्रवण कुमार' (नाटक/फ़िल्म) की मूल प्रति देख चुकी हूँ। इस मुद्रित नाटक तथा हस्तलिखित प्रति का अध्ययन करके नाटक की मूल कथावस्तु अन्तर आदि को पढ़कर नये सिरे से लिखने की आवश्यकता है।

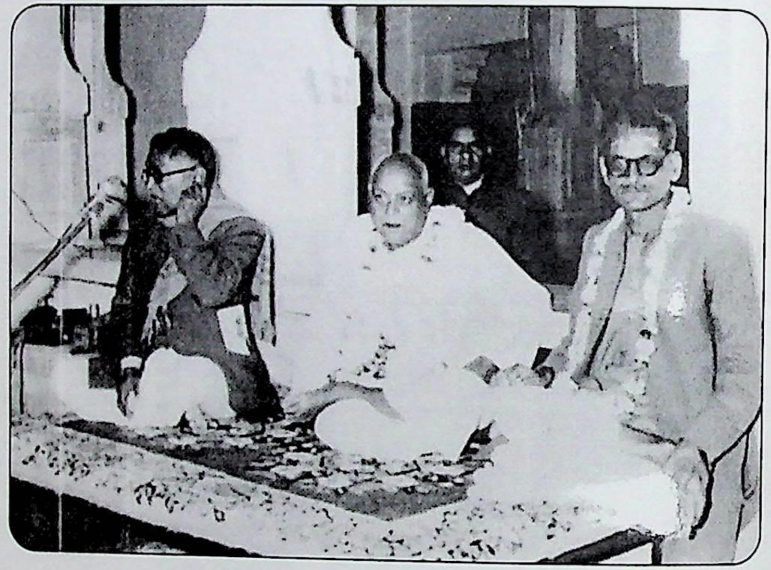
अत: इन नाटकों की पृष्ठभूमि जाने बिना कथावाचक के नाटकों पर लिखना कैसे संभव है।

अमर उजाला
19 नवम्बर, 1989



पं. राधेश्याम कथावाचक का तिलक अभिनंदन (25 नवम्बर 1960 ई.)। तिलक करते हुए पं. रामस्वरूप वैद्य (चंदौसी), बलराम शर्मा (पुत्र), विश्वनाथ शर्मा (पौत्र) तथा पं. रामनारायण पाठक। स्थान- डी.ए.वी. इण्टर कॉलेज का रंगमंच।

रूपायन



एक सम्मान समारोह कार्यक्रम (नवम्बर, 1960 ई.) में पं. राधेश्याम कथावाचक (मध्य में), मदन मोहन शर्मा (बायीं ओर), पं. बिहारी लाल शास्त्री (दायीं ओर), पं. रामनारायण पाठक (पीछे)।

प्रो. भोलानाथ शर्मा

एक रचनाकर्मी की सार्थकता का सवाल

प्रो. भोलानाथ शर्मा बहुभाषाविद् और अनुवादक। ग्रीक और जर्मन सहित अनेक यूरोपीय एवं भारतीय भाषाओं के विद्वान। राहुल सांस्कृत्यायन ने उन्हें 'गुदड़ी का लाल' ठीक ही कहा है। 'अरस्तु की राजनीति' और प्लेटो के 'रिपब्लिक' का 'आदर्श नगर व्यवस्था' नाम से मूल ग्रीक से अनुवाद। गेटे के 'फाउस्ट' के उनके द्वारा किये गये अनुवाद की प्रशंसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी की है। जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट की प्रसिद्ध कृति 'क्रिटीक ढेरराइनन फर्तून्फ्ट' का मूल जर्मन से 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' नाम से अनुवाद। पं. भोलानाथ का जन्म 1906 तथा मृत्यु वर्ष 1960 ई. है। आप बरेली कॉलेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष रहे। -सम्पादक

कथावाचक की अप्रकाशित डायरी से पंडित भोलानाथ का मार्मिक प्रसंग वर्णित है-

सन् 1959 की डायरी पंडित जी के विचार पक्ष की मजबूत कड़ी है। 2 जनवरी, में उनके तबला वादक (मास्टर) उस्ताद सज्जाद हुसैन की मृत्यु का दुःखद समाचार है। बरेली कॉलेज के प्रोफेसर भोलानाथ शर्मा से आपकी मुलाकात का वर्णन (10 फरवरी, 1959 में)-'आज सुबह बाग में बरेली कॉलेज के प्रोफेसर ने राजा भोज का एक प्रसंग सुनाया, जिसका अभिप्राय था हवा जैसे बादलों को लाती है और ले जाती है उसी तरह हमारा जन्म और मरण है। जीवन है क्या? तृण की नोक पर गिरे ओस की बूंद के समान। बचपन नादानी में गया, खेल में फिर पढ़ने में गया। फिर पत्नी के साथ बेईमानी से जीविका करने में। फिर बेटा-बेटी के मोह में। फिर चल दिए, क्या ले चले?' (राधेश्याम कथावाचक : डायरी का व्याकरण, वर्ष 2019 ई.)

पारसी रंगमंच की बृहत्त्रयी-नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा हश्र और राधेश्याम कथावाचक-के एक प्रमुख घटक। पारसी रंगमंच की प्रचलित कुत्सा और कुरूचि के

विरुद्ध एक सार्थक हस्तक्षेप। उसे सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक सवालों से जोड़कर, उसकी सीमाओं के बीच ही उसमें मौलिक परिवर्तन किया। सन् 34 में प्रेमचन्द ने 'हंस' का आत्मकथा अंक निकालने पर इनसे भी लिखवाया था। 'गबन' में भी पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटक खेले जाने का उल्लेख है। इससे उनकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इनके दो नाटकों-'श्रीकृष्णावतार' और 'रुक्मिणी मंगल' को देखकर स्वयं प्रेमचन्द ने अपनी पत्रिका 'माधुरी' में एक विस्तृत टिप्पणी लिखी थी। इनके नाटकों में 'वीर अभिमन्यु', 'प्रह्लाद', 'श्रवण कुमार', 'पूरन भक्त', 'परिवर्तन', 'चन्द्रगुप्त' और 'मशरिकी हूर' आदि प्रमुख है। 'रामायण' जिसे राधेश्याम-रामायण कहा जाता है-द्वारा कथावाचन से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया। अपनी आत्मकथा भी लिखी है-'मेरा नाटक काल' (1957) जो उनकी व्यक्तिगत कहानी से अधिक एक पूरे युग की कहानी है।

अब बहुत ठीक से याद नहीं कि राधेश्याम कथावाचक को पहली बार कब और कहां देखा था। लेकिन उनका जो चित्र आज भी दिमाग पर बहुत साफ है वह सिर पर छोटे-छोटे बाल, बड़ी पारदर्शी और पनीली आँखें, खद्दर के धोती-कुर्ते पर गले या कंधे पर दुपट्टा डाले तथा माथे पर बड़ी सी चंदन की गोल बिंदी लगाये उन्हें देखा गया चित्र है। मेरे स्कूल आते-जाते वे प्रायः अपने तांगे पर जाते हुए दिखते थे-बिहारीपुर से निकलकर ख्वाजा कुतुब होकर बड़े बाजार की ओर जाते हुए। घर में दादा की जो थोड़ी सी पुस्तकें थी उनमें उनके भी एक-दो नाटक थे। रामलीला हमारे यहां कुंआर में न होकर फागुन-चैत में होती थी जो अभी भी होती है। होली वाले दिन राम विवाह का रंगारंग जुलूस निकलता था और उससे एक दिन पूर्व धनुष-यज्ञ, रामलीला के जो प्रसंग विशेषज्ञ आनन्द और उत्साह के होते थे उनमें धनुष यज्ञ, राम वनगमन और अंगद-रावण संवाद मुख्य थे। इसका एक कारण यह भी था कि इन अवसरों पर, खासकर राम वनगमन में दशरथ की मृत्यु के समय, राधेश्याम कथावाचक स्वयं हारमोनियम बजाकर रामायण से चुने हुए अंशों का सस्वर पाठ करते थे। इन अवसरों पर उनकी रामायण से ही अधिकांश संवाद बोले जाते थे और यही वस्तुतः उनकी रामायण के प्रति पैदा हुए मेरे आकर्षण का मूल कारण भी था।

कभी-कभी गाँव की बारातों में उसके ग्रामोफोन रिकॉर्ड भी सुनने को मिलते थे। तब घरों में आमतौर पर तुलसीकृत 'रामचरितमानस' रहा करता था और बड़े होते बच्चों के लिए उसके पढ़ने पर जो दिया जाता था। धार्मिक से अधिक इसका एक नैतिक और सांस्कृतिक पक्ष था। लेकिन मेरे चौथे-पांचवें में पढ़ने पर वह न तो मेरी समझ में आती थी और न उसमें मेरी रुचि थी। उसके मुकाबले राधेश्याम कथावाचक की रामायण मुझे बहुत पसन्द थी क्योंकि जोशीले प्रसंगों में उसे गाकर पढ़ा जा सकता था और वे जल्दी ही जबान पर चढ़ जाते थे। मेरे बार-बार कहने पर भी जब दादा ने उसे खरीदकर नहीं दिया तो बाद में मैं अपने मामा के यहाँ उसे ले आया था। आगे चलकर उसके अलग-अलग काण्ड, जो तब पाँच आने में बिकता था, स्वयं खरीदकर इकट्ठे किए थे। शायद इन्हीं से पुस्तकें खरीदने और पढ़ने का रुझान पैदा हुआ था।

मोहल्ले की रामलीला समाप्त हो जाने पर मंडली द्वारा कुछ नाटक भी खेले जाते थे। इनमे भी राधेश्याम कथावाचक के नाटक होते थे। उनके अनेक पौराणिक नाटक 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद' और 'पूरनमल' आदि इसी दौर में देखे गये थे। तब इन्दर-सभा और पारसी रंगमंच आदि का नाम भी नहीं सुना था। लेकिन इन नाटकों की उर्दू-बहुल शैली और शेरो शायरी वाले संवादों की अदायगी अच्छी लगती थी। देखने के बाद उन नाटकों को पढ़ने की इच्छा भी होती थी। उनके बहुत से हिस्से पढ़ते-पढ़ते ही याद होते जाते थे।

साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से बरेली कभी भी एक बड़ा और उर्वर क्षेत्र नहीं रहा। अपनी किशोरावस्था में मैं रामलीला मंडलियों द्वारा खेले गये नाटकों और स्वांग से ही परिचित था। बाद में हमारे मोहल्ले के युवकों की पहल पर हनुमान संकीर्तन मंडल की स्थापना हुई। वैसे अपने स्वरूप में वह एक धार्मिक संस्था ही अधिक थी, लेकिन उसका प्रसार सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों तक था। युवकों का शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक विकास ही उसका मुख्य लक्ष्य था। हर वर्ष दीपावली पर वह हनुमान जयंती मनाती थी जिसमें दीपावली से दो दिन पूर्व विद्वानों के व्याख्यानों और प्रवचनों का आयोजन होता था। कभी-कभी बाहर से स्वामी रामतीर्थ, पथिक जी आदि विद्वानों के अतिरिक्त स्थानीय पंडित भोलानाथ शर्मा, राघवाचार्य, नाथुराम शर्मा 'नम्र' और बरेली में होने पर पंडित राधेश्याम कथावाचक भी आते थे। इसी उत्सव के समापन के रूप बाद में दो दिन एक ही नाटक खेला जाता

था-पहले दिन केवल महिलाओं और दूसरे दिन सबके लिए। मोहल्ले के ही अधिकांश युवक इसमें अभिनय करते थे, स्त्री-पात्रों के भी राधेश्याम कथा का 'चन्द्रगुप्त' नाटक इस संस्था द्वारा जो बार खेला गया-एक दो वर्ष के अन्तराल से। पहले यह कार्यक्रम हनुमान मंदिर के सामने पड़े छोटे मैदान में होता था, बाद में वहाँ इमारत बन जाने से नृसिंह मंदिर में होने लगा। दूसरी बार खेले गये नाटक में एक छोटी-सी भूमिका मेरी भी थी। नंद के दरबार में चाणक्य के साथ जाने वाले साधुओं में से एक मैं भी था। अपमानित करके उन सबको नंद द्वारा निकलवा दिये जाने के बाद, अगले दृश्य में नंद के दरबार में नर्तकी द्वारा नृत्य का आयोजन था। रिहर्सल में इस दृश्य को कई बार देख चुका था, लेकिन मंच पर नर्तकी की पूरी साज-सज्जा में उसे देखने के लोभवश सब लोगों के बाहर निकल जाने के बाद भी मैं विंग से चिपका खड़ा रहा-अगले दृश्य की प्रतीक्षा में। मुझे पीछे से कई बार बुलाया गया लेकिन जब मैंने उसे अनसुना कर दिया तो मजबूरन पर्दा उठाकर अगला दृश्य कर देना पड़ा और मैं साधुवश में ही मंच पर एक ओर खड़े होकर नृत्य देखता रहा था।

तब तक जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' से मेरा परिचय हुआ था। द्विवेदी लाल राय के बंगला नाटक 'चन्द्रगुप्त' का नाथूराम 'प्रेमी' द्वारा प्रकाशित अनुवाद अलबत्ता उसी दौर में पढ़ गया था। उसकी बंगला से अनूदित संस्कृत-निष्ठ तत्सम् प्रधान हिन्दी की अपेक्षा राधेश्याम कथावाचक की उर्दू-बहुल शैली अधिक आकर्षक लगती थी। शे'रो-शायरी के कारण उसके संवादों को भी याद करने में आसानी होती थी-कहना चाहिये कि वे पढ़ते-पढ़ते स्वयं याद होते जाते थे। वह राष्ट्रीय आंदोलन का युग था और साहित्यकार अपनी रचनाओं में राष्ट्र की भौगोलिक-सांस्कृतिक अस्मिता के लिये विशेष जागरूक दिखाई देते थे। भारत की भौगोलिक प्रशस्ति के रूप में सिकन्दर का एक शे'र वर्षों बाद आज भी मन में अटका पड़ा है :

कहीं सर्दी कहीं गर्मी, कहीं बरसाते पैहम है
गरज हिन्दुस्तां क्या है, एक तस्वीरें आलम है

आगे चलकर जब प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' पढ़ा और व्यापक राष्ट्रीय संदर्भ में चीजों को देखने समझने का सलीका आया तभी वस्तुत: राधेश्याम कथावाचक को भी सही परिप्रेक्ष्य में समझ पाना सम्भव हुआ। पंडित राधेश्याम कथावाचक पारसी रंगमंच के

नाटककार थे। वे नारायण प्रसाद 'बेताब' और आगा हश्र की परम्परा के लेखक थे। पारसी रंगमंच की नाट्य-रूढ़ियों और नाट्यविधान की सीमाओं का अतिक्रमण वे नहीं कर सकते थे। उनकी वैसी कोई रचनात्मक महत्वकांक्षा भी नहीं थी। वे पारसी रंगमंच की सीमाओं में रहकर उनकी रूढ़ियों और सांस्कृतिक स्खलन के विरुद्ध संघर्ष करते दिखाई देते थे। बेताब और आगा हश्र के पौराणिक नाटकों में स्त्री-पात्रों को जिस रूप में मंच पर प्रस्तुत किया जाता था, वह दर्शकों की धार्मिक भावनाओं को ही ठेस नहीं पहुँचाता था, सांस्कृतिक दृष्टि से कुरुचि का भी प्रसारक था। सीता और द्रौपदी आदि पात्र मर मटकाकर जब भोंडे अभिनय के साथ फोहश गाने गाती थीं तो वे नाटक स्त्रियों के देखने लायक नहीं रह जाते थे-अपने पौराणिक कलेवर के बावजूद। इसके विरोध में जिस सांस्कृतिक अभिरुचि का विकास राधेश्याम कथावाचक ने अपने नाटकों द्वारा किया, वह पारसी रंगमंच की सीमाओं के निकट होने पर भी कहीं न कहीं प्रसाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक अस्मिता के निकट पड़ती थी। दोनों के नाटकों में प्रकृति और स्वरूपगत गहरे अन्तर के बावजूद दोनों राष्ट्रीय आंदोलन और स्वाधीनता की आकांक्षा के प्रभाव-वृत में आने वाले लेखक थे।

पंडित राधेश्याम कथावाचक की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उन्होंने पारसी रंगमंच को राष्ट्रीय और सामाजिक सवालों के बीच लाकर खड़ा कर दिया। अपने नाटक 'परिवर्तन' में वे एक वेश्या को स्वाधीनता आंदोलन की सक्रियता के बीच ला खड़ा करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में वे भारत की सांस्कृतिक और भौगोलिक भव्यता का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करते हैं और 'मशरिकी हूर' में एक मुस्लिम कथानक को प्रेमचन्द के 'कर्बला' की तरह, नाट्यबद्ध करके उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष में हिन्दू-मुस्लिम एकता और सद्भाव को रेखांकित करते हैं। 'मशरिकी हूर' पर हसरत मोहानी की प्रशंसापूर्ण टिप्पणी से ही उन्हें संतोष नहीं हुआ। आगा हश्र ने भी 'परिवर्तन' और 'मशरिकी हूर' की भरपूर प्रशंसा की है। अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटककाल' में इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए राधेश्याम कथावाचक ने लिखा है- ''श्री आगा हश्र ने 'परिवर्तन' और 'मशरिकी हूर' देखकर एक दिन मुझसे कहा, चंदा का सन्यासिनी बनना और हमीदा का शादी न करके मदीने जाना-हम नहीं लिख सकते थे, हमारे खून में यह तपस्या और त्याग है ही नहीं। गाँधी जी के अनुयायी ही ऐसा प्लाट स्टेज पर ला सकते हैं।'' (मेरा नाटककाल, पृ. 130) मण्डली के संचालन

से लेकर अभिनेताओं के चयन और प्रोत्साहन में तक सब कहीं राधेश्याम कथावाचक की यह उदार राष्ट्रीय दृष्टि उनकी इस आत्मकथा में देखी जा सकती है। बेताब के नाटकों में सीता और द्रौपदी की भूमिका के लिए गौहर के अभिनय पर अनेक कोनों से उठी आपत्ति के बावजूद राधेश्याम कथावाचक ने अपने पौराणिक नाटकों में मुस्लिम और पारसी अभिनेताओं का बहिष्कार नहीं किया।

पारसी रंगमंच के प्रसिद्ध अभिनेता फिदा हुसैन नरसी, राधेश्याम कथावाचक की ही खोज है-जिसे पौराणिक वल्सारा के निजी सेवा कार्य से उठाकर उन्होंने रंगमंच की दुनिया में प्रवेश कराया था। राधेश्याम कथावाचक के पौराणिक नाटकों-'सीता-हरण','वीर अभिमन्यु','भक्त प्रह्लाद' आदि में राष्ट्रीय आशयों को आरोपित करने की आज कोई आवश्यकता नहीं है। एक भिन्न दृष्टि से इन नाटकों के सामाजिक महत्व पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने बहुत ईमानदारी के साथ लिखा है-''रामलीला हो या रासलीला अथवा धार्मिक नाटक यह सब देखने के लिए उस समय की पर्दे वाली नारियाँ बहुत लालायित रहती थी। मेरे धार्मिक नाटक खूब चलने का भी यही कारण है। अरे साहब, कारण तो 'कथावाचकी' की सफलता के भीतर भी यही है'' (वही, पृ. 127)

राधेश्याम कथावाचक ने अपनी रामायण का कथावाचन प्रायः उन क्षेत्रों में किया जो हिन्दी भाषी नहीं थे। इस दृष्टि से पंजाब, गुजरात और महाराष्ट्र उनके मुख्य क्षेत्र थे। इन्दर-सभा और पारसी रंगमंच की शे'रो-शायरी वाली उर्दू-बहुल शैली में ही उनकी रामायण भी लिखी गयी है। अपने इस गुण के साथ ही संवादों में क्षिप्रदा और प्रवाह के कारण रामलीला के लिए भी वह बहुत कारगर और सफल साबित हुई। यह अकारण नहीं है कि उनकी रामायण के वे ही स्थल आकर्षक बन पड़े हैं जहाँ संवाद-कौशल के लिए वे गुंजाइश निकाल सके हैं। इस दृष्टि से लक्ष्मण-परशुराम और अंगद-रावण संवाद के प्रसंग असाधारण नाट्य संभावनाओं से गर्भित हैं। किशोरावस्था में जब उसे पढ़ा था, कई बार पढ़ा था, और मोहल्ले की रामलीला के कारण उसके अनेक अंश जबान पर चढ़ने के बाद कभी नहीं उतरे। धनुष यज्ञ में, धनुष टूट जाने के बाद, परशुराम के आगमन पर पूरी सभा में हड़कंप मच जाता है। परशुराम के प्रश्नों का उत्तर राम बहुत शालीनता और समादर से देते हैं। लेकिन फिर भी उनका

क्रोध शांत होने के बजाय बढ़ता ही जाता है। तब सिंहासन से उठकर लक्ष्मण उन्हें संबोधित करते हुए कहते हैं :

जो ज्यादा मीठा होता है, वह अपना नाश कराता है,
देखो तो मीठे गन्ने को कोल्हू में पेरा जाता है
भाई ने मीठे वचन कहे तो क्रोध और चढ़ जाता है,
सबसे पहले यह बोल उठे इसलिए चोर ठहराया है
अच्छा अपराधी हमीं सही हमने ही जहर निचोड़ा है,
जो कुछ करना हो करें आप शिव-धनुष हमीं ने तोड़ा है।

किशोरावस्था में रामलीला के लिए आई मण्डली के अभिनेताओं से सम्पर्क साधना बहुत अच्छा लगता था। मुझे खूब याद है कि राधेश्याम कथावाचक की रामायण और नाटकों के कंठस्थ अंश इस काम में बहुत कारगर साबित होते थे। प्राय: तो ऐसा होता था कि थोड़ा-सा मौका मिलते ही मैं उस मण्डली के संचालक या किसी बड़े अभिनेता की नजर में चढ़ जाता था और फिर उस मंडली के हमउम्र अभिनेताओं को उनके संवाद याद कराने का काम मुझे ही सौंप दिया जाता था। तब अपने अनेक साथियों से अलग और विशिष्ट होने का जो सुख मिलता था, उसे याद करके आज भी शरीर में फुरफुरी-सी मचने लगती है। सीता हरण के बाद हनुमान-मंदिर को अशोक वाटिका बनाकर उनका सिंहासन वहीं रखा जाता था। उनके उस सिंहासन पर प्राय: मेरी ही ड्यूटी लगती थी। भक्तों द्वारा सीता के 'सरूप' को हार-फूल या कभी-कभी दूध मिठाइ आदि भेंट की जाती थी। इसे लेकर मैं ही चढ़ता था और पास खड़े लोगों को बांटता था। आज भी मुझे लगता है कि मेरे तब के उस गौरव का उत्स राधेश्याम कथावाचक में ही कहीं था।

अपने रचनाकर्म के कारण पंडित राधेश्याम कथावाचक को मदन मोहन मालवीय और मोतीलाल नेहरू जैसे शीर्षस्थ राष्ट्रीय नेताओं के आत्मीय वृत्त में आने का सुखद संयोग मिला था। काशी हिन्दू विद्यालय की स्थापना से पूर्व उसके लिए धन-संग्रह के अभियान में जब मालवीय जी बरेली आये थे तो एक ही दिन में तांगे पर हारमोनियम लेकर घूमकर राधेश्याम कथावाचक ने बारह हजार रुपये इकट्ठे करा दिये थे। उस समय के लिहाज से यह मामूली राशि नहीं थी और उसके मूल में पंडित जी

की असाधारण लोकप्रियता को आसानी से समझा जा सकता था। मोतीलाल नेहरू ने दिल्ली के मोती पैलेस में उनके नाटक का उद्घाटन किया था और स्वयं आनंद-भवन में उनकी कथा बिठाई थी जिसके कारण संपूर्ण नेहरू-परिवार से अपने आत्मीय संबंधों का उल्लेख राधेश्याम कथावाचक ने 'मेरा नाटककाल' में किंचित गर्वपूर्वक किया है।

पारसी रंगमंच से दीर्घकाल तक जुड़े रहने के कारण उस युग की अनेक फ़िल्मी हस्तियों से उनके अत्यन्त सघन और घनिष्ठ सम्पर्क थे। के.एल. सहगल, जद्दन बाई, विजय भट्ट, पृथ्वीराज कपूर और सोहराब मोदी जैसे लोगों के साथ उन्हें किसी न किसी रूप में काम करने का अवसर मिला था। सोहराब मोदी की प्रसिद्ध फ़िल्म 'झांसी की रानी' के गीतों की रचना उन्होंने ही की थी। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने इन सम्पर्कों को उन्होंने कभी अपने लिए सीढ़ी की तरह इस्तेमाल नहीं किया। फ़िल्म-कैरियर में तब आज जैसा पैसा और ग्लैमर भी कदाचित नहीं था।

उनकी रामायण, नाटकों और फ़िल्म-क्षेत्र में किए गए काम का एक ही उद्देश्य था-उर्दू के गढ़ में हिन्दी का प्रचार और प्रसार। यह काम उन्होंने उर्दू से द्वेष और प्रतिद्वंद्वता के रूप में नहीं, उससे भरपूर सहयोग लेकर किया। इसे वह उसी शैली के माध्यम से पूरा कर सकते थे, जो बाद में उनकी विशिष्ट शैली के रूप में जानी गई। उनकी भाषा अपने मूलरूप में उस 'हिन्दुस्तानी' के निकट पड़ती है जिसे हिन्दी-उर्दू के बीच सेतु बनाकर महात्मा गाँधी जैसे लोगों ने उसकी अवधारण प्रस्तुत की थी। उसके स्वरूप को लेकर आज अनेक मतभेद हो सकते हैं लेकिन अपने व्यावहारिक रूप में यह प्रयास भाषिक विवाद और कटुता को दूर करने में दूर तक सफल हुआ था। इस क्षेत्र में उनका यह काम लगभग वैसा ही था जैसा अपने जमाने में कथा-भाषा के विकास में देवकी नंदन खत्री का था। उनकी रचनाओं का काल क्रमानुसार किया गया कोई भी अध्ययन उनकी भाषिक दृष्टि और हिन्दी के अनुपात को स्पष्ट कर देता है। यह कारण है कि अपनी भारी व्यावहारिक सफलता के बावजूद उनका साहित्यिक महत्व निर्विवाद है, जबकि आज की कथित मंचीय कविता में ऐसा कोई अंर्तवर्ती सूत्र उपलब्ध नहीं है जिसके कारण वह भड़ैती और चुटकुले बाजी में ही समाप्त हो जाती है।

पंडित राधेश्याम कथावाचक एक बड़े मिशन के तहत अपने लिए चुने गये कार्यक्षेत्र में सक्रिय रहे। स्वाधीनता आंदोलन की मूल्य-दृष्टि उनकी रचनाओं में शिरा प्रवाही रक्त की तरह सब कहीं समुपस्थित है। इसी कारण अपने युग में उन्हें व्यापक स्वीकृति भी मिली। प्रेमचंद ने जब 'हंस' का आत्मकथा अंक निकाला तो उन्होंने राधेश्याम कथावाचक से भी उसमें लिखवाया था। बरेली से मासिक पत्र के रूप में 'भ्रमर' की परिकल्पना उनके मिशन का ही एक हिस्सा थी। आज आवश्यकता इस बात की नहीं है कि किसी तर्कातीत श्रद्धा के साथ पंडित राधेश्याम कथावाचक की प्रशस्ति की जाये। जरूरी यह है कि सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनके योगदान का मूल्यांकन किया जाये। वस्तुत: इस रूप में उन्हें स्मरण करके ही उनके रचनाकर्म की सार्थकता को रेखांकित किया जा सकता है। (यह जो आइना है : वर्ष 1988, पृष्ठ 26 से 32)

पंडित राधेश्याम कथावाचक की 'राधेश्याम गीतावली' के संबंध में एक हर्षप्रद कर्त्तव्य पालन के रूप में लिख रहा हूँ। यह अत्यंत आह्लाद का विषय है कि पंडित जी की हिन्दी साहित्य सेवा जो लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व आरम्भ हुई थी आज भी अजस्र गति से चल रही है।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे जब कुछ पाश्चात्य लेखकों की पुस्तकों की बिक्री की संख्या देखकर आश्चर्यचकित होते हैं, तो वह मातृभाषा और राष्ट्रभाषा हिन्दी की दशा पर तरस खाया करते हैं। पर कम लोगों को पता है कि भारतवर्ष के भी अनेक ग्रंथ और लेखक ऐसे हैं जो किसी भी पाश्चात्य लेखक के समक्ष प्रचार की दृष्टि से नहले पर दहले ही बैठेंगे। श्रीमद्‌भागवतगीता दुर्गासप्तशती, रामचरितमानस इत्यादि ऐसे ही गंथ हैं। जिनका प्रचार भी किसी पाश्चात्य ग्रंथ के प्रचार और प्रसार, प्रभाव से कम नहीं है।

कविरत्न पंडित राधेश्याम कथावाचक जी कथावाचक ने अपने कवि जीवन के प्रारंभ के प्रारम्भ से ही भारत के हृदय को भली भांति समझकर उसी परम्परा को अपनाया जो जाने अनजाने में प्रत्येक भारतीय के खत में घुली मिली हुई है। आपने मुख्यत: राम और कृष्ण लीला को ही मुख्यत: अपने कविकर्म का विषय बनाया। परिणाम स्पष्ट है कि आज जब कि पंडित जी अपने सार्थक एवं सफल जीवन के चौसठवें समृद्धिशाली वर्ष को पार कर रहे हैं उनकी रामायण के एक करोड़ खंड

विशाल भारत के कोने-कोने में ही नहीं, भारत के बाहर, जहाँ हिन्दी भाषा बोलने और समझने वाले बसते हैं, पहुँच चुके हैं। पर पंडित जी की लेखनी आज भी सक्रिय है, उनके जीवन में आज भी कविसुलभ सरसता है, एवं कविता का प्रवाह आज भी अजस निर्झर की भाँति सतत प्रवाहमान है। अत: चौसठ वर्ष की अवस्था में पंडित राधेश्याम जी अपनी 'गीतावली' जनता के हृदय में रमने वाले जनता-जनार्दन अपने इष्टदेव भगवान श्रीराम को अर्पित करते हैं।

'श्री राधेश्याम गीतावली' की अपनी अलग ही शैली है। इसको पंडित जी ने प्रथम बार अपनी 'श्री राधेश्याम गीतांजलि' में अपनाया था। इन दोनों पुस्तकों में जहाँ तुलसीदासजी की रचनाओं के नामों को ग्रहण करके ग्रंथकार ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है-वहाँ अपने व्यक्तित्व की भी स्पष्ट पृथक रूप में अभिव्यक्ति की है। इन पुस्तकों में प्रत्येक गीत की भूमिका गद्य में लिखी गई है। गीतों की इन भूमिकाओं में पाठक को केवल गीत की पृष्ठभूमि ही नहीं मिलेगी, उसके साथ ही साथ कवि के व्यक्तिगत जीवन की झाँकी, अनेक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं पर उनके विचार एवं विद्यमान वस्तुस्थिति का चित्रण भी मिलेगा। और यह सब कुछ मिलेगा पंडित जी की रोमाग्र तक सजीव बालबोध गद्य शैली में। अपने दीर्घकालीन नाटक-रचना और कथावाचक के अनुभव से पंडित जी ने अत्यंत परिमार्जित, सरल एवं प्रभावशाली और नुकीली गद्य एवं भाषण की शैली का विकास किया है। यह शैली सर्वदा सामने वाले प्रत्यक्ष श्रोता अथवा अदृष्ट पाठक का अत्यधिक ध्यान रखने वाली है, और यही इसकी सार्वत्रिक और सार्विक स्वीकृति का आंशिक रहस्य भी है। जो अतिथि दूसरों का इतना अधिक ध्यान रखेगा उसका प्रवेश कहीं निषिद्ध नहीं हो सकता।

पंडित जी ने 'गीतावली' में अपनी शिक्षा दीक्षा का कुछ हलका सा आभास दिया है। यह सत्य है कि पंडित जी ने किसी ऐसे विश्वविद्यालय में शिक्षा नहीं पाई- जहाँ ऊँची-ऊँची दीवारों के भीतर पुस्तकीय ज्ञान का आदान-प्रदान और पार्वण परीक्षाएं चला करती हैं। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के लिये विश्वविद्यालयों की शिक्षा है ही नहीं। आपकी शिक्षा खुले विश्वरूपी विद्यालय में हुई-जिसमें पगपग पर पढ़ाई और पगपग पर ही परीक्षा भी चला करती है। इस 'विश्व विद्यालय' में पढ़ने वाले को बेकारी की समस्या से नहीं जूझना पड़ता, इतना तो निर्विवाद है। पंडित जी ने

अपने को जो विश्वविद्यालय में स्वयं शिक्षा दी उसकी सार्थकता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि आपको स्वर्गीय महामना मदनमोहन मालवीय एवं कुछ सीमा तक महात्मा गाँधीजी तक की अन्तरगता की प्राप्ति हुई।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य इस बात को स्पष्ट करना है कि पंडित राधेश्याम जी की कला, शैली और मानस भूमिका जो हमारी किताबों की बंधी बंधाई परिभाषाओं की पद्धति से मेल नहीं खाती उसका कुछ मौलिक कारण है। पंडित जी की भाषा को समझने के लिये हमको आज से ५०-५५ वर्ष पूर्व के बरेली और रुहेलखण्ड के वातावरण की कल्पना करनी पड़ेगी। 'राष्ट्रीयता' और 'संस्कृति' जैसे शब्द भी उस समय भविष्य के गर्भ में छिपे हुए थे और ब्राह्मणों के बच्चों का भी 'अक्षरारम्भ' नहीं 'मकतब' क्या हुआ करता था। उस वातावरण में पंडित राधेश्याम जी ने अपना कार्य आरम्भ किया जिसमें भारत की चेतना पर दुहेरी गुलामियों के पर्त चढ़े हुए थे। इस पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखकर हम देख सकेंगे कि पंडित राधेश्याम ने कितनी चतुरता से परिस्थिति की विकटता को ही अपना शस्त्र बनाकर-उसी के द्वारा राष्ट्र और संस्कृति की भावना का शनैः शनैः पुनरुत्थान किया। यदि हम पिछले साठ वर्ष के इतिहास को दृष्टि में रखेंगे तो हमको पता चलेगा कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदासजी और पंडित राधेश्याम के कृतित्व में पर्याप्त सामानान्तर्य है।

पंडित राधेश्यामजी की महान सफलता का रहस्य है उनके द्वारा भारतीय परम्परा में रामभक्ति की और सदाचार प्रियता की महत्ता की स्वीकृति। इसके साथ ही साथ उनकी रचनाओं के व्यापक प्रचार का श्रेय उनकी भाषा और शैली-संबंधी यथार्थवादिता को भी है। इसके विषय में ऊपर भी संकेत किया जा चुका है। पंडितजी का हिन्दी और उर्दू साहित्य का अध्ययन अत्यन्त व्यापक और विशाल है। संस्कृत साहित्य से आपका परिचय प्रत्यक्षेण कम तथा अनुवादों के द्वारा बहुत काफी है। पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति का प्रभाव आप पर बहुत कम पड़ा है-केवल उतना ही जितना भारतवर्ष के आधुनिक वातावरण से छनकर किसी भी कुशाग्र बुद्धि व्यक्ति पर पड़ सकता है। सामाजिक विचारों में आप सर्वदा प्रगतिशील रहे हैं। राष्ट्रप्रेम के कारण ही आप मालवीयजी, गाँधीजी और कुछ समा तक नेहरू परिवार के भी प्रिय बनने में सफल हुए।

आज के भारत का मानस किस प्रकार के साहित्य से पोषण पा रहा है यदि इसका वास्तविक स्वरूप हमको जानना हो तो हमको एक तो रेल्वे बुकस्टालों पर दृष्टिपात करना होगा और दूसरे देहाती बाजारों और पैंठो की छोटी-छोटी पुस्तकों की दूकानों पर। इन स्थानों पर हमको नाना प्रकार का साहित्य दृष्टिगोचर होगा। प्रभाव की दृष्टि से हम इसमें अनेकों स्तर पाएंगे-जैसे (१) मनोरंजन के द्वारा मानसिक और नैतिक पतन की और प्रवृत्त करने वाला साहित्य (२) केवल मनोरंजन मात्र देने वाला साहित्य (३) मनोरंजन के साथ मानसिक और नैतिक उत्थान करने वाला साहित्य (४) केवल मानसिक और नैतिक उत्थान का साहित्य (५) राजनैतिक प्रचार करने वाला साहित्य और (६) वैज्ञानिक ज्ञान देने वाला साहित्य, इत्यादि। पंडित राधेश्यामजी का समग्र साहित्य तीसरी कोटि में आता है, और यह कोटि ऐसी है कि जो देशकाल-निरपेक्ष भाव से सर्वाधिक स्वीकृति प्राप्त करती है। पंडितजी ने जनप्रियता प्राप्त करने के लिए अपने साहित्य में नैतिकता का सौदा कदापि नहीं किया; हां, केवल अक्षरमात्र का ज्ञान रखने वाली जनता का नैतिक उत्थान और मनोरंजन करने के लिए भाषा के क्षेत्र में उस जनता के साथ सहयोग अवश्य किया, जिसको चाहें तो हम समझौता भी कह सकते हैं। आपने भजन भी लिखे और ग़ज़लें भी-इन दोनों के पर्याप्त अच्छे उदाहरण 'श्री राधेश्याम गीतावली' में भी हैं। अन्यत्र भी आपने हिन्दी उर्दू शब्दों का साथ-साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर प्रयोग किया है।

इस प्रकार की शैली पर साहित्यिक पद्धतियों के प्रहरी ठीक उसी प्रकार आपत्ति करते हैं जिस प्रकार मध्यकाल में तुलसीदासजी के 'भाखा' प्रयोग पर आपत्ति की गई थी। कुछ महानुभाव तो यहाँ तक कहते हुए सुने गये हैं कि पंडित राधेश्यामजी ने तुलसीदास के काव्य की हत्या की है अथवा उसको क्षति पहुँचाई है। दूसरी ओर ऐसे भी महानुभावों का अभाव नहीं है जो राधेश्यामजी को तुलसीदासजी का अवतार मानते हैं। इन पंक्तियों के लेखक का मत उपर्युक्त दोनों मतों से पृथक है। पंडित राधेश्यामजी तुलसीदासजी के परम भक्त हैं और तुलसी के मानस पर प्रचार उनके जीवन का स्वयं-स्वीकृत व्रत है। जब से पंडित राधेश्यामजी की 'रामायण' का प्रचार हुआ है तब से आज तक के आँकड़े एकत्रित किये जाएंगे तो संभव है यही पता चले कि पंडित राधेश्यामजी की रामायण तुलसी के 'मानस' के प्रचार में सहायक ही हुई है। यही साहित्यिक अवतारवाद की समस्या सो इस बीसवीं शताब्दी में पुराने अवतारों

का अवतारीपन बचा रहे तो इसी को बहुत समझिए, नये अवतारों की चर्चा बेकार है- जब तक कि कोई प्रबल राजनीतिक दल किसी को अवतार बना डालने की न ठान लें।

हमारी केन्द्रीय सरकार ने प्रौढ़-शिक्षा की योजना के अन्तर्गत सरल-भाषा में लिखी छोटी उपयोगी और मनोरंजक पुस्तकों को प्रस्तुत कराने और पुरस्कृत करने का कार्य आरम्भ किया है। अभी हाल में सभी भारतीय भाषाओं की ऐसी पुस्तकों पर ५०० प्रति पुस्तक पुरस्कार घोषित किया है। यह पुस्तकें उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि में कहाँ तक सफल होंगी, यह तो भविष्य ही बतलाएगा पर पंडित राधेश्यामजी का श्रीराधेश्याम प्रेस और आपका समग्र साहित्य इस कार्य को गत ४० वर्ष से इतनी सफलता के साथ कर रहा है कि उस सफलता पर प्राय: कवियों और साहित्यिकों को ईर्ष्या होती है। पंडित राधेश्यामजी के समान साधारण जनता में स्वीकृत दूसरा कोई लेखक या कवि हमारे देश में है-यह कहना कठिन है।

कुछ लोगों का ऐसा भी कहना है कि पंडित राधेश्यामजी को आज चाहे कितनी भी व्यापक जनस्वीकृति प्राप्त हो गई हो पर भविष्य में उनकी जनप्रियता सदा ऐसी ही नहीं बनी रहेगी। इन पंक्तियों का लेखक ज्योतिष से नितान्त अनभिज्ञ है, अतएव इस भविष्यवाणी के विषय में मौन ही रहना उचित समझता है। हां, यदि यह भारत जिसके हृदय में रामकृष्ण विराजते हैं, भारत ही रहा, तो पंडित राधेश्यामजी की रचनाओं का भविष्य निरापद है। पर यदि भारत कुछ और ही हो गया तो सम्भवतया संसार भर में वह उथल-पुथल मचेगी कि बीते कल वाले किसी को कल नहीं मिलेगी। पर अभी तो हमें कवि के शब्दों में यही कहना है :-

"बड़ी है राम-नाम की ओट।" (सूरदास)

शरद पूर्णिमा सम्वत् 2011, बरेली

क्षेमचन्द्र सुमन

हिन्दी को नाटकों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया

पंडित राधेश्याम कथावाचक जन्म शती समारोह का आयोजन नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी के तत्वावधान में दिनांक 16 जनवरी, 1991 को प्रसिद्ध साहित्यकार पद्मश्री आचार्य 'क्षेमचन्द्र सुमन' के उद्घाटन भाषण से प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर श्री सुमन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा-''यह आयोजन एक श्राद्ध यज्ञ हैं। आज पंडित राधेश्याम कथावाचक जी को हिन्दी कथा जगत भूल चुका है। उनके नाटकों ने साहित्यिक व धार्मिक जगत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने हिन्दी को नाटकों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया। नाटक जब अपनी शैशवावस्था में था तब आपने पारसी नाट्य शैली के जरिये आपने एक नयी सांस्कृतिक चेतना प्रकट करने का कार्य पंडित जी ने किया। वे व्यावसायिक रूप से नाटकों में नहीं था। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने राम कथा के माध्यम से भारत में खड़ी बोली में राम काव्य की रचना करके उसे लोकप्रिय बनाया। आज राम हमारे रोम-रोम में समाये हैं। इसमें जो भावना 'मानस' के माध्यम से तुलसी ने उद्भुत की उसकी अनेक कृलिष्टताओं को आपने 'राधेश्याम रामायण' के माध्यम से दूर किया। मेरा यह सौभाग्य है कि मैं हरिद्वार में 1928-30 के मध्य उनके प्रवचन सुन चुका हूँ। उस समय मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय का छात्र था। ग्रीष्म काल में प्रतिवर्ष एक माह के लिए पंडित मदनमोहन मालवीय के साथ कथावाचक जी का प्रवचन होता था। राधेश्याम जी की हिन्दी निष्ठा सांस्कृतिक जीवन से जुड़ी थी। उन्होंने हिन्दी नाटक को एक नये द्वार अपनी नाट्य शैली के माध्यम से दिए। उन्होंने चर्चा में आगे कहा कि दिल्ली के मोती टाकीज में उनके नाटकों का उद्घाटन पंडित मोतीलाल नेहरू ने किया। लोग टिकट लेकर उनके नाटक देखा करते थे।''

पंडित राधेश्याम कथावाचक रचित 'कृष्णायन' की चर्चा में श्री सुमन ने कहा- ''आज हिन्दी में पाँच कृष्णायन हैं। इनमें कथावाचक जी का कृष्णायन भाषागत

साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उनका जीवन धार्मिक निष्ठा से सरोबार सांस्कृतिक जीवन था। राधेश्याम पुस्तकालय से प्रकाशित 'भ्रमर' मासिक के सम्पादकों में पंडित राधेश्याम कथावाचक, पंडित गोपी वल्लभ शास्त्री, प्रवासी लाल वर्मा, उदय शंकर भट्ट तथा पंडित राम नारायण की चर्चा में आपके साहित्यिक योगदान की चर्चा की। वह न केवल नाटककार, कवि और लेखक थे बल्कि वे अपने को हर कसौटी पर कसने की प्रतिभा रखते थे। श्री सुमन ने जोर देकर कहा रेडियो दूरदर्शन ने स्टेज की लोकप्रियता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। ऐसे में नाटक को पुर्नजीवन प्रदान करने की आवश्यकता है। उन्होंने आशा प्रकट की जिस प्रकार काशी ने साहित्य में एक प्रतिमान स्थापित किया है। उसी प्रकार इस जन्मशती के अवसर पर साहित्यकार उन्हें पुर्नजीवित कर स्थापित करेंगे।" (राधेश्याम कथावाचक : सफर एक सदी का, पृष्ठ 109-110)

श्री कथावाचकजी का जन्म 15 नवम्बर सन् 1890 को बरेली (उत्तरप्रदेश) के एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। होश संभालते ही आपको स्वाध्याय का शौक लगा और 8-10 वर्ष को अवस्था तक आते-आते आपने तुलसीकृत रामायण का पूरा स्वाध्याय कर लिया। उसके साथ-साथ हारमोनियम आदि वाद्यों का भी आपने अच्छा अभ्यास कर लिया था। अपने मस्त स्वभाव तथा स्वस्थ शरीर के कारण आपने थोड़े से ही अभ्यास से संगीत तथा वाद्य का अच्छा अभ्यास कर लिया और रामचरित मानस का कथावाचन करने लगे। एक बार जब राष्ट्रनायक पंडित जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू बहुत अस्वस्थ हो गई तब डॉक्टर की सलाह पर 'रामचरितमानस' की कथा सस्वर सुनाने के लिए किसी अच्छे कथावाचक की आवश्यकता हुई तब आपने ही एक मास तक 'आनन्द-भवन' में कथा कहकर माता स्वरूपरानी नेहरू को प्रसन्न-वदन किया था। यह एक सुयोग ही था कि आप किसी मुकदमे के प्रसंग में इलाहाबाद गये हुए थे और आपने स्वयं ही यह दायित्व अपने ऊपर लेकर पंडित मोतीलाल नेहरू को निश्चिन्त किया था।

धीरे-धीरे आपकी ख्याति इतनी हो गई कि आपने स्वयं ही 'रामचरितमानस' के आधार पर अपनी प्रतिभा के बल पर 'राधेश्याम रामायण' नाम से एक नई रामायण की रचना कर डाली और अखिल देश में उसकी ऐसी धूम मचा दी कि उसने राधेश्याम जी का अर्थसंकट दूर कर दिया। आपकी इस रामायण की भाषा इतनी सरल तथा

रोचक होती थी कि जनसाधारण इससे राम-कथा का आस्वादन सहज ही में ले लेता था। आप जब बोलते थे तो श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। आपने लगभग 30 वर्ष तक देश के कोने-कोने में राम-कथा को लोकप्रिय बनाया था। यहाँ तक कि सभी राज-दरबारों में आपकी माँग होने लगी थी। आपकी कथा का श्रवण-लाभ जहां नेपाल नरेश ने प्राप्त किया था, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैसे नेता भी उससे लाभान्वित हुए थे।

जब आपकी इस रामायण की मांग दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी तो आपने स्वयं ही सन् 1908 में 'श्री राधेश्याम पुस्तकालय' तथा 'राधेश्याम प्रेस' (1917 ई.) की स्थापना करके उसके द्वारा अपना प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे जब काम बढ़ता चला गया तो 'राधेश्याम प्रेस' का अपना पोस्ट ऑफिस भी हो गया और कुछ दिन बाद बरेली की नगरपालिका ने उस सड़क का नाम 'राधेश्याम मार्ग' ही रख दिया, जिस पर आपका मकान था। जब 'राधेश्याम रामायण' जन साधारण में लोकप्रियता के चरम शिखर को छू गई तो आपने नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिए। आपके नाटकों को 'रामायण' की भांति ही जनता का असीम प्यार मिला तथा आपके 'वीर अभिमन्यु' जैसे अनेक नाटक सारे देश में बहुत लोकप्रिय हुए। जिस प्रकार 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर आपने 'राधेश्याम रामायण' की रचना की थी, उसी प्रकार कृष्ण-कथा को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से आपने 'कृष्णायन' की रचना भी की थी।

जब आपका प्रकाशन का कार्य बढ़ गया तो आपने अपने साहित्य के प्रचार के लिए 'भ्रमर' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र भी प्रारंभ किया। कभी वह समय था जबकि 'भ्रमर' में सभी उच्च कोटि के लेखकों की रचनाएं प्रकाशित हुआ करती थीं। इस पत्र के सम्पादकीय विभाग में प्रख्यात पत्रकार श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय भी कुछ वर्ष तक रहे थे। उन दिनों बरेली में श्री उदयशंकर भट्ट रहा करते थे। 'श्री राधेश्याम प्रेस' के व्यवस्थापक श्री रामनारायण पाठक ने भी कुछ समय तक 'भ्रमर' का सम्पादन करके अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था। 'भ्रमर' के प्रकाशन से पंडित राधेश्याम कथावाचक की प्रतिष्ठा साहित्यिक जगत में बहुत हुई थी। आपके नाटकों ने उस समय रंगमंच पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में अभिनन्दनीय कार्य किया

था, जब सर्वत्र 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों' का ही साम्राज्य था। आपने कुछ दिन 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' तथा 'न्यू अल्बर्ट कम्पनी' में भी कार्य किया था।

आपके नाटकों में 'वीर अभिमन्यु' के उपरान्त जिनको अच्छी ख्याति मिली थी उनमें 'परिवर्तन', 'प्रह्लाद', 'श्रीकृष्णावतार', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रवणकुमार', 'ईश्वरभक्ति', 'द्रौपदी स्वयंवर', 'शकुन्तला', 'महर्षि वाल्मीकि' तथा 'सती पार्वती' आदि प्रमुख हैं। हिन्दी-रंगमंच की समृद्धि में आपका योगदान अभूतपूर्व और अभिनन्दनीय है। जिन दिनों आप हिन्दी-नाटक-लेखन के क्षेत्र में उतरे थे, उन दिनों सर्वश्री नारायणप्रसाद 'बेताब', हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा' तथा विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल' जैसे अनेक नाटक-लेखक अपनी प्रतिभा का परिचय हिन्दी जगत को दे रहे थे, परन्तु आपकी प्रतिभा सर्वथा निराली थी। आपको अपने संघर्षमय जीवन में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, इसकी कुछ झाँकी आपकी आत्मकथा 'मेरा नाटककाल' में प्रस्तुत की गई है। राम-कथा को लोक-नाट्य-शैली में प्रस्तुत करने में पंडित राधेश्याम कथावाचक ने जिस प्रतिभा का परिचय दिया था उसी तत्परता से नाटक के क्षेत्र में भी आपकी देन सर्वथा अभिनन्दनीय है।

आपका निधन सन् 1963 में हुआ था।

(दिवंगत हिन्दीसेवी-भाग-1)

डॉ. रामस्वरूप आर्या

चिर स्मरणीय पंडित राधेश्याम कथावाचक

पंडित राधेश्याम कथावाचक की 'रामायण' (राधेश्याम रामायण, जिसका मूल नाम 'राम-कथा' है) बाल्यकाल में ही पढ़ी थी और उन दिनों मन उसमें कुछ ऐसा रम गया था कि खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते उसकी पंक्तियाँ अन्तस् में गूंजती रहती थी। तभी से पंडित जी के दर्शनों की उत्कृष्ट लालसा थी, किन्तु बरेली-निवासी होते हुए भी वह कुछ विलम्ब से पूर्ण हुई।

पंडित जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री घनश्याम शर्मा का युवावस्था में ही देहावसान हो गया था। इसका उन पर भयंकर आघात हुआ। उस विक्षेपावस्था में वे बम्बई जी विराजे। लोगों ने समझा अब पंडित जी फ़िल्म कम्पनियों के लिए लिखेंगे। सुना था कुछ फ़िल्मों का उन्होंने निर्देशन भी किया। सोहराब मोदी की प्रसिद्ध फ़िल्म 'झाँसी की रानी' के गीत उन्हीं ने लिखे थे किन्तु बम्बई प्रवास का मूल कारण पुत्र-विछोह ही था। इसका संकेत उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटककाल' में विस्तारपूर्वक किया है। ज्ञातव्य है कि 'झाँसी की रानी' फ़िल्म के गीत लिखने के लिए पंडित जी ने मोदी साहब के बहुत आग्रह पर भी एक पैसा भी नहीं लिया था।

थोड़े समय बाद पंडित जी बरेली लौट आए। अब उनके दर्शन सुलभ थे। वे रामायण मंडल के साप्ताहिक सत्संग में पधारे थे। सभास्थल के निकट पहुँचते हुए लाउडस्पीकर द्वारा मधुर तरंगें हवा पर तैरती हुई आ रही थी। उस समय पंडित जी बोल रहे थे। राम के उच्चादर्शों पर उनका व्याख्यान चल रहा था। व्याख्यान क्या था मानो मधु की वर्षा हो रही थी। पंडित जी के व्याख्यान में नाटकीय तत्व रहता था। कथावाचन में भी इससे प्रभावोत्पाकदता आती थी। व्याख्यान के अंत में उन्होंने कहा-आज प्रचार का युग है। सभी लोग अपने-अपने प्रचार में लगे हैं। हमने राम नाम के प्रचार का बीड़ा उठाया है। हम उसके 'एजेंट' हैं-

मेरा घर है सुरसरि के तट-तुम रहते जग-जलनिधि तट हो
मैं गंगा ही का माँझी हूँ-तुम भवसागर के केवट हो
मजदूर कहीं मजदूरों को-मजदूरी देते हैं भैया?
मल्लाह कहीं मल्लाहों से-मल्लाही लेते हैं भैया?
अपने को ऋणी समझते हो-तो ऋण तुम वहीं चुका देना
मैंने है तुमको पार किया-तुम मुझको पार लगा देना।

जब केवट एक बार की उतराई के बदले भगवान राम से इतनी बड़ी वस्तु मांग सकता है तब ज़िन्दगी भर भगवान की एजेंटी करने वाले पंडित राधेश्याम जी को स्वर्ग में उच्चासन अवश्य प्राप्त हुआ होगा।

'राधेश्याम रामायण' के माध्यम से राम-कथा का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। आज भी अनेक स्थानों पर रामलीला के उसके प्रभावी संवादों को अपनाया जाता है। लेखक के जीवन-काल में ही इसकी एक करोड़ प्रतियाँ प्रकाशित हुईं, जो एक कीर्तिमान है।

'राधेश्याम रामायण' में पंडित जी ने जिस छंद को अपनाया, बाद में वह 'राधेश्यामी छंद' अथवा 'तर्ज राधेश्याम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय के अनेक कवियों ने इसे अपनाया। श्री सुरेन्द्रमोहन मिश्र ने अपने लेख 'राधेश्यामी छंद' भी लोकप्रिय थे। (अमर उजाला 27 जुलाई, 1960 ई. में ऐसे अनेक रचनाकारों तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है।) 'राधेश्यामी छंद' हिन्दी के प्रसिद्ध छंद लावनी (30 मात्राओं का छंद) में दो मात्राओं के योग से बनाया गया है। इसमें 32 मात्राएं होती हैं।

'राधेश्याम रामायण' की शैली में ही पंडित राधेश्याम कथावाचक ने 'कृष्णायन' काव्य की रचना की 'श्री राधेश्याम गीतावली', 'श्री राधेश्याम गीतांजलि', 'श्री राधेश्याम भजनशाला', 'राधेश्याम विलास', 'राधेश्याम कीर्तन' आदि उनकी अन्य कविता पुस्तकें हैं।

हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में भी पंडित राधेश्याम कथावाचक का महत्वपूर्ण योगदान है। उन दिनों नाटकों के मंच पर पारसी कम्पनियों का एकछत्र राज्य था। उनके द्वारा जो नाटक खेले जाते थे, उनमें उर्दू का बाहुल्य रहता था तथा वे हुस्न और

इश्क पर केन्द्रित होते थे। पंडित राधेश्याम जी ने इन्हें एक नई दिशा दी। उनके नाटक धार्मिक भावना तथा राष्ट्रीय एवं जातीय चेतना से भरपूर थे। वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, ईश्वर-भक्ति, श्रीकृष्ण अवतार, द्रौपदी स्वयंवर, परिवर्तन, उषा-अनिरुद्ध, श्रवण कुमार, महर्षि वाल्मीकि, सती पार्वती आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इन नाटकों से पारसी रंगमंच का परिष्कार हुआ। डॉ. दशरथ ओझा ने इनकी प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' में लिखा है-''आगा हश्र के उपरान्त राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की धूम मची। इन्होंने नवीन नाटक 'महर्षि वाल्मीकि' 1986 वि. बेताब की अपेक्षा साहित्यिक हिन्दी के अधिक निकट थी। नाटकों के कथानक चरित्र गठन और मनोरंजन दोनों का ध्यान रखकर प्रस्तुत किये जाते थे।'' डॉ. श्यामसुंदर दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रूपक रहस्य' में पंडित राधेश्याम कथावाचक, श्री नारायण प्रसाद बेताब तथा बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाटकों की तुलना करते हुए लिखा था, ''इन तीनों में पंडित राधेश्याम की भाषा सबसे अधिक परिमार्जित और सुव्यवस्थित है।''

पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटक सुरुचिसम्पन्न दर्शकों से लेकर जनसाधारण तक लोकप्रिय थे। उनके नाटक 'श्रवण कुमार' का उद्घाटन (मई 1928 ई. में) श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने तथा 'ईश्वर-भक्ति' का उद्घाटन (1926 ई.) में पंडित मोतीलाल नेहरू ने किया था। 'वीर अभिमन्यु' देखकर पंडित मदनमोहन मालवीय ने मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की थी। 'वीर अभिमन्यु' तथा 'श्रवण कुमार' नाटक पंजाब यूनिवर्सिटी की 'हिन्दी भूषण' तथा 'इंटरमीडिएट' कक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी रहे। प्रेमचंद जी कथावाचक जी के नाटकों के प्रशंसक थे। उन्होंने 'माधुरी' (वर्ष ८ संख्या ६) के सम्पादकीय में पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए एक टिप्पणी लिखी थी। उन दिनों ये नाटक अत्यधिक लोकप्रिय थे। प्रेमचंद जी के 'गबन' उपन्यास के निम्नलिखित उद्धरण से इसकी पुष्टि होती है-एक दिन मनोरमा थियेटर में राधेश्याम का कोई ड्रामा होने वाला था। ड्रामे की बड़ी धूम थी। एक दिन पहले से ही लोग अपनी जगह रक्षित कर रहे थे।

कथावाचक जी की दृष्टि में नाटकों का उद्देश्य मात्र सस्ता मनोरंजन नहीं था। इनके माध्यम से वे समाजसुधारक, सद्वृत्तियों तथा राष्ट्रीय भावों को भी जागृत करना

चाहते थे। अपने पौराणिक नाटकों में भी उन्होंने यथास्थान राष्ट्रीय भावना के लिए अवसर निकाल लिया है। 'श्री कृष्णावतार' के गाने राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत हैं, यथा-

भाग्य फिर सोते हुए भारत का जग जाने को है।
नाथ फिर डूबते भारत को बचाने आओ।

'परमभक्त प्रह्लाद' में राष्ट्रीय भावों का प्राधान्य था। इसमें हिरण्यकशिपु के कुशासन के विरुद्ध प्रजा के विद्रोह के ब्याज से अंग्रेजी शासन पर प्रहार किया गया था किन्तु उपयुक्त पौराणिक परिप्रेक्ष्य के कारण अंग्रेजी सरकार उनका कुछ न बिगाड़ सकी। नाटक कम्पनी के डाइरेक्टर मि. माणकशाह बल्सारा ने उन्हें बताया-"यहाँ खुफिया पुलिस का बड़ा अफसर दो बार अपनी डायरी लेखन आया कि कहीं से भी नाटक को 'हुकूमत के विरुद्ध' पकडूं और बन्द कराऊँ पर वह फेल रहा। प्रह्लाद और प्रमोद निश्चय ही हुकूमत के विरुद्ध खूब खुल-खुल कर उस नाटक में बोलते थे- पर 'आड़' यह थी कि किस हुकूमत के विरुद्ध?-उस 'हिरण्यकशिपु' की जिसने अपने लिए 'जगदीश' घोषित कर 'प्रजा' को 'भ्रम' में डाला था।" श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने इस नाटक के संबंध में पंडित जी से कहा था, "आपने ऐसा नाटक लिख दिया है, जिसमें आने वाले भारत की 'भविष्यवाणी' है।"

पंडित जी के नाटकों में धार्मिक भावों का समावेश रहता था। फ़िल्मनिर्माता श्री रघुपतिराय 'राकेश' जी ने पंडित जी को बताया था "उनका अधिकांश जीवन इंग्लैंड में बीता है- हिन्दू धर्म की बातें वे जानते ही न थे-इंग्लैंड से जब लाहौर आए तो 'श्री कृष्णावतार' देखने आए। दूसरे दिन सपत्नीक देखने गए, तीसरे दिन और रिश्तेदारों को लेकर देखने गए, यहां तक कि 17 बार उन्होंने यह नाटक देखा। इसी दर्म्यान उनके यहाँ श्री कृष्ण का चित्र भी आ गया, गीता भी आ गई, आरती पूजन भी होने लगा।" महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस नाटक को देखकर कहा था-"यह चलता फिरता हुआ सनातन धर्म मंडल है।"

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी पंडित राधेश्याम कथावाचक का महत्वपूर्ण योगदान है। अक्टूबर 1922 ई. में आपने अपने 'श्री राधेश्याम प्रेस' से 'भ्रमर' (मासिक) का प्रकाशन आरंभ किया। 1928 ई. तक इसके प्रकाशन की सूचना मिलती है। सर्वश्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, बल्देव प्रसाद मिश्र, अन्नपूर्णानंद,

बालकृष्ण बलदुआ, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, परिपूर्णानंद वर्मा, उदयशंकर भट्ट, चंडीप्रसाद प्रभृति लेखक एवं लेखिकाओं की रचनाएं इसमें कहानीकार यशपाल जी की प्रथम कहानी 'भ्रमर' में प्रकाशित हुई थी। यशपाल जी ने अपनी आत्मकथा 'सिंहावलोकन' में इसका उल्लेख किया है।

पंडित राधेश्याम कथावाचक ने अपनी रामायण द्वारा रामकथा को लोकप्रियता के चरम शिखर पर पहुँचाया। उन्होंने पारसी रंगमंच का परिष्कार किया। मंच पर खेले जाने वाले उर्दू-बहुल नाटकों को सरल हिन्दी में प्रस्तुत किया। मनोरंजन के साथ-साथ उनमें समाज-सुधार की भावना भी विद्यमान थी। नाटकों के क्षेत्र में उनका महान योगदान है। पंडित राधेश्याम कथावाचक का जन्म 25 नवम्बर 1890 ई. को बरेली में हुआ था तथा 26 अगस्त 1963 ई. को उनका स्वर्गवास हुआ। अपने महान व्यक्तित्व एवं कृतित्व के आधार पर वे चिरस्मरणीय रहेंगे।

C/O डॉ. चन्द्रप्रकाश आर्य
बी-14, नई बस्ती, बिजनौर (उ.प्र.)
मो. : 0942572835

राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के पुरोधा : राधेश्याम

मुझे ध्यान है कि शहर की प्रमुख सड़कों से राघवाचार्य की पालकी (सवारी) निकलती थी। यह दृश्य आज भी आँखों के समाने तैर जाता है-पालकी पर बैठे राघवाचार्य कनफट कुण्डल पहने, पैरों में लकड़ी की पादुका (खडाऊँ) तथा पीतवस्त्र पहने ललाट पर तिलक की आभा। हनुमान संकीर्तन मण्डल की प्रभातफेरी में कथावाचक जी, पं. नाथलाल अग्निहोत्री जी, 'नम्र' तथा राघवाचार्य नित्य संकीर्तन मण्डली के साथ नगर यात्रा पर निकलते थे। आचार्य पीठ के जन्माष्टमी कार्यक्रमों की धूम रहती थी। आचार्य पीठ से निकलने वाले संस्कृत समाचार पत्र 'आचार्य' का विशेष मान था। कलकत्ता से प्रकाशित 'सन्मार्ग' में आपके आलेख प्रमुखता से प्रकाशित होते थे।

पण्डित राधेश्याम कथावाचक ने अपनी अप्रकाशित डायरी में राघवाचार्य के विषय में लिखा है-

यह घटना तब की है जब 'स्वराज्य' मिल रहा था। आगे लिखा-'अपनी रामायण लिखकर-गाकर जब मैं बरेली में जनप्रिय हुआ तो अनुसरण किया कालीचरण गोस्वामी नारायण, बाबूराम, माधोराम तथा लक्ष्मी आदि ने। इधर जब राधेश्याम प्रेस चमका तो बरेली प्रेस की मंडी ही बनने लगी। कई दर्जन प्रेस यहाँ चल पड़े। राघवाचार्य पहले वकील थे। वकालात नहीं चली तो कथावाचक उपदेशक बने। प्रेस भी खोल लिया। रामायण का अखंड पाठ मैंने ही यहाँ प्रारंभ कराया। आज घर-घर हो रहा है। नित्यानंद धौलपुर के रामदास को मैंने ही अपने बाग में रखकर पुजवाया। आज सन्यासियों की मौज है। शुकदेव नंद के मालदार बनियों को चेला बनाकर 'आनंद आश्रम' ही बनवा दिया। अब चुन्ना मियां के धन से मंदिर लक्ष्मीनारायण बना है। जाग गई बरेली।' (27 अगस्त 1959, पंडित राधेश्याम कथावाचक : डायरी का व्याकरण, पृष्ठ 36, संस्करण 2019 ई.)

परम सम्मानीय वयोवृद्ध पंडित राधेश्यामजी कथावाचक ने अपनी वाणी और लेखनी के द्वारा हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की-उसमें उनके नाटकों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

'मेरा नाटक काल' लिखकर आपने 'नाटक-साहित्य' के लिए की गई सेवाओं का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। नाटककार के दृष्टिकोण से लिखा गया आपका यह आत्मचरित-साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत है। इसमें संदेह नहीं कि इस स्त्रोत में आपके अन्तस्तल की ध्वनि पद-पद पर सुनाई देती है।

पण्डितजी अपने आल्यकाल में ही नाटकों की ओर आकृष्ट हुए थे। 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी में आपको भरती करने की इच्छा पिताजी के हृदय में उत्पन्न हुई थी। किन्तु भगवान का संकल्प आपको कथावाचक बना रहा था। आप कथावाचक बने-महर्षि वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदास के समान अपनी रामायण लेकर। कथावाचक के रूप में आपकी सारे देश में ख्याति हुई। किन्तु अवसर आने पर आपने नाटककार के उत्तरदायित्व का सार भी ग्रहण कर ही लिया। 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी के 'रामायण नाटक' का संशोधन करने के बाद आपने अपनी बुद्धि का विनियोग इस दिशा में इतनी योग्यता के साथ किया कि 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी के रंगमंच पर 'वीर अभिमन्यु' ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

इस से पूर्व रंगमंच पर उर्दू चल रही थी, हिन्दी को लाने का साहस किसी में न था। हिन्दी नाटकों का लेखन तो भारतेन्दु ने आरम्भ कर दिया था-तो भी नाटक सर्वसाधारण के नेत्रों को संतुष्ट न कर सके।

हिन्दी को रंगमंच पर लाने का श्रेय बहुत कुछ नाटक प्रदर्शित करने का व्यवसाय करने वाली पारसी कम्पनियों ही को है, और उनमें भी 'वीर अभिमन्यु' से पहले इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक स्टेज पर नहीं आया।

'वीर अभिमन्यु' और उसके बाद आपके परिवर्तन, प्रह्लाद, श्रीकृष्णावतार, रुक्मिणीमंगल, श्रवणकुमार, ईश्वरभक्ति, द्रौपदी स्वयम्बर, शकुन्तला, महर्षि वाल्मीकि, सती पार्वती आदि ने-दर्शकों का मनोरंजन ही नहीं किया अपितु जिसने एक बार भी देखा अथवा एक बार भी पढ़ा-वह भारतीय आदर्श से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। मानना पड़ेगा कि पण्डितजी के शब्दों में ओज है, संवादों में चेतना है

तथा विचारों में प्रेरणा देने की सामर्थ्य है। यह सब इसीलिए हो सका है कि पण्डितजी ने जो कुछ लिखा है-वह विषय में डुबकी लगाकर तन्मय होकर लिखा है। इतना ही क्यों-संचालन से लेकर अभिनय तक-सारी ही योग्यताएँ आप में प्रस्फुटित हुई हैं। तभी तो लाहौर में एक दिन आप हारमोनियम ले बैठे थे और लखनऊ में 'परिवर्तन' के 'शम्भू दादा' बनकर आप प्रकट हुए थे।

आपकी नाटककारिता का विलय यदि फ़िल्मकारिता में हुआ होता, और यदि आज आप के तत्वावधान में श्रीराम-कृष्ण के आदर्श चलचित्र सर्वसाधारण के सम्मुख होते तो-सचमुच आपकी प्रतिभा का अधिक उपयोग हम लोगों के लिये होता। आपके 'सत्यनारायण' की स्टोरी में संवाद खूब चमके ही हैं। रामायण और कृष्णायन के समान राम-कृष्ण के चलचित्र भी भारतीयता की प्रतिष्ठा करते तो कैसा अच्छा होता! पर अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है।

चलचित्र के लिए उपयोगी श्रीराम और श्रीकृष्ण सम्बन्धी पहले भाग पूर्णरूपेण आपके पास लिखे तैयार हैं। सुदामा और घना भगत की कथायें, 'सुख कहाँ' और 'उद्धार' भी आपके पास तैयार हैं। कितना सुन्दर हो कि इनका शीघ्र उपयोग हो और पंडितजी के जीवन के शेष दिन छायाचित्रों में फैली हुई गन्दगी को मिटाने में सफल हों। भगवान पण्डितजी को शतायु करें- जिससे उनके द्वारा देश की यह महान सेवा भी हो।

आचार्य पीठ, बरेली
सन् 1959 ई.

डॉ. अशोक उपाध्याय

कथावाचक के नाटकों में मनोरंजन और समाज सुधार

पंडित राधेश्याम कथावाचक पारसी रंगमंच के प्रतिष्ठित नाटककार थे। इस रंगमंच का संबंध मुंबई इत्यादि में रहने वाले धनवान पारसी सेठों से था, जो कि पैसा कमाने के लिए नाटक कम्पनियाँ चला रहे थे। यह विशुद्ध व्यावसायिक रंगमंच था और इसकी सफलता की कसौटी थी अधिक से अधिक धनोपार्जन तथा दर्शकों की वाहवाही एवं मनोरंजनप्रियता। रामलीला, रासलीला, संगीत और भांडों की नकल इत्यादि से उकताए हुए दर्शकों में शेक्सपीयर के नाटकों से प्रभावित फारसी प्रेमाख्यान तथा दंतकथाओं से गृहीत एवं भारतीय परिवेश में प्रचलित रोमांचकारी कथानक बहुत लोकप्रिय हुए। इनमें फारसी शैली की प्रधानता के कारण शोखी, शरारत, छेड़छाड़, अश्लीलतापूर्ण हाव-भाव तथा अतिनाटकीय और अनाटकीय सामग्री की अतिशयता थी। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार ''ये कम्पनियाँ सौ फीसदी व्यवसायी थीं, इसलिए अधिक से अधिक वे जनता की रुचि का प्रसाधन कर सकती थीं। उनकी अपनी रुचि कोई न थी। अत: जनता का रुचि-परिष्कार उनकी शक्ति से बाहर था। उनके सभी दोषों के लिए सुरुचि का अभाव ही उत्तरदायी था। सचमुच उन्हें इस समय तक कला के स्थूल रूप से ही परिचय था। उसके सूक्ष्म रूप से वे अनभिज्ञ थीं।''[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इत्यादि साहित्यकारों ने उनकी यथासंभव आलोचना करके तत्कालीन पुनर्जागरण के परिपेक्ष्य में समाज सुधारपूर्ण लोकहितैषी दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह अपने नाटकों के माध्यम से किया। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि ''भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र ने नाट्यकला में दक्षता नहीं दिखलाई, वरन उन्होंने अपनी रचनाओं में देश की दुरवस्था का दिग्दर्शन कराकर उसके प्रतिकार की चेष्टा भी की है। क्योंकि नाटक में केवल हृदयगत भावनाओं का ही स्पष्टीकरण नहीं रहता, उसमें समाज के बाह्य जीवन का अनुकरण भी रहता है, उसमें मनोरंजन ही नहीं वरन् समाजहित की भावना भी निहीत रहती है। उनकी आँखों के सामने समाज नाशोन्मुख हो रहा था। भारत के

पुनर्जीवन के लिए जीर्ण-शीर्ण सामाजिक जीवन को प्राणदान देना अत्यंत आवश्यक था।''[2]

पारसी रंगमंच भी उनसे प्रभावित हुआ और सुधारोन्मुख नाटकों की ओर अग्रसर हुआ। पूर्व तथा पश्चिम की व्यावसायिक एवं पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय और रोमानी प्रवृत्तियाँ समन्वित होकर एक चमत्कारपूर्ण नाट्यशैली में पौराणिक कथाएं लेकर पारसी रंगमंच पर अवतीर्ण हुईं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''यह संगम भारतीय जीवन के उस लम्बे गहन चरण में संभव था, जब एक ओर हम क्रमश: सीधे पश्चिम के सम्पर्क में आ रहे थे और दूसरी ओर जब हममें राष्ट्रीय चेतना, प्राचीन इतिहास के सम्पर्क के गौरव की भावना तीव्र हो रही थी। धर्मनिष्ठ हिन्दू जनता को, जो आर्यसमाज और अन्य सुधारवादी आंदोलनों के कारण घर से बाहर आयी थी, अपने गौरवपूर्ण चरित्र और महान आख्यान देखना भाता था। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, कानपुर आदि नगरों में जहाँ गांवों, कस्बों में मजदूर, मिस्त्री और बाबू लोग आये थे, उनके मनोरंजन के लिए कुछ ऐसी नई चीज की जरूरत थी, जो लौकिक श्रृंगारिक भी हो, साथ ही मन बहलाने वाली या उपदेश देने वाली भी।''[3]

पंडित राधेश्याम कथावाचक ऐसे ही लोकप्रिय नाट्यमंच के नाटककार थे। उन्होंने भारतेन्दुजी के मत का अनुसरण करते हुए नाटक को मनोरंजन के लिए नाट्यरस बरसाने के साथ-साथ लोकसुधार या शिक्षा का साधान माना है। 'वीर अभिमन्यु' नाटक में नटी के माध्यम से उन्होंने कहा है कि अश्लील नाटकों के नाटक के मुख्य तत्व को ही नष्ट कर दिया है, दर्शकों के विनोद-स्थान को भ्रष्ट कर दिया है। यह नाट्यविद्या आर्यजाति की प्राचीन विद्या है। जब कभी समयानुसार मनुष्यों के आचरणों में कुछ दोष आ जाता है तो नाटक द्वारा भी कुछ अंशों में लोक सुधार जाता है, क्योंकि जो प्रभाव व्याख्यान से नहीं पड़ता, गान से नहीं पड़ता, वह अभिनय द्वारा पड़ जाता है।[4] उन्होंने इसके आगे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''जैसे कान छेदने से पहले बालक को मीठा खिलाते हैं, उसी प्रकार पहले उनके नाटक दर्शकगणों को लुभाते हैं, अच्छी तरह रिझाते हैं, और अंत में पवित्र मार्ग पर ले आते हैं।''[5] हास्य-व्यंग्य दर्शकों के मनोरंजन का अच्छा साधन है। इनसे लोकसुधार की प्रेरणा भी मिलती है। पंडितजी ने तत्कालीन समाज की दशा पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है कि

''भारतवासियों पर तो आलस्य छाया हुआ है, इन्हें वीररस का नाटक दिखाना क्या ठीक है, कोई मार-मार कर वीर बनाए तो भी वीरता के स्थान में 'जंभाई' आए।''[6] उनके द्वारा भारतेन्दु हरिश्चंद्र की निम्न पंक्तियाँ भी प्रमाण हेतु उद्धृत की गयी हैं-

दुनिया में हाथ-पाँव हिलाना नहीं अच्छा।

मर जाना, पै उठ के कहीं नहीं अच्छा।।

सिजदे से गर बहिश्त मिले, दूर कीजिए।

दोज़ख ही सही, सर का झुकाना नहीं अच्छा।।[7]

'वीर अभिमन्यु' नाटक में नटी आलस्य की निंदा करते हुए कहती है कि ''यह आलस्य बड़ा पिशाच है, जो धीरे-धीरे भारतवर्ष पर अपना सिक्का जमाता जा रहा है, इस कर्मभूमि को कायरभूमि बनाता जा रहा है। भला सोचिए तो सही, जब व्यायाम करने में आलस्य होगा तो अवश्य निर्धनता बढ़ेगी, विद्या पढ़ने में आलस्य होगा तो अवश्य मूर्खता बढ़ेगी, इस बात को कौन सोचता है? हमारे यहाँ बड़े आदमियों की तो यह अवस्था है कि शय्या पर से उठते हुए भी आलस्य आता है। यही कारण है कि मंदाग्नि बढ़ ही जाती है और युवावस्थ में ही क्षय, संग्रहणी आदि नाना रोगों की वृद्धि हो जाती है। भला अपना काम अपने हाथ से नहीं करेंगे तो किस प्रकार उन्नति होगी? और यह मानी हुई बात है कि इसी प्रकार गिरते रहे तो एक दिन अवश्य अधोगति होगी।''[8] इस नाटक में पंडित जी ने राजा बहादुर और सुंदरी के माध्यम से खुशामदी और चाटुकार लोगों पर बहुत अच्छा व्यंग्य किया है। राजा बहादुर अपनी झूठी बहादुरी की प्रशंसा करते हुए कहता है कि दुनिया में कई तरह के बहादुर होते हैं। एक तो वह है जो हथियार से लड़ते हैं, दूसरे वे हैं जो कलम से लड़ते हैं, तीसरे वे हैं, जो जुबान से लड़ते हैं। हमसे कोई पूछे इनमें कौनसा बहादुर बढ़िया है, तो हम यही कहेंगे, जुबान से लड़नेवाला सबसे बढ़िया है। उससे कम कलम वाला है और हथियार वाला तो सबसे घटिया है। तलवार का ज़ख़्म किसी औषधालय में जाकर अच्छा हो सकता है, परंतु बात के मारे हुए का कोई इलाज नहीं। इसलिए बातोंवाला बहादुर बढ़िया होता है। यह बातों की ही है कि जिनके साथ हम नोन-तेल बेचा करते थे-एकदम राजाबहादुर हो गए। और अभी न जाने क्या-क्या होंगे।[9] पंडित जी ने अपने पात्रों के नाम भी हास्य-व्यंग्य के अनुरूप रखे हैं। सुंदरी[10] राजाबहादुर[11] करमचंद[12]

खटपट सिंह[13] चंपकलाल[14] चेतनदास[15] लोभीलाल[16] घंटाकरण[17] एवं माधोदास[18] के नाम तथा कथापदेश इसके प्रमाण है। 'श्रवणकुमार' नाटक में चंपकलाल का निम्न कथन देखिए-

नारी को माल खिलाना भी जायज़ है।
बदले में गाली खाना जायज़ है।
माँ-बाप अगर कुछ कहें तो भी बेज़ा है।
नारी की जूती खाना भी जायज़ है।[19]

महंत चेतनदास का आडंबर मुक्तवेश तथा 'सटकनारायण' और 'गटकनारायण' भी अवलोकनीय हैं-

जो कोई पेड़ा लड्डुवा लावे, दूध मलाई हलुआ लावे-
गटक नारायण, गटक नारायण।
जो कोई ज़ेवर कपड़ा लावे, पैसा रुपया मोहर दिखावे-
झटक नारायण, झटक नारायण।
जो कोई सुंदर नारी लावे, जीवन की मतवारी आवे-
चटक नारायण, चटक नारायण।
जो कोई धर्म पूछने आवे, वेद-शास्त्र की बात सुनावे-
सटक नारायण, सटक नारायण।[20]

'परमभक्त प्रह्लाद' का लोभीलाल अपने नाम के अनुरूप धन का लालची है। वह हिरण्यकशिपु का दरबारी वैश्य है। उसका आदेश है कि "दौलत, दौलत, दौलत की माला फेरो बाबा! होश संभालते ही इंसान लपकता है, दौलत के वास्ते, इतना ही नहीं, बल्कि फौज में भरती होकर लड़ाई के मैदान में जान तक गंवा देता है, किस वास्ते? दौलत वास्ते। सारांश यह है जब जीवन और मरण दोनों ही दौलत के वास्ते हैं तो फिर क्यों न दौलत की पूजा की जाय बाबा! चोरी करो, चिंता नहीं! डाके डालो-डर नहीं। दिवाले निकालो, दोष नहीं। रिश्वतें लो, पाप नहीं। एक रुपये पर चार आने का ब्याज खाओ, बुराई नहीं, परंतु यह सब हो तो किस वास्ते? दौलत के वास्ते।"[21] अंत में वह अपने मत में परिवर्तन करके यह स्वीकार करता है-

चलो झगड़ा गया, यह निर्णय हुआ,
नाम दौलत से बढ़कर मुहब्बत है।[22]

'ईश्वर-भक्ति' का 'घंटाकरण' महाजन है। रुपयों की थैली उसके हाथ में रहती है, वह कलदार (रुपया) महाराज की जय बोलता है-

सरकारों को सर करने की है कलदारम की तलवारम्।
भज कलदारम्, भज कलदारम्, भज कलदारम्, दिलदारम्।[23]

'उषा अनिरुद्ध' में मूर्ख ब्राह्मण माधोदास का यह अज्ञानपूर्ण कथन भी हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसमें उसने अपने शिष्य गोमतीदास को समझाया है कि विष्णुजी ने रामजी का अवतार धरकर महिषासुर को मारा है। रामजी और विष्णुजी दोनों एक ही हैं, शास्त्र का ऐसा वचन है। हमने थोड़े ही पढ़े हैं, यह तो राम खुरपा से अनुभव हो गया है। रामायण जी में लिखा है-'करोति सुलभं सर्वे रामस्य महती खुरपा।' इसका अर्थ बड़े-बड़े शास्त्री, महात्मा और पंडित भी नहीं जानते, यह तो केवल गुरुमुख से ही प्राप्त होता है। बाल का आदि, अयोध्या का मध्य और उत्तर का अंत, जो जाने वह पूरा संत।[24] इस अज्ञानजनित दुदर्शा का उपचार है ज्ञान का प्रसार। इससे घृणा, जनसंहार, लोभ-लालच तथा शत्रुता का विनाश होगा। शिक्षित मनुष्य ही लोकजीवन को मंगलमय बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। स्पष्ट है कि पंडितजी के हास्य-व्यंग्यपूर्ण प्रहार निरर्थक नहीं है। उनमें दर्शक समाज को शिक्षित करने की यथेष्ट शक्ति विद्यमान है। धार्मिक और सामाजिक पुररुत्थान तत्कालीन लोकरुचि के प्रमुख विषय थे। पारसी रंगमंच के सभी नाटककारों ने इनको आधार बनाकर विभिन्न पौराणिक नाटकों की रचना की है। इसीलिए पंडित जी ने भी अपने नाटकों के माध्यम से दर्शक-समाज को धार्मिक और सामाजिक भावना की उन्नति हेतु निरंतर प्रेरणा प्रदान की है। धर्म की जय और अधर्म की पराजय उनके पौराणिक नाटकों का मुख्य संदेश है। द्रौणाचार्य के चक्रव्यूह से भयभीत पांडव वीरों को संबोधित करते हुए षोडशवर्षीय बालक अभिमन्यु कहता है-

अविचल हैं जो धर्म पर होती उनकी जीत।
अन्यायी की लाश पर कुत्ते गाते गीत।[25]

'श्रवणकुमार' नाटक के प्रदर्शन का उद्देश्य स्पष्ट करती हुई नटी इसके

'मंगलाचरण' में कहती है कि "आज तो धार्मिक और सामाजिक भावों का संगम करके हम अपनी रंगभूमि को तीर्थ बनाएंगे... चारों आश्रमों में श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम का अभिनय रचाएंगे। पुत्रधर्म की शिक्षा और पतिधर्म का उपदेश, अपने देश के भाइयों और अपने समाज की बहनों को देते हुए एक आदर्श पितृभक्त का चरित्र दिखाएंगे। संसार के कुपूतों को सपूत बनाएंगे।"[26] पत्नी, पुत्र इत्यादि को इनके कर्त्तव्य की शिक्षा देने के लिए ही इस नाटक को पंडित जी ने रंगमंच पर प्रस्तुत किया था-

पड़ के कुसंग में करे अपमान जो माँ-बाप का।
मुँह देखकर पत्नी का ध्यान जो माँ-बाप का।
इनको बताना है हमें संतान का क्या कर्म है।
कर्त्तव्य पत्नी का है क्या और पुत्र का क्या धर्म है।[27]

अयोध्यानरेश महाराज दशरथ ने भी श्रवणकुमार के चरित्र को अनुकरणीय मानते हुए कहा है कि "जिस प्रकार देवताओं में शंकर हैं, नदियों में गंगा हैं, पर्वतों में कैलाश हैं, पुष्पों में कमल हैं, उसी प्रकार सुपुत्रों में श्रवण है।"[28] इसीलिए वाल्मीकि, भारद्वाज, गौतम, अगस्त्य, विश्वामित्र, परशुराम तथा गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण, कुबेर इत्यादि देवता उसे आशीर्वाद देकर कृतार्थ करते हैं। 'परमभक्त प्रह्लाद' नाटक का सामाजिक प्रदेय है-नाट्यरस रसिकजनों को धर्म के सामर्थ्यपूर्ण सामाजिक रूपभक्ति का स्वाद चखाने के साथ-साथ निराकार और साकार की एकता तथा इनसे संबंधित भेदभाव का मिटाना है। पंडित जी के अनुसार लड़ना, झगड़ना, विघ्न डालना, कोलाहल करना मूर्खों का कार्य है, पंडितजन तो विचार रूपी नेत्रों से प्रत्येक व्यापार में उस परमपिता परमात्मा ही की लीला देखा करते हैं, संसाररूपी नाटकशाला में छुपे हुए उस नटनायक नटवार को ही ढूँढा करते हैं। प्यारी एक पिता के दो पुत्र हैं-एक को मीठा भोजन भाता है, दूसरे को नमकीन पसंद आता है, इसमें बैर-भाव ही क्या है? निराकार और साकार को मानने वाले जुदा-जुदा पसंद रखते हुए भी, हैं तो एक ही पिता के पुत्र! एक जननी जन्मभूमि के लाल। एक ही रक्त एक ही मांस, एक ही मज्जा के बने हुए, फिर झगड़ा कैसा।[29] 'श्री कृष्णावतार' नाटक का प्रयोजन इस संसार की नाटकशाला के सूत्रधार को अपनी नाटकशाला में नटवर, नटनागर, भगवान श्रीकृष्णचंद्र के रूप में प्रकट करना है। अपने इष्टदेव भगवान श्रीकृष्ण के गुणानुवाद गाना पंडित जी अपना परम दायित्व मानते हैं। इस नाटक की महाशक्ति हैं

राधा रानी, जो कि महापुरुष श्रीकृष्ण की चिरसंगिनी हैं। धार्मिक भावना के वशीभूत होकर उन्होंने लिखा है-

तख़्ता-तख़्ता बोल उठे जब बल्लभ नटनागर की जय।
पर्दे-पर्दे से भी निकले, मनमोहन मुरलीधर की जय।
रंगस्थल में ऐसा गूँजे, गिरिवरधारी ब्रजराज की जय।
दर्शकमंडली पुकार उठे, श्रीकृष्णचंद्र महाराज की जय।[30]

भक्त पर भगवान की कृपा का नाम पोषण या पुष्टि है। यही भक्त की सामर्थ्य है। श्री वल्लभाचार्य जी ने इसी को आधार मानकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की है। भगवान श्रीकृष्ण का जन्म धर्म की रक्षा और उत्थान के लिए हुआ है-

धरणी पर अत्याचार जब भी होता है।
धरणीधर का अवतार तभी होता है।
जब उचित मार्ग से जनता हट जाती है।
जब न्याय नीति की महिमा घट जाती है।
मर्यादा जब सब उलट-पलट जाती है।
सब सत्य सनातन की जड़ कट जाती है।
जब धर्म-भ्रष्ट संसार जभी होता है।
धरणीधर का अवतार तभी होता है।[31]

दुष्टों का संहार करके धर्म की रक्षा करने वाले आराध्य के प्रति भक्ति-भाव होना अत्यंत स्वाभाविक है। इसी भाव के विकास के लिए 'परमभक्त प्रह्लाद' नाटक की रचना हुई। इसके प्रारंभ में सूत्रधार 'नट' निर्देश देते हुए 'नटी' से कहता है कि ''प्यारी, आज तो रसिकजनों को भक्तिरस का स्वाद चखाओ। संसारी जीवों के मन, जो एक चंचल भ्रमर के समान स्थान की गंध सूँघते फिरते हैं, उन्हें भगवान की भक्तिरूपी कमल-वाटिका की ओर खींच लाओ। बादलों को देखकर पिउपिउ की पुकार करने वाले पपीहों को स्वाति की बूँद दिलाओ। भक्तों को परमानंद देने के लिए परमभक्त प्रह्लाद का नाटक रचाओ।''[32] पंडित जी संभवतः मूर्तिपूजक थे, इसीलिए 'ईश्वर भक्ति' नाटक में मूर्तिपूजा के माध्यम से आराध्यदेव की कृपा प्राप्त करने का प्रयास प्रतिफलित किया गया है। आजकल का मनुष्य समाज ईश्वर को भूल गया।

इसीलिए तो धन, बल, विद्या और पुरुषार्थहीन होकर एकता को भी खो बैठा है। पश्चिमी देशों में तो किसी-किसी जगह खुले शब्दों में कहा जा रहा है कि मजहब को हम छोड़ते हैं, मजहब से हमारा कोई सरोकार नहीं, कहीं-कहीं दूसरी आवाज है कि 'ईश्वर कुछ नहीं' मैटर में ही सब-कुछ हो रहा है, आत्मा से कुछ वास्ता नहीं। मुझे डर है कि ये लहरें, ये आवाजें, हमारे पूर्वी देश पर आकर कहीं अपना ज्यादा असर न डालें।[33] मूर्ति-पूजा हमारी आस्तिकता का आधार है। यह संसार तत्वों को नहीं पूजता, ईश्वर की पूजा-अर्चना करता है। मूर्ति आधार है क्योंकि बिना आधार के उस निरंजन निराकार प्रभु की पूजा सरल कार्य नहीं है-

कहीं पृथ्वी, गगन और वायु, ज्वाल, जल में पुजता है।
कहीं भक्तों के भावुकजन के, अंत:स्थल में पुजता है।
कहीं ब्रह्मा की वाणी में, शिव की जटाओं में।
मेरा भगवान ही तो पुज रहा है, सभी दिशाओं में।[34]

इस नाटक में अंबरीष ने पीतल की मूर्ति को आधार बनाकर मूर्तिपूजा का महत्व प्रदर्शित किया है। उसके अनुसार यह पीतल की मूर्ति पीतल की मूर्ति भी है और भगवान की मूर्ति भी। अंगूठी की दृष्टि वाले इसे पीतल की मूर्ति कहेंगे और सोने की दृष्टि वाले भगवान की। देखो पृथ्वी के नीचे सर्वत्र जल ही जल है, परंतु उसकी प्राप्ति के लिए किसी एक स्थान पर कुँआ खोदना ही पड़ता है। इस प्रकार सर्वव्यापक तक पहुँचने के लिए कोई न कोई इष्ट या आधार रखना ही पड़ता है। यही मूर्तिपूजा का रहस्य है।[35] धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक वैमनस्य भारतीय समाज की अत्यंत जटिल तथा भयानक समस्या है। पंडितजी ने अपने युग की आवाज को पहचानते हुए धार्मिक सहिष्णुता तथा विभिन्न संप्रदायों में फैले हुए विद्वेष के निराकरण की बात अपने नाटकों के माध्यम से उठाई है। उन्होंने 'परमभक्त प्रह्लाद' में स्पष्ट किया है-

रास्ते तो हैं अनेक पर स्थान एक है।
कोटानकोट भक्त हैं, भगवान एक है।
हो आर्य या सनातनी, ईसाई या इस्लाम।
आँखें तो हैं जुदा जुदा, पहचान एक है।[36]

नाटककार की मंगलकामना है कि सभी धर्मावलम्बी एक तन, एक मन और एक प्राण होकर देश और जाति का सम्मान बढ़ाएं तथा एक प्रेमसूत्र में बंधकर सांप्रदायिक भेदभाव को समाप्त करें-

शोभा यही है मिलके परस्पर रहें सभी।
धर्मानुकूल धर्म-धुरंधर रहें सभी।
हैं संप्रदाय भेद तो लड़ने की क्या है बात?
डोरी में जाति प्रेम की बंधकर रहें सभी।[37]

देश में फैली हुई अस्पृश्यता की समस्या के सुधार के लिए प्राय: सभी समाज सुधारक तथा राजनीतिक दलों के नेता चिंतित थे। उनके सुधारवादी आंदोलनों का प्रभाव समस्त बुद्धिजीवी वर्ग पर पड़ा। पंडितजी ने भी इसमें अपना योगदान नाटकों के माध्यम से दिया। उनके अनुसार, सब धर्मों का धर्म एक ही है। और वह है मानव-धर्म। जब यह धर्म अंगीकार किया जाता है, तब मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं माना जाता है। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सभी भेदभाव को भुलाकर एक महान यज्ञ का आयोजन किया जाता है, जो नयी चेतना, नया प्राण प्रदान करता है। सब महान आत्माओं का धर्म एक ही होता है और वह सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन है तो हैं। सच्चे धर्मों के सिद्धांतों में न कभी भिन्नता रही है और न रहेगी।[38]

भिन्नता देखने वाले लोग या तो बुद्धि के कच्चे होते हैं, या फिर उनकी आँखों पर धर्मांधता का पर्दा पड़ा होता है। धार्मिक कट्टरता भारत की एकता के लिए खतरनाक रोग के समान है। लोग यह समझते हैं, गंगा नहा लेना ही धर्म है, चारों धाम की यात्रा कर आना ही धर्म है, हज कर आना ही धर्म है, बपतिस्मा ले लेना ही धर्म है, लोहे का कड़ा पहन लेना ही धर्म है। हैं धर्म ये सब भी, पर केवल उसका असली रूप तो है-हृदय की विशालता और मन की उदारता।[39]

स्वामी दयानंद सरस्वती का मत है कि प्रत्येक बात को पहले शास्त्र से सिद्ध कर लो, तर्क से ठीक कर लो, उचित निर्णय करके समाज में फैलाओ, सारे देश में पहुँचाओ, तब सच्चे भक्त के नाम से पुकारे जाओगे।[40] भारत सदैव भक्तिभाव से परिपूर्ण रहा है। देशभक्ति हो या राजभक्ति, धर्मभक्ति हो या ईश्वरभक्ति भावनात्मक रूप से भक्ति का भाव उसका संस्कार और आचरण बन चुका है। यह एक प्रशंसनीय

भाव है, जिससे व्यक्तित्व में उत्तमता का विकास संभव है लेकिन अंधभक्ति उचित नहीं है।

'भारतमाता' नाटक में सर सैयद अहमद खाँ कहते हैं कि "हम मुसलमान या मोहामिडन जरूर हैं, लेकिन मुसलमान या मोहामिडन हमारे मज़हब का नाम है। अस्ल में अब हम हिन्दुस्तानी हैं। अब हम अरबिस्तानी नहीं हैं, तुर्किस्तानी नहीं है, हिन्दुस्तानी हैं। हिन्दू भी हिन्दुस्तानी हैं और हम भी हिन्दुस्तानी। हिन्दुस्तानी के नाते से अब हम दोनों हिन्दुस्तानी हैं। मुसलमानी के कायल मुसलमान हैं, लेकिन इससे और हिन्दुस्तानी से क्या मतलब है? एक वतन में दो मजहब हैं। एक नारायण को मानता है, दूसरा खुदा को। एक बाप के दो बेटे हैं, एक को उर्द की दाल अच्छी लगती है, दूसरे को मूँग की। फिर हममें झगड़ा ही क्या है?"[41]

देश की उन्नति के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर इत्यादि समाज-सुधारक देश से अशिक्षा दूर करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील थे। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने इसे दरिद्रता और परतंत्रता का कारण माना है। उनकी दृष्टि में कोरा अक्षर-ज्ञान शिक्षा नहीं है। 'भारतमाता' नाटक में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के माध्यम से उन्होंने कहा है कि अक्षर-ज्ञान दूसरी चीज है और शिक्षा-ज्ञान दूसरी चीज। संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी पढ़ना अक्षर-ज्ञान या भाषा-ज्ञान प्राप्त करना है। शिक्षा उसे कहते हैं कि राजनीतिक तथा कृषि संबंधी तत्वों को प्राप्त करके उन पर विवेचन करना और उस विवेचन को कार्य में परिणत करके अपने देश और समाज की उन्नति करना। इसी का नाम विद्या है, इसी का नाम शिक्षा है।[42] उनका कहना है कि जब वे गरीब देशवासियों को देखते हैं, बेरोजगारों को देखते हैं, अनाथों को देखते हैं और दीन-दुखियों को देखते हैं, तो उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है और जब पर्दे के पीछे रहने वाली अशिक्षित बहनों को, बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह से ग्रस्त देवियों की ओर उनका ध्यान जाता है तो कलेजा काँप उठता है और सोचने लगते हैं कि कब और किस प्रकार इस देश का सुधार होगा। देश का बेड़ा किस प्रकार इस दुःख सागर से पार होगा। एक बात, केवल एक ही बात ध्यान में आती है और वह विद्या का प्रचार है। विद्या के प्रचार से देश का निस्तार है। बस, यही ठीक विचार किया है। इसीलिए ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में, जाति की ओर से

अनेकानेक पाठशालाएँ और स्कूल खुलवा देना ही अपने जीवन का साध्य है, यही अपने जीवन का इष्ट है, यही अपना आराध्य है।[43]

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंडित राधेश्याम कथावाचक ने समय और समाज की मांग के अनुरूप नाट्य रचना करके दर्शकों को स्वास्थ्य मनोरंजन तथा समाज-सुधार की प्रेरणा देने को यथासंभव प्रयत्न किया है। वे पारसी रंगमंच की प्रतिष्ठित नाटक कम्पनी 'न्यू अल्फ्रेड' के वैतनिक नाटक-लेखक या नाटककार थे। कम्पनी के मालिक की व्यावसायिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु दर्शकों की भीड़ जुटाकर नाटक के माध्यम से अधिक से अधिक धनोपार्जन करना उनका कर्त्तव्य था। भारतेन्दुजी के देशसुधार या समाज-सुधारवादी विचारों का उन पर व्यापक प्रभाव था, जो कि उनके स्वाभिमान का व्यापक आधार था। उनकी कथावाचकीय प्रवृत्ति का उपदेशक रूप प्राय: नाटकों में भी प्रकट हुआ है। तत्कालीन समाज और दर्शकों की रुचि का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। इसीलिए उनके नाटकों में श्रेष्ठ पौराणिकता, समाज-सुधार और रोमानियत का अद्‌भुत संसार विनिर्मित हुआ है। श्री सोमनाथ गुप्त के अनुसार- ''उन्होंने थियेट्रिकल कम्पनियों में गंदे, अश्लील, शिक्षाहीन और आदर्श शून्य नाटकों की प्रधानता को देखकर ही अपनी लेखनी को कष्ट दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त भारतीय संस्कृति की पुरानी प्रतिभा के प्रतीकों के अतिरिक्त अन्य पात्र मिलने कठिन थे। अतएव उन्हीं के चरित्र और जीवन-घटनाओं को नाटकबद्ध करने का प्रयास किया है। इसमें संदेह नहीं कि अपने अथक परिश्रम से पंडितजी सद्‌भावपूर्ण धार्मिक शिक्षा समन्वित, सुरुचिपूर्ण एवं आदर्श स्थापक नाटकों को रंगमंच पर लाने में सफल हुए हैं।''[44] रंगमंचकी सोद्देश्यपूर्ण प्रतिबद्धता और नाट्य लेखन की 'भूलभुलैया' से ग्रस्त होने पर भी वे सही अर्थों में पारसी रंगमंच के द्रोणाचार्य थे। 'वीर अभिमन्यु' नाटक में उनका निम्न कथन इस संदर्भ में पठनीय है-

आकाश के तारे चहे, पृथ्वी पे उतर आय।
पृथ्वी के जीव भी चहे, आकाश पर जाय।
माणिक समुद्र में हों, पहाड़ों में मगर जाय।
हम वह नहीं हैं, वाक्य से अपने जो मुकर जाय।
परमात्मा गवाह है, अनहित नहीं होगा।
ब्राह्मणकुमार धर्म से विचलित नहीं होगा।[45]

संदर्भ :

1. डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ. 156, 157, साहित्य भंडार, आगरा, प्रथम संस्करण, सं 1999
2. डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ. 114, हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1941 ई.
3. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी नाटक का रचना-विधान, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ. 65, संपादक नेमिचंद्र जैन, मैकमिलन एंड कम्पनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978 ई.
4. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ. 5, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, सोलहवीं बार, 1990 ई.
5. वही, पृ. 6
6. वही, पृ. 6, 7
7. वही, पृ. 7
8. वही, पृ. 7
9. वही, पृ. 93
10. वही, पृ. 2
11. वही, पृ. 2
12. वही, पृ. 2
13. वही, पृ. 2
14. पंडित राधेश्याम कथावाचक, श्रवणकुमार, पृ. 3, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, सोलहवीं बार, 1980 ई.
15. वही, पृ. 3
16. पंडित राधेश्याम कथावाचक, परमभक्त प्रह्लाद, पृ. 2, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, सोलहवीं बार, 1990 ई.
17. पंडित राधेश्याम कथावाचक, ईश्वर भक्ति, पृ. 3, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, नवीं बार, 1990 ई.
18. पंडित राधेश्याम कथावाचक, ऊषा अनिरुद्ध, पृ. 2, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, सोलहवीं बार, 1990 ई.
19. पंडित राधेश्याम कथावाचक, श्रवणकुमार पृ. 49
20. वही, पृ. 17
21. पंडित राधेश्याम कथावाचक, परमभक्त प्रह्लाद, पृ. 31
22. वही, पृ. 40
23. पंडित राधेश्याम कथावाचक, ईश्वर भक्ति, पृ. 25

24. पंडित राधेश्याम कथावाचक, ऊषा-अनिरुद्ध, पृ. 29
25. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ. 21
26. पंडित राधेश्याम कथावाचक, श्रवणकुमार, पृ. 4
27. वही, पृ. 5
28. वही, पृ. 37
29. पंडित राधेश्याम कथावाचक, परमभक्त प्रह्लाद, पृ. 5
30. पंडित राधेश्याम कथावाचक, श्रीकृष्णावतार, पृ. 10, श्री राधेश्याम कथावाचक, बरेली, नवीं वार, 1976 ई.
31. वही, पृ. 57
32. पंडित राधेश्याम कथावाचक, परमभक्त प्रह्लाद, पृ. 4
33. पंडित राधेश्याम कथावाचक, ईश्वर भक्ति, पृ. 6
34. वही, पृ. 68
35. वही, पृ. 68
36. पंडित राधेश्याम कथावाचक, परमभक्त प्रह्लाद, पृ. 5
38. पंडित राधेश्याम कथावाचक, भारतमाता, पृ. 46, श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, सातवीं वार, 1960 ई.
39. वही, पृ. 46
40. वही, पृ. 27
41. वही, पृ. 28, 29
42. वही, पृ. 30
43. वही, पृ. 31
44. श्री सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ. 108, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1949 ई.
45. पंडित राधेश्याम कथावाचक, वीर अभिमन्यु, पृ. 17, 18

197/199 डाक्टर्स कॉलोनी
सिविल लाइन्स, बरेली-243001 (उ.प्र.)
मो. : 09927373723

सुधीर विद्यार्थी

गली कामरिथयान से उठी नाटक की आवाज

पंडित राधेश्याम कथावाचक का नाम मैंने बचपन में ही सुन रखा था। मेरे चाचा अक्सर उनका जिक्र किया करते थे। बाद को नवें दर्जे में पहुँचकर जब मैंने अपनी मौसी को उनकी रची रामायण का सस्वर पाठ करते सुना तो मुझे उसमें दिलचस्पी हुई और में भी धीरे-धीरे गाकर उसे पढ़ने लग गया। कहना न होगा कि राधेश्याम जी की तर्ज ने मुझे उन दिनों गहरे तक बांध लिया था। एक बार गंगा स्नान पर निकट के गांव में मेले के लिए बैलगाड़ी से गया तो वहाँ लगी धार्मिक किताबों की दुकानों पर पंडित राधेश्याम कथावाचक की रामायण के साथ ही गानों की अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएं बिकती देखीं जिन पर 'बतर्ज राधेश्याम' लिखा हुआ था। मैं उनसे कुछ खरीद आया। वे दिन थे जब उनकी 'रामायण' का 'लंका दहन' मुझे कंठस्थ हो गया था। भय यह था कि किसी रोज पिताजी न सुन ले और पढ़ाई से मुंह मोड़ने के लिए कस कर डांट खानी पड़े। हिन्दी जनता के मध्य अपार लोकप्रियता अर्जित करने वाली उनकी काव्य-रचना 'राधेश्याम रामायण' आज भी गांव-देहात के घरों में मिल जाती है।

जो भी हो, पर राधेश्याम कथावाचक की 'रामायण' का मुझ पर नशा चढ़ा तो वह उतरा नहीं। उन दिनों मुझे राधेश्याम जी के पारसी और हिन्दी नाटक में ऐतिहासिक योगदान का पता न था। बहुत आगे चलकर जब लेखन की दुनिया में प्रवेश किया तब ही उनके इस पक्ष से मेरा परिचय हो सका। फिर तो 'वीर अभिमन्यु' लेकर 'मशरिकी हूर' तक सभी नाटक मैंने पढ़ डाले। लेकिन रंगमंच पर उनके नाटकों की प्रस्तुतियाँ देखने का अससर मिला बरेली में। अत्यंत विकसित हिन्दी रंगमंच की उपस्थिति के बावजूद मेर अपने नगर शाहजहांपुर में असगर वजाहत के नाटक 'इन्ना की आवाज' से हमने जो शुरुआत की, उसके बाद साहित्यिक नाटकों की प्रस्तुति का अनोखा और अनवरत सिलसिला वहां चल निकला। यहां तक कि

उनमें भुवनेश्वर के एब्सर्ड नाटकों की भी एक खास जगह बनती चली गई जो निदेशकों के लिए भी एक चुनौती थी। 'भुवनेश्वर : एक कोलाज' से लेकर उनकी बहुचर्चित कहानी 'भेडिए' की रंगमंचीय प्रस्तुति हमारे लिए गर्व की बात है। पर इसके बरक्स राधेश्याम कथावाचक के पौराणिक और धार्मिक आख्यानों पर रचे-लिखे हिन्दी नाटक हमसे नितांत दूर ही बने रहे। जाने क्यों वे हमारी सोच और रंगमंचीय ढांचे में तालमेल नहीं बना पा रहे थे, जबकि हमारा मानना था कि पारसी थियेटर से लेकर हिन्दी के रंगमंच तक इस विद्या को जो विकास और समृद्ध संसार दिखाई पड़ता है उसकी बुनियाद में राधेश्याम कथावाचक का बहुत बड़ा कृतित्व है। उनकी सम्पूर्ण नाटक यात्रा हमारी आँखों से कहीं ओझल नहीं थी, और ऐसा होने का कोई कारण भी नहीं था। चीजों को उनके विकास के साथ समग्रता में चीन्हने की हमारी पक्षधरता ही हमें उस ओर खींच ले जाती रही, जहाँ उनके नाटकों का अनोखा संसार फैला पड़ा था। कह सकता हूँ कि ठीक इसके बाद उनके ज़िन्दगीनामे को जानने-परखने की चाहत ने मुझे और भी बेचैन बनाया और बरेली आकर हम उसमें गहरे तक उतरते चले गये। अपनी पत्रिका 'संदर्श' के निरंकार देव सेवक पर केन्द्रित अंक निकालने के बाद राधेश्याम कथावाचक की जीवन-यात्रा और हिन्दी नाट्य आंदोलन में लगी उनकी पूँजी की नाप-जोख मेरा प्रिय विषय बन गई। इसे थोड़ा सुगम बनाया कविता भारत ने जब उन्होंने मेरे निर्देशन में पंडित राधेश्याम कथावचक :'कुछ जीवन, कुछ रंग', 'संदर्श पुस्तिका-3' पर योजनाबद्ध ढंग से काम करना शुरू किया। ऐसा नहीं कि इससे पूर्व राधेश्याम जी के नाटक पक्ष पर कुछ मूल्यांकनपरक काम नहीं हो चुका था। अवश्य वे जरूरी चीजें हमारे सामने थीं, पर उनकी रंगयात्रा को सर्वथा भिन्न नजरिए से सामने लाने के लिए हमारी यह कोशिश थी। हम उनकी पारिवारिक जिन्दगी के साथ ही उनके उन पात्रों से भी रूबरू होना चाहते थे जिन्होंने उनके समय में नाटकों में भूमिकाएं निभाई। हमें पता लगा कि प्रख्यात पत्रकार कर्पूर चन्द्र कुलिश और देश के उपराष्ट्रपति रहे भैरों सिंह शेखावत ने भी पंडित जी के नाटकों में अभिनय किया था। हमने प्रयत्न करके उनके अनुभव जुटा लिए। पारसी रंगमंच के बेताज बादशाह मास्टर फिदा हुसैन 'नरसी' पर उनके जीवित रहने हम 'संदर्श पुस्तिका-2' का प्रकाशन उनकी 105वीं वर्षगाठ पर 1999 में ही कर चुके थे और वे उसे देख पाए यह हमारे लिए संतोष की बात थी। नरसी जी को नाटकों में लाने

का श्रेय पंडित जी को ही है। कविता भारत और मैंने पंडित जी के पौत्र पंडित काशीनाथ शर्मा और पौत्री शारदा भार्गव जी से पंडित जी की घरेलू ज़िन्दगी के अक्स जानने के लिए लम्बी बातचीत की। फिर हम मिले बरेली के सौदागरान मुहल्ले के पंडित देवेन्द्र शर्मा कथावाचक से जो हमारे लिए पंडित जी के नाटकों के 'नारद' थे। बिहारीपुर मुहल्ले की झगड़े वाली मठिया के मोतीलाल मेहरा के पुराने घर में बैठकर आखिर हम 'परिवर्तन' नाटक की 'तवायफ' से ही मिल लिए। हमने जब नृत्य की मुद्रा में मेहरा जी का चित्र देखा तो उनके आज के चेहरे से मिलना करते-करते हम प्रशंसा के भाव से भर उठे।

कह सकता हूँ कि मेरी और कविता भारत की खोजबीन सिर्फ पंडित जी के नाटक के सिलसिले मे ही नहीं थी, वरन हम ऐसा करके उस बरेली को भी ताकना-झांकना चाहते थे जो पंडित जी के दिनों में अपने सांस्कृतिक गौरव से भरी-पूरी थी, और कि उसकी शिनाख्त ऐसी थी कि पंडित जी का नाटक देखने के लिए मुंशी प्रेमचन्द इस शहर से आए। कह सकता हूँ कि पंडित जी ने अपने नाटकों के जरिए सम्पूर्ण हिन्दी जनता के हाथों में उसकी सांस्कृतिक पताका भी थमाई और साथ ही वे दूर-दूर तक हिन्दी के प्रचार प्रसार के भी वाहक बने। एक तरह से वे अपने समय में हिन्दी आंदोलक भी थे। जनता के बीच गजब की लोकप्रियता। ऐसी की आमजन उन्हें सिर माथे लगाता। पंडित जी अपने नाटकों के जरिए जनता में उसकी चेतना के तार झकझोरने के जरूरी काम को अंजाम दे रहे थे। स्वाधीनता आंदोलन के स्वर के साथ ही अंधविश्वास, कुरीतियों, थोथी परम्पराओं और ऊँच-नीच के खिलाफ लोगों की मानसिकता को मांजते हुए वे सामाजिक परिवर्तन की बड़ी भूमिका के लिए उन्हें सचेत कर रहे थे। उनके पौराणिक और धार्मिक नाटकों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि यहाँ धर्म का अर्थ संस्कृति है। वहाँ सामाजिक मूल्यों और आपसी सौहार्द से लबरेज दुनिया आकर लेती है जिसमें सत्य की जीत और झूठ की पराजय के दृश्य हैं। पंडित जी अपने नाट्य अभियान से एक बेहतर समाज के निर्माण के लिए प्रतिपल हमारी आँखें खोलते हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रकाशित उनकी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' पढ़कर ही जाना जा सकता है कि आज का हिन्दी रंगमंच किस ज़मीन पर खड़ा है। धार्मिक और पौराणिक कथाओं के आधार पर बुने हुए उनके नाटकों में सामाजिक चेतना के साथ-साथ अपने समय के सवालों से टकराने की अकुलाहट भी

विद्यमान है। उनके भीतर राष्ट्रीय भावना का समावेश है और तब के मुक्ति युद्ध की अनुगूंजें भी वहाँ साफ-साफ सुनाई पड़ती है। वे नाटक अपने विशाल दर्शक वर्ग से अनोखा संवाद स्थापित करते हैं। उनके नाटकों को देखने वाले तथाकथित भद्र और संभ्रान्त कहे जाने वाले आमंत्रित लोग नहीं होते थे, बल्कि वे दर्शक सीधे जनता के मध्य से आते आमजन थे। उनके नाटक बड़े, भव्य और वातानुलित प्रेक्षागृहों का मोहताज नहीं थे। इस क्षेत्र में उनकी लोकप्रियता का पैमाना आज भी किसी नाटक के लिए चुनौती की बात है। आगा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताब' और पंडित राधेश्याम कथावाचक की यह त्रयी पारसी रंगमंच की बुनियाद है। आज का हिन्दी रंगमंच यदि मराठी और बंगला नाटक संसार के सम्मुख अब भी अपने पांव नहीं टिका पा रहा है तो दर्शकों की अल्प हिस्सेदारी के साथ ही वह हिन्दी में नाटक लेखन का भी मुश्किलों से दो-चार हो रहा है। पंडितजी जैसे समर्पित नाटक लेखक उसके पास आज भी अनुपस्थित हैं। विगत दिनों उन पर हिन्दी समीक्षक मधुरेश की एक मूल्यांकनपरक पुस्तक आने के बाद भी लगता है कि पारसी-हिन्दी नाटक के उस शीर्ष पुरुष के लिखे की समग्र पहचान होनी अभी बाकी है। उनकी डायरियों, अप्रकाशित नाटकों के रूप में कई चीजों का खंगाला जाना मुझे आज भी जरूरी लगता है। उनके घर की अलमारियों में ही हमें उनके दो अप्रकाशित नाटक 'उद्धार' और 'आजादी' की हस्तलिखित प्रतियां देखने को मिली, जिनमें दूसरा नाटक सर्वथा भिन्न प्रकृति का है जो सत्ता और व्यवस्था के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह की बात करता है। इसमें पंडित जी के नाटककार का सर्वथा नया रूप हमारे सामने आता है। हम अपनी पत्रिका 'संदर्श' की ओर से काफी पहले पंडित राधेश्याम कथावाचक और प्रख्यात उर्दू शायर दुर्गासहाय 'सुरूर' जहानाबादी पर केन्द्रित विशेष अंक निकालने की घोषणा कर चुके थे, परन्तु दूसरे जरूरी काम प्राथमिकता पर आ जाने से हमारी वे योजनाएँ धरी रह गई। पर भविष्य में इन्हें जल्दी पूरा करने का हमारा पुख्ता इरादा है। कहना न होगा कि अपनी जन्मभूमि बरेली और इस पूरे इलाके को सांस्कृतिक पहचान दिलाने में पंडित जी की बड़ी भूमिका की हम अनदेखी नहीं कर सकते। यह अलग ही बात है कि बरेली शहर अपने इस इतिहास-पुरुष के सम्मान और स्मृति रक्षा के लिए वैसा कोई उपक्रम नहीं कर सका जिस पर वह आज गर्व कर सके। शहर भर में पंडित जी के नाम पर न कोई स्मृति द्वार है, न उनकी कोई आदमकद प्रतिमा।

रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय में भी उनके नाम पर कोई पीठ नहीं है, सभागार भी नहीं। 'पंडित राधेश्याम कथावाचक मार्ग' भी शहर में कहीं ढूँढने पर नहीं मिलता। सचमुच बहुत कृतघ्न हैं हम। पूरी तरह इतिहास और परम्परा से विमुख। हम खुली आँखों से अपनी भाषा और संस्कृति को छीजते हुए देखते हैं पर विचलित नहीं होते। साहित्य को तो हमने हाशिए से भी बाहर धकेल दिया है। जन संस्कृति बेमौत मरने के लिए अभिशप्त हो चली है। महानगरीय सभ्यता अंधी दौड़ में लिप्त मग्न है। सब कुछ बहुत बेशर्मी से बाजार के हवाले हो चुका है। ऊपरी चमक-दमक हमारे भीतर का बहुत कुछ निगल नष्ट कर चुकी है। पता नहीं हम चेतेंगे-जगेंगे। नगरीय मानसिकता का वनैला विस्तार अब छोटे शहरों, कस्बों और दूर देहातों तक डंके की चोट पर जा चुका पसरने लग गया है। ऐसे में अपने साहित्य-संस्कृति परम्पराओं और लोक-जीवन कलाएं, लोकरंग, लोकभाषा को बचाने की मुहिम अंततः हमें भी चलानी होगी और उसकी शुरुआत भी कहीं से करनी पड़ेगी। यह समय की आवाज है बशर्ते उस पर हम कान दे सकें। मौजूदा वक्त का यही प्राथमिक कार्यभार है हमारा जिसके बिना मुक्ति संभव नहीं। जरा-सी भी देरी क्या हमें और गहरे बियावान में भटका नहीं देगी। क्या हम ऐसा होने के लिए अभिशप्त हैं या अपने को बचाने के लिए उठ खड़े होने की थोड़ी भी कुब्बत बची है हमारे भीतर। यह सचमुच हमारी कठिन परीक्षा का समय है।

हां, तो 'बरेली के राधेश्याम' या 'राधेश्याम की बरेली'। माने बरेली की संस्कृति की तलाश, उसकी जड़ों की खोजबीन, उसकी ज़मीन को स्पर्श करना, धरती पर उनकी खींची लकीर को चीन्हना और उस माटी को सूंघना जिसमें राधेश्याम जी ने अपने कृतित्व से सुवासित कर दिया। यह मेरा कार्यभार नहीं, खब्त है मेरी। मैं जहाँ खड़ा हूँ, टिका हूँ जिस ज़मीन पर, उसे अनदेखा करना मेरे लिए कभी संभव नहीं होता। अपने आसपास का हवा-पानी मैं सबसे पहले अपनी साँसों में सोखता और हलक में उतारता हूँ। उसके बिना जिंदा रह पाना मेरे लिए नितांत कठिन है। राधेश्याम जी मेरे लिए बरेली भी हैं। आज की बिगड़ैल और अनाप-शनाप पसरती बरेली नहीं। वह बरेली और उसकी वे गलियाँ जहाँ के बिहारीपुर मुहल्ले में गली कामारथियान की बसावट है जिसमें नवम्बर की 25 तारीख को सोमवार शाम को 8 बजे राधेश्याम जी का जन्म हुआ था। वर्ष था 1890 का अर्थात् 122 साल पीछे। इतने वक्फे में बरेली में रामगंगा का पानी बहुत बदरंग हुआ है और सदानीरा किला नदी भी सूख की कांटा

होने की अभिशप्त है। हमारी ये चिंताएं संस्कृति के खांचे से किसी रूप में अलग नहीं है। नदियां हमारा जीवन हैं और संस्कृति की वाहक भी। इसे राधेश्याम जी भली-भाँति जानते थे।

तो आज के बरेलीवासियों, यह जानने का तुम्हारे लिए पता नहीं कोई अर्थ होगा कि जिस मकान में पंडित जी का जन्म हुआ था वह छोटा सा कच्ची दीवारों का एक खपरैल और दो छप्परों वाला था उसे सगर्व घर कहा जा सकता है और जो आज इस शहर के किसी चमकीले रंग-रोगन वाले फ्लैट से बहुत बड़ा था। पंडित जी के पिता थे बांकेलाल जी, जिन्हें घर उनके नाना ने दे दिया था। कुल जमा यही ज़मीन-जायदाद थी उनकी। पंडित राधेश्याम कथावाचक के ज़िन्दगी का सफ़र यहीं से शुरू होता है।

मैं उस तस्वीर को भली-भाँति देख पा रहा हूँ जिसमें पंडित जी के मकान के पूरब में 'राजा चित्रकूट का महल' था। तब बरेली में जो भी नाटक कम्पनियाँ आतीं वे इसी महल को किराए पर लेकर इसमें रहतीं और अपने नाटकों का रिहर्सल करतीं। यानी महल में हलचल रहती। संवाद बोले जाते, नाच-गाने होते और ढोल-मजीरे बजते। पंडित जी तब चार-पांच वर्ष के रहे होंगे जब यह सब देखने-जानने में उनकी दिलचस्पी हो गई थी। अर्थ कि पंडित जी से पहले भी इस शहर में नाटकों की धूम थी और उन्हीं से प्रेरणा लेकर वे भी अपना रास्ता बनाने की ओर आगे बढ़े थे।

पंडित जी के पिता को गायान में रुचि थी। वे कई रागनियां जानते थे। कहा जाता है कि उनकी आवाज पाटदार थी। रामलीला में वे चौपाई गाते तो समां बंध जाता। वे चंग पर लावनी भी गाते थे। तब इसका खूब चलन था। पिता के साथ पंडित जी का इस रास-रंग में रंगता चला गया। वे हारमोनियम बजाना और गाना गाना सीख गए। आठ वर्ष के थे कि रामलीला में चौपाई गाने का अवसर मिला जिसे खूब पसंद किया गया। उन दिनों बरेली में वकील पंडित शालग्राम जी ने इस पर उन्हें एक रुपए का इनाम दिया था।

बरेली में जो नाटक कम्पनियां आतीं उनमें 'न्यू अल्फ्रेड' सबसे आगे थी। उसकी लोकप्रियता का आलम यह था कि 'न्यू अल्फ्रेड' शायद हर दूसरे या तीसरे साल आ जाती थी। पंडित जी के ही शब्दों में कम्पनी बम्बई से चलती थी तो उसका

पहला स्टेशन बरेली ही होता था। बरेली दीवानी थी उस कम्पनी पर। सुना है भिश्ती मशकें बेचकर भी उस कम्पनी का नाटक देखने जाते थे। 'अलादीन-अलीबाबा' और 'चन्द्रवली' नाटक खूब चलते थे। इन्हीं के गीत गली-गली में लोग गाते फिरते थे। बिजली तब नहीं थी। गैस के हण्डे भी नहीं थे। फिर भी चार आने से लेकर तीन रुपए तक के दर्जे ठसाठस भरे रहते थे।

पंडित जी के पिता न्यू अल्फ्रेड कम्पनी तक पहुँच ही गए। उन्होंने पुत्र राधेश्याम को उससे जोड़ना तय कर लिया। वे एक दिन उसी राजा चित्रकूट के महल में कम्पनी के रिहर्सल के समय उन्हें साथ लेकर गए। कम्पनी के डायरेक्टर को उनका गाना सुनवाया। वह खुश हुआ। कहा-''रख लेंगे कम्पनी में। रात को थियेटर पर आइए।'' वहां गए तो देखा कि 'चन्द्रवली' नाटक था। उन्हें एक गाना बहुत पसंद आया-'दही वाली का तौर दिखाना।'

घर आए लेकिन नाटक पंडित जी के भीतर गूंजता रहा। देर से सोए। और सोए तो सपने में भी नाटक। अगली रात वे फिर नाटक देखने गए। खेल था 'अलाउद्दीन'। कम्पनी के डायरेक्टर सोराबजी फ्रामजी ओग्रा थे। वे पंडित जी के पिता से बोले-''कम्पनी जब किसी लड़के को भरती करती है तो उसके पिता से एक एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर कराती है। कल रिहर्सल के समय आइए तो हम एग्रीमेंट दे देंगे। कम्पनी ने छपवा रखा है।'' पिता जी वह एग्रीमेंट ले आए जो अंग्रेजी में छपा था। पर तब वह बात टल गई।

इसके बाद पंडित जी के पिता कथा कहते और साथ में उनसे गीत गवाते। अब पंडित जी को गाने लिखने का भी शौक लग गया। वे बताते थे कि तब हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान भाई नाटक के ज्यादा शौकीन थे। कम्पनियों के मालिक और कलाकार मुसलमान होते थे। खेल भी खालिस उर्दू में रहते थे। इश्क और हुस्न का बोलवाला था। बातचीत में जिस शब्दावली का प्रयोग होता था उसमें अम्माजान, मेहरबान, कद्रदान और जानी, लासानी, नूरानी जैसे लफ्ज आते थे। बावजूद इसके उनके अनुसार बरेली की स्थिति इस तरह की नहीं थी। यहाँ हिन्दू-मुसलमान या हिन्दी-उर्दू जैसा बंटवारा नहीं था। पंडित जी के शब्दों में कहूँ तो एक-दूसरे के दुःख-सुख में दोनों शरीक होते और मदद करते थे। बरेली के मोहर्रम मशहूर थे-हम सब

बच्चे आजादी के साथ उन्हें देखने जाया करते थे। कर्बला तक जाया करते थे। दौलतमंद हिन्दू ताजियों के जुलूस में जलेबियां बंटवाते थे। शर्बतों की प्याउएं लगाते थे। इसी तरह हिन्दुओं की होली में मुसलमान रंग डलवा लेते थे। होली मिलने भी आया करते थे। बड़ा अच्छा व्यवहार था परस्पर।

पंडित जी का घर गली कामरथियान में था। इसे उनके पिता जी के नाना पंडित मूलचन्द जी 'कामारथी' के नाम से जाना जाता था तो पैदल अपने दल के साथ हरिद्वार जाकर कांवर में गंगाजल लाते और फिर उसी तरह पैदल वैद्यनाथ धाम जाकर मूर्ति पर चढ़ाया करते थे। पंडित जी अपने संस्मरणों में कहते हैं कि उनकी इसी गली कामरथियान में एक मुसलमान घूरन दर्जी रहता था। वे उसे मामा कहते थे और उसकी बीवी को मुसानी। एक रोज पंडित जी की पतंग उनके लड़के ने तोड़ ली। वे दौड़े गए मुमानी के पास। उन्होंने अपने लड़के को ऐसी तेज डांट पिलाई कि उसने उसके पैर पकड़कर माफी मांगी और उनकी पतंग मय डोर के वापस कर दी।

ऐसा प्यार भरा सघन रिश्ता था तब लोगों के बीच। पंडित जी हिन्दू होकर कुछ तर्जे सीखने मुहल्ला जखीरा के उस्ताद राहत अली के मकान पर जाते। वे उनसे पुत्रवत स्नेह करते। उन्हें हारमोनिय उन्हीं ने सिखाया। बाद को वे हारमोनियम सीखने बरेली के ब्रह्मपुरी निवासी पंडित बहादुरलाल के पास भी जाते रहे।

बरेली के लोगों की ज़िन्दगियां तक किस तरह की थी, यह पंडित जी की इन बातों से ही समझा जा सकता है-''उन दिनों ललित कला से जनता का इतना ज्यादा लगाव होने का सबसे बड़ा कारण यह था कि बेफिक्र ज़िन्दगियां थीं, थोड़ी आमदनी में ही पारिवारिक खर्च पूरे हो जाया करते थे बल्कि कुछ बच भी रहता था। भोजन में सादगी थी। सिर्फ एक दाल बन गई और उसके साथ रोटी खा ली। जाड़ों में उड़द की दाल, गर्मियों में अरहर की दाल और बरसात में मूंग की दाल। मसूर और मल्का मसूर, कढ़ी और खीर, बड़ी और मंगोड़ी तो कभी-कभी होती थीं-और वह भी कोई मेहमान आ गया तो होती थीं। चावल, अरहर की दाल के साथ होते थे, या खिचड़ी में। जाड़ों भर तो दोपहर को खिचड़ी ही प्राय: होती थी, और वह भी उड़द की खिलमा। हां, घी बड़ा शुद्ध मिलता था। 'वनस्पति' का तो कोई नाम ही नहीं जानता था। प्राय: घरों में गाय या भैंस रहती थीं। उनका दूध, दही, मक्खन, मठा रोज-रोज मिला करता था,

और उसका सब प्रबंध घर की बड़ी-बूढ़ी ही करती थीं। जिस जमाने में एक रुपए का एक मन गेहूँ बिकता था, और वह भी चांदी के सौ रुपयों के बराबर तोल वाले सेरों के मन का उस जमाने में भूसे और खल को कौन पूछता था। गाय-भैंस खूब पलती थीं। चौके में जूठन भी बहुत होती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरी माता रोज मोटी-मोटी चार रोटी मेहतरानी को दिया करती थीं। वह रोटियां उसकी बंधी हुई थीं-और महीना? रुपयों में, पैसों में था। सिर्फ एक आना महीना दिया जाता था। मेहतरानी को ही क्यों? कुत्ते को भी मोटी-मोटी दो रोटियां मिला करती थीं, और गाय का तो सबसे पहले 'गौ ग्रास' के नाम से रोटी जाती थी।''

शाम को घरों में पूरी या पराठे होते थे। शाक सिर्फ एक ही होता था, और वह भी फसल का। यह नहीं कि बारहों महीने आलू ही हो रहे हैं। शाक बड़ा स्वादिष्ट खाया जाता था। बचे हुए पूड़ी-परांठे सुबह को रख दिए जाते थे, जिन्हें आम के साथ घरों के बच्चे और स्त्रियां कलेऊ में खाते थे। चाय तो मेरे होश संभालने के बहुत दिन बाद चली है। उस समय की चाय था ताजा-ताजा मठा। आटा हाथों की चक्कियों ही में पिसता था, और पानी घर वाले स्वयं कुओं से भरते थे। हाथ के पम्प तो मेरा बचपन बीत जाने पर चले हैं। आज जब देखता हूँ कि घरों नौकर तक एक-दो फर्लांग चलकर सब्जी मंडी से तरकारियां खरीदने बिना साइकिल नहीं जा सकते, तब मेरी आँखें के आगे वे दिन घूमने लगते हैं जब हम लोग बहुत सबेरे ही कई मील पैदल चलकर जंगल में निबटते थे और गंगा-स्नान करते थे। लौटते समय एक शाक लेकर घर में घुसते थे। खाली हाथ घर में लौटकर आना व मनहूसियत समझी जाती थी। ज्यों ही नया घर में आता था, घर की मालकिन खुश हो जाती थी-ओहो! आज करेले आए हैं। उसकी इसी खुशी की आवाज पर घर के मालिक या शाक लाने वाले पारिवारिक व्यक्ति के मन में इतनी ज्यादा खुशी होती थी जितनी आज एक सौ रुपए की घर में भर की भी नहीं होती थी। शुद्ध-सादा-सात्विक प्रेम से बनाया और परोसा हुआ भोजन ही स्वास्थ्यदाता होता है। पर अच्छा स्वास्थ्य ही मानसिक शक्ति भी बढ़ाता है, आत्मिक आनंद भी देता है। अनुभव से यही सिद्ध है।

उन दिनों कौड़ियों का खूब चलन था। एक पैसे की चौंसठ कौड़ियां आती। हमारी गली के नुक्कड़ पर एक सोंठ वाला बैठा करता था। हम सब बच्चे उसे 'मोंटामल' कहा करते थे। उसके पास उबले और छिले हुए तथा बिना कटे हुए छोटे-

छोटे आलू भी रहते थे। कौड़ी आलू वह बेचा करता था। यानी एक कौड़ी का एक आलू खाया करता था, सोंठ में डुबो कर। कोई-कोई लड़का चौंसठ आलू तक ख लेता था। सेर-सवा सेर वजन तो होना चाहिए उन आलुओं का। फिर आला-पाला (कबड्डी का खेल) खेला करते थे सब बच्चे। मैं भी कबड्डी खूब खेला हूँ।

हम लोग कभी बीमार हुए हों उन दिनों यह स्मरण नहीं। यह स्मरण है कि दों-क्वार के महीनों में माता जी तुलसीदल और काली मिर्च जरूर घोटकर पिलाया करतीं ताकि जाड़ा-बुखार न आए। इसी एक बीमारी के अतिरिक्त हमने दूसरी बीमारी का नाम सुना ही नहीं। और इन बुखार वाली बीमारियों की चिकित्सा से बड़ी सख्ती थी। बिहारीपुर की बजरिया में हकीम शालग्राम बैठा करते थे। वह कुछ पैसे का नुस्खा लिखकर दिया करते थे जिसमें एक पैसे का कोई अर्क होता था और एक पैसे का शर्बत। उपवास जरूर कराते थे। बुखार टूटने पर एक दिन केवल मूंग की दाल का पानी मिलता था जो पथ्य कहलाता था।

अब पंडित जी कुछ और बड़े हो गए थे। 12-13 वर्ष के। पिता जी कहीं दूसरे शहर में कथाएं कहने जाते तो उन्हें साथ ले जाते और वे अपने नाम के साथ कथा तथा वाचक शब्द मिलाकर 'कथावाचक' लिखने लगे। उन्हे मेहर जी से मिलकर पता किया बम्बई में पारसियों की कई नाटक कम्पनियाँ हैं। नाटक देखते-देखते उनके भीतर इस विधा के प्रति जुड़ाव बनता गया। ...... लज्जाराम मेहता के उपन्यास 'आदर्श दम्पत्ति' के आधार पर लिख लिया। वे जिन दिनों जयपुर में थे तब बरेली में 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी आई। वह उसका नाटक 'खुबसूरत बला' नहीं देख सके इसका उन्हें बड़ा अफसोस रहा। बाद को उन्होंने और कहीं इस नाटक को देखा तो वे उसमें बह गए। इसके लेखक आगा हश्र कश्मीरी और डायरेक्टर सोराबजी ओग्रा के प्रति वे श्रद्धावान हो उठे। उन्होंने फैसला कर लिया कि वे अब इस दरिया में कूदेंगे।

1910 या 11 की बात है। बरेली में पंजाब की एक नाटक कम्पनी आई 'न्यू अल्बर्ट' जिसके मालिक नानकचन्द खत्री थे। वे एक दिन अचानक अपने एक-दो कलाकारों के साथ पंडित जी से उनके छप्पर खपरैल वाले मकान में मिलने आ गए। कम्पनी उनकी राज चित्रकूट के महल में ही ठहरी थी। नानकचन्द जी ने उनसे कहा-

हमारी कम्पनी हरिद्वार से आ रही है। वहां हमने नाटक 'रामायण नाटक' जयपुर महाराज सवाई माधोसिंह जी को दिखाया था। उन्होंने नाटक में कुछ त्रुटि बताई। कम्पनी जब हरिद्वार से बरेली चलने लगी तो महाराज साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी अविनाश बाबू ने आपका नाम बतलाया और सलाह दी कि आपसे हम अपने 'रामा नाटक' का संशोधन करायें।

पंडित जी माधोसिंह जी को अपनी कथा सुना चुके थे और अविनाश बाबू से भी वे मिल चुके थे। उन्होंने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और महीने भर के भीतर इस काम को पूरा भी कर डाला। फिर तो उनसे ही नाटक का निर्देशन भी कराया गया। इस नाटक का मंचन बरेली में ही हुआ। पंडित जी के घरवाले, रिश्तेदार और परिचित सभी उसे देखने गए। इसमें नाटक का पार्ट मास्टर रहमत अली था जिसे उन्होंने ही नाटक में बढ़ाया था। उसमें एक गाना जोड़ा था-'अयोध्या में है आनंद छाया, पुत्र कौशल्या ने जाया।'

पंडित जी कहते हैं कि यह गाना तब बरेली के घर-घर में पहुंच गया और लोकप्रिय हुआ। इस नाटक के सभी गाने जनता के पसंद किए। अब दुनिया भर में नाटक की धूम थी। इसका लाभ पंडित जी को भी मिला। नानकचन्द ने पंडित जी को उपहारस्वरूप एक हारमोनियम भेंट किया।

इसके बाद ही पंडित जी ने 'वीर अभिमन्यु' की रचना की। वे अब नाटक की दुनिया में खो चुके थे। 1908 का समय आया जब उनकी किताबें छपने लग गई थीं। बरेली (रामाज्ञा प्रेस) में 'द्रोपदी-लीला' और 'सीताहरण' छपीं। 'राधेश्याम विलास' के भाग भी प्रकाशित हुए।

उन्हीं दिनों बरेली में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए धन-संग्रह करने पंडित मदन मोहन मालवीय जी आए। उनके साथ दरभंगा नरेश, शिवप्रसाद गुप्त जी,पंडित दीनदयाल शर्मा जी भी थे। बरेली में उनका ऐतिहासिक जुलूस निकला। उन्होंने जल्दी-जल्दी लिखकर कुछ पंक्तियाँ सुनाई-

हमारे घर आए हैं आज, मालवी, दरभंगा महाराज।
भिखारी बने धर्म के काज, मालवी, दरभंगा महाराज।।

पंडित जी ने यह भी आह्वान किया-

हिलमिल करो जाति-उद्धार, भाइयो समय न बारम्बार।
कोटिपती दें लक्ष-लक्ष, लखपती हजार-हजार।
मध्यम श्रेणी देंय सैंकड़ों, निर्धन के दो-चार।
हमें दो पैसे भी स्वीकार-भाइयो, समय न बारम्बार-

उन्होंने और भी गीत गढ़े। वे इन्हें दो-तीन दिन गाते रहे। बिके भी। उनकी बिक्री का कई हजार रुपया पंडित जी ने विश्वविद्यालय के कोष के लिए दे दिया। मालवीय जी से उनका यही पहला परिचय था। पूछा था मालवीय जी ने-''क्या करते हो?'' पंडित जी ने हाथ जोड़कर कहा-'कथा प्रवचन।' वे बोले-'बड़ा अच्छा कर रहे हो। यही ब्राह्मण धर्म है।' फिर कहा-'मेरे पिताजी भी कथा करते थे, शौक तो मुझे भी है। श्रीमद्भागवत और महाभारत से तो अत्यधिक प्रेम है।' पंडित जी ने जब अपनी रामायण गाई तो वे बहुत प्रभावित हुए। पूछा-'यह कौन-सा छंद है? लावनी या चौबोला?' पंडित जी ने विनम्र भाव से कहा-'लावनी में तो चार-चार बोलों के बाद एक बोल, फिर आस्ताई के क़ाफ़िये का आता है। इस तरह चार चौक में ख्याल पूरा होता है, और चौबोला, उसका तो अर्थ ही यह है कि बोल एक काफिले के हों। मेरी 'रामायण' के छंद तो दोबोला हैं। दो लाइनें एक काफिले की रहती हैं।'

पंडित जी का यह उत्तर सुनकर मालवीय जी खूब हँसे और उन्हें आशीर्वाद दिया। उन्होंने मालवीय जी को अपने नाटक 'वीर अभिमन्यु'का एक दृश्य भी सुनाया।

'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी को हिन्दी नाटककार नहीं मिल रहे थे। 1913 में वह कम्पनी फिर बरेली आई तब उसके डायरेक्टर भोगीलाल भाई पंडित जी से मिलने आए। फिर सोराबजी से भी मिलना हुआ जिन्होंने 'वीर अभिमन्यु' के दृश्यों को दिलचस्पी के साथ सुना और अपनी कम्पनी के लिए पसंद कर लिया। पंडित जी बरसों बाद 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी के डायरेक्टर बने। 'वीर अभिमन्यु' देश भर में लोकप्रिय हुआ। पंजाब विश्वविद्यालय में एफ ए के पाठ्यक्रम में रहा।

पंडित जी ने 1917 में बरेली के चित्रकूट के महल वाला मकान खरीद लिया था। उसमें उन्होंने 'राधेश्याम प्रेस' स्थापित कर ली। उसके मैनेजर बने पंडित रामनारायण पाठक। पंडित जी इस प्रेस की उन्नति का सारा श्रेय उन्हीं को देते थे। वे

उन्हें छोटे भाई के समान मानते थे। उन पर बहुत भरोसा था उन्हें। इसी समय एक घटना यह हुई कि बरेली के एक निकटवर्ती शहर से 'राधेश्याम प्रेस' के नाम से ही पंडित जी के चित्र और हस्ताक्षर की नकल करके 'वीर अभिमन्यु' की 2000 प्रतियां छपा डाली गईं। पंडित जी के पुत्र बलराम शर्मा को मालूम हुआ तो तहकीकात की जिस पर प्रेस मालिक ने क्षमा मांगते हुए सारी प्रतियां उन्हें सौंप दी। पंडित जी के 'वीर अभिमन्यु' नाटक की भूमिका बरेली के ही उनके मित्र बाबू छैलबिहारी कपूर एडवोकेट ने तथा 'श्रवण कुमार' की बाबू जियाराम सक्सेना एडवोकेट ने लिखी थी। उनकी पुस्तक 'मेरा नाटककाल' की भूमिका भी बरेली की श्रीआचार्य पीठ के स्वामी श्री राघवाचार्य ने लिपिबद्ध की थी। पंडित जी ने उसी 'महल' में 'राधेश्याम पुस्तकालय' भी बना लिया। एक बार 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी फिर बरेली आई तो उसने इसी महल वाले मकान में रहना पसंद किया।

1947 की बात है जब पंडित जी के बड़े बेटे घनश्याम नहीं रहे। वे ज्वरग्रस्त हुए तो बहुत कमजोर होते चले गए। पंडित जी को आशंका थी कि कहीं टीवी हो। वे उनसे बहुत स्नेह करते थे। बरेली के डॉ. श्याम स्वरूप जी ने चिकित्सा की अंत में वह दिवंगत हो गए। सुना तो बरेली के कोतवाल पंडित जी के घर आकर सांत्वना देने आए और उनके ही 'वीर अभिमन्यु' नाटक का श्रीकृष्ण-सुभद्रा संवाद उन्हें सुनाया। फिर बोले-'आप ही ने ऐसा लिखा है। अब आपको हम धैर्य दिलाने की बात क्या कहें?' बाद को 'राधेश्याम प्रेस' से ही निकलता था जिसके संपादक सतीश कुमार कपूर थे। काशीपुर के पंडित दुर्गादत्त पंत ने 'उषा अनिरुद्ध' नाटक लिखा तो वे उसे पंडित को दिखाने बरेली आए। पंडित जी ने उसमें अनेक संशोधन किए। फिर वह बरेली में खेला गया।

पंडित जी के नाटकों की संख्या और उनकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती रही। बरेली में कम्पनियों के नाटकों की लगातार धूम बनी रही। अम्मूलाल और शरीफा की घटनाओं को ही देख-परख रहा हूँ... नाटक उन दिनों उनके लिए नशा हो गया था। ऐसे में वे प्रेस की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे पा रहे थे। उसे उनके पुत्र घनश्याम ही संचालित करने लगे थे। रामनारायण पाठक, सतीश कुमार कपूर और चन्द्रनारायण सक्सेना भी संलग्न थे। अब पंडित जी ने प्रेस में बैठकर ही उसे ढंग से देखना शुरू कर दिया। कई नई पुस्तकों छापीं। 'भ्रमर' को भी संभाल कर निकाला। सब जगह

'राधेश्याम प्रेस' बरेली की कीर्ति पताका फहरने लगी। अनेक लोकप्रिय नाटकों की किताबें यहाँ से छपीं जिनकी लम्बी सूची है। बरेली जो भी आता उसके लिए 'राधेश्याम प्रेस' मुख्य केन्द्र होता। उन्होंने बेताब जी की पहली पत्नी के बेटे मुकुन्दलाल सीमाब को कई वर्ष तक 'राधेश्याम प्रेस' में प्रूफ रीडरी के काम में रखा। वह बाद को बम्बई चला गया। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि माधव शुक्ल भी 'राधेश्याम प्रेस' में रहे। उन्होंने ही 'मशरिकी हूर' की भूमिका लिखी। महाभारत की कथाओं के दो प्रारंभिक अध्याय भी शुक्ल ने यहीं रह कर लिखे।

पंडित जी एक बार बीमार पड़ गए तो माणिकशा उन्हें देखने बरेली आए। बरेली में एक बार प्लेग फैला। पंडित जी की माता जी उसमें बीमार पड़ गई। वे कहीं बाहर थे। लौटे तब तक माता का अंतिम संस्कार हो चुका था। उनके छोटे भाई बरेली में थे। पंडित जी ने सूचना भेजी थी कि बरेली में प्लेग का प्रकोप फैल रहा है। ऐसे में माता-पिता को दिल्ली ले जाओ। पर ऐसा संभव नहीं हुआ। माता जी का दाह संस्कार 'मदन भैया' ने ही किया। पंडित जी बरेली लौटे तो पिता जी से बोले-'मुझे यह सोच रह गया कि मेरे अच्छे दिन अब शुरू हुए थे। मैं माता जी की जी भर कर सेवा करने का इच्छुक था, पर वह न कर सका। वे बड़ी जल्दी परलोक चली गई।'

पंडित जी अपने संस्मरणों में एक और घटना का उल्लेख करने में संकोच नहीं करते। उन्होंने लिखा-'मेरी स्त्री कलावती की अपनी सास से नहीं पटती थी। स्त्री के बहुत रोने-धोने पर मैंने उसे दूसरे मकान में, उसी चित्रकूट वाले महल में लाकर रखा था। माता जी पिता के साथ बीवी रुक्मिणी वाले मंदिर में ही रहीं। उन्होंने उसे नहीं छोड़ा तब मैंने 60 रुपये मासिक माता जी का और 100 रुपये पिताजी का जेब खर्च शुरू कर दिया। 150 रुपये अपनी स्त्री का भी। यह प्रबंध इसलिए किया था कि मैं तो प्राय: बरेली के बाहर ही रहता था। नित्य का खर्च यह सब स्वयं ही अपने मन का करें। मदन भैया का विवाह तो मैं कर ही चुका था। वह पत्नी सहित उसी रुक्मिणी मंदिर में माता-पिता के साथ रहता था।' पंडित जी आगे लिखते हैं-'हां, तो मैंने पिताजी से अब अपने मन का पश्चाताप कहा तो उन्होंने कहा कि यह तो स्वाभाविक ही है कि तुम्हें रह-रहकर माता की हूक उठती है, पर तुम्हारी तरफ से तुम्हारी मां निश्चिंत थी, खुश भी थी कि तुम कमाने लगे हो। उसे तो मदन की फिक्र थी कि मदन 'राधेश्याम' नहीं बना। यद्यपि तुमने उसे कथा सिखा दी, कविता सिखा दी और अब

नाटक कम्पनी में भी 100 रुपये मासिक दिला रहे हो। फिर भी वह स्वयं अभी तक अपने पैरों पर नहीं खड़ा हुआ। मैंने उस समय पिता जी के चरण छूकर कहा कि माता नहीं हैं, पर पिता तो हैं। पिताजी, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मदन को अपने जीवन भर पुत्र समान ही समझूंगा। ...तब से अब तक मेरा ऐसा ही व्यवहार उसके साथ रहा है। इस व्यवहार के कारण मैंने अनेक कष्ट उठाए हैं। मेरे पारिवारिक मतभेद की जड़ यही घटना है। मेरी स्त्री को मेरा यह रवैया नहीं भाया, और अंत तक नहीं भाया। खैर अब तो वह (मेरी स्त्री) भी न रही।'

पंडित जी के नाटकों 'मशरिकी हूर', 'वीर अभिमन्यु', 'श्रीकृष्ण', 'प्रह्लाद', 'ईश्वरभक्ति', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रवण कुमार', 'द्रोपदी स्वयंवर', 'श्रीकृष्णावतार' और 'परिवर्तन' आदि की कीर्ति सब ओर फैल रही थी। उनके 'ईश्वरभक्ति' नाटक का उद्घाटन तो दिल्ली में पंडित मोतीलाल नेहरू ने किया था। मुंशी प्रेमचंद से उनकी निकटता बढ़ गई थी। वे उनके पास बरेली आए। जब तक रुके नाटकों पर खूब चर्चा हुई। 'ईश्वरभक्ति' प्रेमचंद ने देखा तो प्रसन्न हुए, पर कहा कि चमत्कार इसमें क्यों लिखे हैं? पंडित जी ने उत्तर दिया कि जनता अभी वैसी नहीं बनी है, जैसे तुम हो, या तुम्हारे ख्याल के और थोड़े से दर्शक हैं। यह व्यवसायी कम्पनी का नाटक है। फेल हो जाए तो कम्पनी ही फेल हो जाए। नब्बे फीसदी पैसा हमें उसी जनता से मिलता है जो चमत्कार पर भी पागल होकर तालियां बजाती है। निश्चय ही प्रेमचंद पंडित जी के इस विचार से सहमत नहीं हुए होंगे। थोड़ी देर रुककर पंडित जी ने उनसे कहा कि तुम अपने विचार भूमिका में लिख देना, मैं उसे किताब छपने पर छपवा दूंगा। पंडित जी कहते हैं कि बाद को जब मुंशी प्रेमचंद फ़िल्मी दुनिया में गए तब उन्होंने समझ लिया कि उनके विचार के संसार में और इस नाटक सिनेमा के संसार में कितना अंतर है।

21 अगस्त, 1930 को पंडित जी ने अपनी प्रिय कम्पनी 'न्यू अल्फ्रेड' से विदाई ले ली। यद्यपि वे ऐसा करने पर बहुत आहत थे। उन्हें कम्पनी का एक नोटिस मिला था जिससे वे बहुत व्यथित हुए। उनके मित्र बाबू छैलबिहारी कपूर ने उनके पास आकर समझाया-'तुम एक विशेष कार्य करने संसार में आए थे-रामनाम का प्रचार और नाटकों द्वारा हिन्दी की सेवा। तुम्हारी रामायण ने जनता को तुलसी रामायण पढ़ना सिखाया है। तुम्हारे हिन्दी नाटक आगे किसी समय हिन्दी में कालिदास और शेक्सपियर पैदा करेंगे। तुम पतन और उत्थान के बीच की कड़ी हो। तुम दुनियाभर

नहीं हो, बन भी न पाओगे, बनने की कोशिश भी मत करो। दुनियाभर तो घर के पीछे अपना धर्म, कर्म, जुबान, ईमान सब नष्ट कर देता है। यद्यपि वह धन थोड़े ही दिन की हवा होती है, मरने पर यहीं धरा रहता है। कौन याद करता है ऐसे दुनियादार को। पर तुम। तुम तो! अपनी कृति, रामायण और नाटकों से अमर हो गए हो। आदर के साथ जनता जैसे अब तुम्हारा नाम लेती है, उससे कहीं ज्यादा बाद में लेगी।' उन्होंने फिर कहा-'मैं जब पूना गया था तो एक मारवाड़ी भोजनालय में भोजन करने चला गया। वहां भोजन परोसने वाले व्यक्ति ने मुझसे पूछा-कहां के रहने वाले हो? मैंने कहा-बरेली के। उसने कहा-उसी बरेली के जहां राधेश्याम कथावाचक रहते हैं? राधेश्याम जी की बरेली के? बरेली में जन्म लेकर तुम इतने बढ़े कि बरेली तुम्हारे नाम से विख्यात हुई। तुम अपने व्यक्तित्व ही को बढ़ाते रहो। दुनियादारी हम पर और अपने बच्चों पर छोड़ो।'

छैलबिहारी जी ने नोटिस का जवाब कम्पनी को दे दिया। कम्पनी जब रामपुर में थी, वहीं जाकर समझौता हुआ-'राधेश्याम प्रेस' से राधेश्याम के सभी नाटक छपते निकलते रहेंगे। कुछ और भी बातें तय हुईं।

मथुरा के एक प्रकाशक ने तो कम्पनी में जाकर मालिकों को मनचाहा पैसा देकर पंडित जी के नाटक छाप डाले। लेखक की जगह उनका ही नाम। वैसा ही फोटो जैसा 'राधेश्याम प्रेम' में छपता था, और प्रकाशक की जगह मि. माणिकशा बलसारा मैनेजिंग प्रोपराइटर न्यू अल्फ्रेड कम्पनी। यह नाटक 'राधेश्याम प्रेस' में छपने वाले नाटकों से कम कीमत पर बाजार में बिकते रहे।

पंडित जी ने एक बार प्रसिद्ध हिन्दी लेखक पंडित लक्ष्मीनारायण गर्दे को बरेली बुलवाकर एक महीने तक उनकी 'गीता कथा' का 'राधेश्याम भवन' के 'कथा हॉल' में पाठ करवाया। आगा हश्र भी बरेली में उनके मकान पर दो-तीन बार आए। एक बार अपनी 'शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी' लेकर और दूसरी बार 'ग्रेट अल्फ्रेड' लेकर। आगा हश्र जिन दिनों बरेली में उनके पास थे तब ही आगरा के एक साप्ताहिक में पंडित जी के नाटक 'श्रवण कुमार' की घोर आलोचना हुई। देखकर आगा ने कहा-'क्यों छपवाते हो अपने नाटक? नाटक खेलने की चीज है, पढ़ने की नहीं। अभी हिन्दुस्तान में हिन्दी इतनी नहीं उठी है जितनी पश्चिम में अंग्रेजी। यहां तो थियेटरों में

अभी अर्से तक 'खिचड़ी' (गिरी-पड़ी) भाषा ही चलेगी। हिन्दी के ऊँचे लोग चाहते हैं ऐसी उच्च कोटि की भाषा जिसे स्टेज पर रक्खा जाए तो उन हिन्दी के दिग्गजों के घरवाले तक नाटक देखने आवें तो न समझ सकें। कम्पनी का पहली ही रात 'टाट' उलझ जाए। फिर इन आलोचकों को न स्टेज का ज्ञान हो, न वाक़आत जानते हैं। अंधाधुंध लिख मारते हैं।' इसके बाद आगा ने अपने संदूक से श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' के संपादन में छपा 'भारतेन्दु' मासिक का नवम्बर 1928 का अंक निकाला जिसमें लिखा था कि... बाबू नारायण प्रसाद 'बेताब' ने 'वीर अभिमन्यु', 'महाभारत' और 'परिवर्तन' आदि कई बड़े नाटक लिखे जिनका जनता ने बड़ा आदर किया।

आगा हश्र इस पर खूब हँसे। यह दिसम्बर 1928 की बात है जब वे बरेली आए थे।

मैं यहाँ कलकत्ते में पंडित जी के दो अभिनन्दन समारोहों का जिक्र करना चाहूंगा। पहला 2 जनवरी, 1927 की रात को साढ़े आठ बजे हिन्दी नाट्य परिषद् ने 'मुकीम निवास' में जहां भीड़ खूब थी। 'मतवाला' के संपादक मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव अध्यक्षता कर रहे थे। 'हिन्दू पंच' के संपादक ईश्वरीप्रसाद शर्मा, 'नारायण' के संपादक पं. नरोत्तम व्यास और विजय कृष्ण शुक्ल ने वक्तव्य दिए। परिषद् के अध्यक्ष माधव शुक्ल ने पंडित जी को सोने से लिखा हुआ सम्मान पत्र भेंट किया। उस रोज पंडित जी ने अपनी रामायण से केवट और राम के संवाद ही सुनाए। दो दिन बाद 4 जनवरी को पुनः बजरंग परिषद् भवन में पंडित जी के सम्मान में एक कार्यक्रम आयोजित किया जिसमें पं. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' भी पधारे। पं. ईश्वरीप्रसाद शर्मा, नरोत्तम जी व्यास, पुरुषात्तमराव जी, माधव जी शुक्ल, पं. गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री, सरदार सतनाम सिंह जी आदि ने सक्रिय हिस्सेदारी की। यहां गांगेय नरोत्तम शास्त्री उन्हें मानपत्र दिया। यहां पंडित जी ने रामायण कथा के शिव और पार्वती प्रसंग सुनाए।

एक तरह से यह बरेली का भी सम्मान था। कलकत्ते में नरोत्तम शास्त्री से उनकी बहुत आत्मीयता हो गई थी। उन्होंने व्यास जी के निकट ही एक घर किराए पर ले लिया और वहीं रहकर 'वाल्मीकि' लिखने के काम को पूरा करने में जुट गए। पत्नी साथ में थीं तो उन्हें बरेली भेज दिया।

फिर पत्नी बीमार पड़ गई और पंडित जी का कलकत्ता छूट गया। 'राधेश्याम प्रेम' के काम में अब वे तेजी से लग गए। वे नेकपुर, गंगारोड के किनारे बाग खरीदकर बाग और कोठी बनाने लगे। रोज सुबह पत्नी सहित वहां निकलते और फूलों के पौधे और वृक्ष लगाते, सब्जियाँ उगाते। वहीं नहाते-धोते और भजन करते, खाना भी वहीं बनता। कभी दालबाटी तो कभी कुछ और।

1934 में उनके पौत्र विश्वनाथ का जन्म हुआ। तब पंडित जी के पिता भी जीवित थे। उन्हें सोने की सीढ़ी पर चढ़ाया गया। ऐसा उनके बाबा के साथ भी हुआ था। उनके जीवनकाल में घनश्याम का जन्म हो गया। उन्हीं दिनों नाटकों के भी बुलावे आए, पर वे नहीं गए। फ़िल्मों से भी निमंत्रण मिला। 'श्रीसत्यनारायण' फ़िल्म के लिए मोतीलाल मिस्त्री ने बम्बई बुलाया तथा अपने पुत्र बलराम को साथ लेकर गए। वहां का वातावरण देखकर उन्होंने वहां से लौटना तय कर लिया। पंडित जी ने 'सत्यनारायण' फ़िल्म को कभी देखा नहीं। उनके पुत्र बलराम ने बरेली में इसे देख लिया जब पंडित जी यहां नहीं थे।

केदारनाथ भार्गव से पंडित जी के पिता जी की मित्रता थी। वे बम्बई शेयर बाजार के सब-ब्रोकर थे। बरेली आकर उन्होंने पंडित जी को समझाया कि पैसा घर या बैंक में न रखकर कम्पनी के शेयर्स में लगाओ। पंडित जी उसमें भी पड़े, उनके मित्र बरेली कॉरपोरेशन बैंक के मैनेजिंग डायरेक्टर सतीश कुमार कपूर ने उनसे कहा- 'आपकी यह लाइन नहीं है।'

पंडित जी ने एक बार बरेली में हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार गोविन्द बल्लभ पंत को रानीखेत से बुलाकर अपने पास ठहराया। उन दिनों साहित्य और संस्कृति के मानचित्र पर बरेली की बड़ी पहचान बन सकी तो इसके पीछे पंडित जी की शख्सियत थी। साहित्यकार, नाटककार और रंगमंच के कलाकारों का इस शहर में जमावड़ा रहता और यहां नाटक की हलचलें शिखर पर पहुंची।

पंडित जी का बेटा घनश्याम निरन्तर बीमार चल रहा था। उन कठिन क्षणों में भी उन्होंने 15 अगस्त, 1947 के स्वागत में एक गीत लिखकर गांधीजी के यहां डाक से भेज दिया। धीरे-धीरे 3 अक्टूबर का दिन वह दिन आ गया जब पंडित जी के पुत्र घनश्याम नहीं रहे। पिता के सम्मुख पुत्र की अरथी। कैसे सहन होता। वे बरेली की

रामगंगा के किनारे चौबारी घाट पर छप्पर डाल कर रहने लगे। मोटर जो खरीदी थी वह पांच साल पहले ही बेच दी थी। अब एक तांगा खरीद लिया जिसका इस्तेमाल वे गंगा तक जाने और लौटने के लिए करने लगे।

इसके बाद पत्नी का वियोग। उनका अपना स्वास्थ्य भी गड़बड़ाने लगा। ...और फिर अपनी ज़िन्दगी के नाटक को पूरा करके 26 अगस्त, 1963 को पंडित जी हमसे विदा हो गए तो लगा जैसे बरेली का ज्योतिपुंज चला गया। इस नगर को सांस्कृतिक गरिमा देने की उनकी कोशिशें नाट्य क्षेत्र में किसी बुनियाद की तरह हमेशा देखी-परखी जाती रहेंगी। वे सही अर्थों में पारसी और हिन्दी रंगमंच के इतिहास-पुरुष थे। इस 'नट' का यह कथन बार-बार मेरे भीतर गूंजता है-जिस संसार में हम आए हैं वह खुद एक नाटकशाला हैं...

दो बरस का ही वक्फ़ा हुआ जब मैं और कविता भारत पंडित जी के जमाने की बरेली की सांस्कृतिक छवियां उनके नाटकों के नात्रों के जरिए तलाश करने की कोशिशों में मुब्तिला थे। एक तरह से हमारी यह खोज उनकी ज़िन्दगीनामे की भी थी। सबसे पहले हम पंडित जी की पौत्री शारदा भार्गव जी से उनके आवास पर मिले। पंडित जी का यही पुराना घर है। बताया उन्होंने कि पंडित जी की उम्र 16-17 की रही होगी जब उन्होंने भारतीय जनमानस की बोली-बानी में अपने आराध्य राम पर महाकाव्य की अद्‌भुत रचना की जिसकी विशेषता यह है कि इसमें पंडित जी की अपनी गायन शैली है जिसे अपने समय में 'तर्ज राधेश्याम' के नाम से शहरी-कस्वाई जनता के बीच असीम लोकप्रियता प्रास हुई थी। पता नहीं कितने गीतों-गानों की रचना उन दिनों उनकी इस तर्ज पर लिखैयों और गवैयों ने की और उन्हें जनता के मध्य सस्वर तथा ढोल-मजीरों के साथ नाचा-गाया गया। अपने स्वर्गीय बाबा पं. राधेश्याम कथावाचक की स्मृतियों को जीते हुए आज शारदा जी के चेहरे पर गर्व और श्रद्धा का मिला-जुला भाव हैं। बताती हैं कि 1942 में मेरा जन्म हुआ और बाबा के निधन के समय मैं बरेली कॉलेज में एम ए की छात्रा थी। याद है कि मेरे बाबा यद्यपि तीसरा दर्जा पास थे किन्तु परिवार में उन्होंने सबको शिक्षित कराया। स्त्री-शिक्षा के वे बड़े पक्षधर थे। विवाह के उपरांत मेरी मां (पंडित जी की पुत्रवधु) को घर पर मास्टर रखकर पढ़ावाया और चाची के विवाह के बाद डबल एम ए किया। बुआ लोगों को

भी पढ़ाया। घर पर बड़ों से पर्दा करने का तब रिवाज था पर बेटियां स्वतंत्र थीं। ...वह घर में नीचे बड़े से हॉल में 'प्रवेशिका' तथा 'विद्याविनादनी' नाम की परीक्षाएं कराते थे। बाबा का जन्म बहुत गरीब परिवार में हुआ था। हमारे परदादा यानी पंडित जी के पिता पं. बांकेलाल जी कथा बांच कर आजीविका जुटाते थे। इस घर में, जो आज बरेली जिला पंचायत परिसर के भीतर है, तब यहां छप्पर पड़ा हुआ था। यहीं बाबा का जन्म हुआ। सामने मंदिर था जहां वे पूजा करते थे। यहां नीम और जन्ट का पेड़ था। जन्ट की पूजा की जाती थी। बाबा की एक विधवा बुआ रुक्मिणी बीवी थीं जो उन्हें बेहद प्यार करती थीं तथा उनको पुत्रवत मानकर 'ललुआ' कहती थीं।

पंडित जी के रहन-सहन और खानपान की चर्चा करते हुए शारदा जी कहती हैं कि हमने तो उन्हें आने-जाने में पाजामा-कुर्ता तथा जेबदार बन्डी पहनते देखा। घर पर तहमद (लुंगी) बांधते थे। भोजन में वह प्रत्यक्ष नापसंद नहीं बताते थे। फिर भी उन्हें कुल्फे के पत्ते तथा बीज की कढ़ी और भात बहुत पसंद था। कभी बाबा का अचानक हलुआ खाने का मन होता वे लयबद्ध तरीके से सुबह साढ़े तीन बजे गाते थे-ललुआ, खा ले हलुआ। मरी मां सुन लेती थी और कुछ देर बाद हलुआ बनाकर उनके सामने भेज देती थी। वे देश में दूर तक कथावाचन के लिए जाया करते थे। जब राष्ट्रपति भवन में उनका कथा-आयोजन हुआ तो उनके साथ ललुआ, नारायण और छदम्मीलाल भी गए थे। ये सेवक उनके सेवक थे और मित्रवत भी। छदम्मी को तो वे अपनी 'दूसरी पत्नी' कहते थे जो बचपन से लेकर मृत्यु-पर्यन्त साथ रहे। जब डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के पास वह 15 दिन तक राष्ट्रपति भवन में रहे तो वहां रसोइया पूछता था-पंडित जी, क्या खाएंगे? तब बाबा जी खुद न बताकर पूछते थे-नारायण, क्या खाने का मन है? और नारायण पंडित जी की पसंद ही बोलते थे। उनकी दिनचर्या और भी बयान करती हैं शारदा जी-बाबा साढ़े तीन-चार बजे प्रातः उठ जाते थे और तुरन्त आवाज देते थे (संगीतमय लयबद्ध स्वर)-सुक्खा, भर ला हुक्का! इधर सेवक सुक्खा हुक्का लाता और उधर मां चाय तैयार कर देती थीं। नित्यकर्म से निवृत्त हो वे रिक्शे में बैठकर जिसे ललुआ चलाता था, अपने उस बाग में चले जाते थे जिसे बदायूं रोड पर उन्होंने लगाया था। 'विश्ववाटिका' नाम रखा था उसका उन्होंने जिसमें 56 आम के पेड़ थे और शेष शहतूत और जामुन के। वहां 3-4 कमरे भी बने थे और रसोई

भी। साधु-संत प्राय: आते-जाते और ठहरते थे। बाबा काफी समय बाग में आगन्तुकों से मिलते-भेंट करते। घर लौटने पर दोपहर हो जाती। फिर खाना खाकर सो जाते। और शाम को मित्रों संग वार्तालाप तथा संगीतमय संध्या।

पूछने पर शारदा जी कहती हैं कि उनके मित्रों में बाबू चन्द्रनारायण सक्सेना, पं. रामनारायण पाठक (प्रेस के मैनेजर)और चुन्ना मियां (फजलुर्रहमान) खास थे जिन्होंने लक्ष्मीनारायण मंदिर का निर्माण करवाया। वह चुन्ना मियां का ही मंदिर कहा जाता था। कुछ दोस्त और भी थे। रात को यहां नाटकों का अभ्यास (रिहर्सल) होता था। मुझे याद है कि माननीय चुन्ना मियां रिक्शे से ही आते थे। वह बड़े सादगी प्रिय और सरल हृदय आदमी थे। पैरों में टायर की चप्पल और सुरमई रंग का मामूली कुर्ता-पाजामा। एक उस्ताद जी हारमोनियम अच्छा बजाते थे। उसे पैरों से बजाया जाता था। इस तरह हर शाम संगीतमय संध्या जैसी हुआ करती थी। शारदा जी से हमारी चर्चा पुन: 'रामायण' की रचना पर आ टिकती है। हिन्दी के साथ ही उर्दू और फारसी के शब्दों से रची-बुनी इस काव्य-रचना ने जनता के मध्य लोकप्रियता के समस्त कीर्तिमान तोड़ दिए। उनकी अपनी लय (तर्ज) में यह रामकथा एक समय हिन्दी भाषी जनता के घर-घर और मन भीतर जा बसी थी। शारदा जी ने कहा कि बाबा ने 16-17वें वर्ष में 'रामायण' लिख ली थीं। 'कृष्णायन' भी उन्होंने 20-21 वर्ष की अवस्था में पूरा कर लिया था। इस काव्य में कृष्ण-कथा है जिसका पाठ पिछले लम्बे समय से जन्माष्टमी पर मेरे घर पर नियमित होता है। उनकी 'रामायण' की जनता के बीच लोकप्रियता का कारण क्या है? इस प्रश्न पर तनिक सोचते हुए वे कहती हैं- यह सब प्रभु की कृपा है। जनता का धार्मिक रुझान और हिन्दुओं में राम के आराधकों का अधिक संख्या में होना। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि 'रामायण' को पंडित जी ने आसान रूप में पेश किया। यह इसलिए भी जनप्रिय है कि यह हिन्दी, उर्दू, अवधी, ब्रज के प्रचलित सरल शब्दों के साथ-साथ गायन शैली में है। इसके बहुत प्रचलित और बहुप्रचारित होने का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि उन दिनों 'राधेश्याम रामायण' का पाठ होने लगा। इस 'रामायण' ने ही 'रामलीला' का मंचन शुरू किया। नाटकों के साथ महाकाव्य का समागम हुआ तो जनता भाव विभोर हो गई। बरेली के सुभाषनगर में रामलीला 67 वर्षों से लगातार इसी 'रामायण' पर आधारित मंचित की जा रही है। उसमें जो सज्जन हनुमान का पार्ट अदा करते हैं उन्हें

65 वर्ष हो गए। आज भी वे बाबा (पंडित जी) के साथ बिताया संग-साथ की मोहक और दुर्लभ स्मृतियां बताने में समर्थ हैं।

'राधेश्याम रामायण' की लोकप्रियता को नापते-जोखते हुए शारदा जी एक घटना और सुनाती हैं-रावलपिंडी में जब बाबा कथा कहने गए तो वहां 50 हजार जनता उपस्थित थी। बिना माइक के कथा हुई। बहुत शांत तथा एकाग्र भाव से भक्तों ने पूरे समय उसका श्रवण किया। महिलाएं अभिभूत हो गई कि उन्होंने अपने पहने हुए जेवर तक दान में चढ़ा दिए। सरल भाषा-शैली तथा अपनी गायन क्षमता के चलते यह 'रामायण' अन्य रामकथा ग्रंथों से बहुत भिन्न भी है। बाबा के जीवनकाल में ही इसकी सवा करोड़ प्रतियां छपी थीं। इससे ही आप उनकी जनप्रियता का अनुमान लगा सकते हैं कि वह पाठकों को बांध पाने में कितनी सक्षम और अद्‌भुत रचना है। करीब 30 या 40 लाख (अभी मुझे ठीक गिनती पता नहीं) प्रतियां तो उर्दू में भी थीं। शारदा जी बहुत उत्साह और गर्व से बताती हैं कि उनके एक मित्र जो लाहौर से लौटकर आए थे, उन्होंने कहा कि आज भी लाहौर की एक सड़क पर 'राधेश्याम कथावाचक मार्ग' का पत्थर लगा है।

यहां घर पर हॉल में नाटकों के रिहर्सल होते थे। 'महर्षि नारद' तथा 'परिवर्तन' नाटक तो मैंने भी देखे थे। उन दिनों नाटकों में हमारे बाबा के छोटे भाई पं. मदनमोहन लाल जी हारमोनियम बजाते थे। वह पैरों से बजाया जाता था जिसे पेटी कहा जाता था। यद्यपि बाबा ने 'रामायण' की रचना पहले की किन्तु उनके लेखन-कार्य से ज्यादा लम्बा उनका नाटक-काल है। उनका रुझान थियेटर की तरफ अधिक था। यहां नाटक होते तो घर की महिलाएं अलग बैठकर देखती थीं। बरेली के डी.ए.वी. इण्टर कॉलेज स्थित अनाथालय का प्रांगण, जो काफी विशाल है, में 'देवर्षि नारद' नाटक तीन दिन तक चला जिसमें इतनी भीड़ थी कि तिल रखने को जगह शेष न थी। धर्मक्षेत्र से जुड़े अनेक मनीषी भी इस घर में आतिथ्य पा चुके हैं। करपात्री जी महाराज उस समय हमारे घर में मौजूद थे जब मेरा जन्म हुआ और बाद तक रुके। मेरा नामकरण उन्होंने ही किया था। बाबा रामदास और नीम करौली बाबा भी यहां आते-जाते थे। बड़े बाग का मंदिर बाबा रामदास जी ने बनवाया था। वह बाबा के बाग 'विश्ववाटिका' में ठहरते थे।

अब मैं और कविता भारत पंडित जी के पौत्र काशीनाथ शर्मा जी के मकान के

निचले तल में हैं। दो-तीन अलमारियों में पंडित राधेश्याम जी की कुछेक पुस्तकें, डायरियां, पुराने रजिस्टरों पर पंडित जी की हस्तलिपि में दर्ज नाटकों की चंद पाण्डुलिपियां, 'रंग-प्रसंग' पत्रिका के कुछेक अंक, एक पत्रावली में पुराने अखबारों की कतरनें जिन्हें जोड़-पढ़कर पंडित जी के विविध जीवन प्रसंगों और उनके समय के नाट्य आंदोलन को समझने की दुर्लभ सामग्री मुहैया होती है। सामने दीवार पर पंडित जी का एक बड़ा चित्र और दायें-बायें उन्हें मिली प्रशस्तियों, अभिनंदन-पत्रों को शीशे में लगवाकर करीने से सजाया गया है। पंडित जी की बेंत पुरानी छड़ी भी यहां टंगी है। काशीनाथ जी बताते हैं कि 'बाबा-गुरु' की बहुत सी चीजें हमारे पास सुरक्षित नहीं हैं। उन्हें जुटाने का प्रयास कर रहा हूँ। जैसे, उनकी 'रामायण' की पुरानी प्रति भी उपलब्ध नहीं है। तलाश कर रहा हूँ उसे भी। 'रामायण' के घर के बाहर इमली के पेड़ के नीचे चबूतरे पर बैठकर लिखा करते थे। संगीतमय कथा बाबा गुरु स्वयं बजाते थे। साथ ही एक तबला वादक भी था जिसका नाम नारायण था। बाबा गुरु के तबले की बारीकियां उसे स्वयं बताई थीं। बाबा के सामने 'रामायण' की लाखों प्रतियां बिक चुकी थीं। बाबा गुरु को दूध पीने का शौक था। बरेली में अर्क नं. 4 बनाने वाले उनके कोई जो वैद्य थे, उन्होंने बाबा गुरु को सलाह दी थी कि आप श्यामा गाय का दूध पिया करें। तब एक श्यामा गाय भी पाले जाने वाले जानवरों में शामिल कर ली गई। बाबा गुरु के शयन-कक्ष में ही कंडे की आंच पर मिट्टी की हंडिया में दूध उबलता रहता था। वह शाम को खाने के बाद दूध पीते थे। संभवत: मोटी मलाई के कारण उन्हें डायविटीज हो गई। ...बाबा को 'बाबा गुरु' मैं इसलिए कहता हूँ कि उन्होंने ही हम दोनों सगे भाइयों तथा हमारे चचेरे भाइयों का यज्ञोपवीत संस्कार एक साथ किया था और उस समय हम चारों को उन्होंने 'गुरुमंत्र' भी दिया था। तब से वह हमारे लिए बाबा से 'बाबा गुरु' हो गए।

काशीनाथ जी को इसी पल अपने पिता (पं. घनश्याम शर्मा) की याद भी आई। वे किसी गंभीर बीमारी के चलते काल-कवलित हो गए। तब परिवार पर दु:खों का पहाड़ टूट पड़ा था। बोले वे-अपने ज्येष्ठ पुत्र के सदमे को बाबा गुरु बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे और इसीलिए वह गढ़मुक्तेश्वर गंगा घाट पर चले गए। 'राधेश्याम प्रेस' का काम मेरे पिता ही संभालते थे। गढ़ पर बाबा गुरु के अनेक चेले बन गए। वहां भी रामकथा होती थी। वहां रामबख्श नाम का एक नौकर था। वही सेवा करता था। हम

भी बाबा गुरु से मिलने पहुंचते थे। सब लोगों ने बाबा को समझाया कि अब बच्चों की परवरिश का दायित्व आप ही पर है, अत: इनके साथ रहिए। बाबा गुरु के शुभचिंतक दिल्ली के उनके मित्र लाला धूमीमल भी गढ़ में गंगाघाट पर उनसे मिलने जाते थे। सबके कहने-बुझाने पर बाबा गुरु बरेली आ गए। हमारी पढ़ाई उनके आशीर्वाद और मम्मी के सहयोग से आगे तक चली। 1963 में जब बाबा गुरु की मृत्यु हुई तो उस दिन मैं मुरादाबाद में था। खबर पाकर वे स्कूटर से ही कचला घाट दौड़े। अपने चाचा के साथ ही हम दोनों भाइयों ने भी अपने बाबा गुरु को अग्नि दी।

हम फिर पंडित जी की 'रामायण' की तरफ लौट आए। काशीनाथ जी बताते हैं कि उनकी 'रामायण' में भाव था, गायकी थी। बोले, सबसे पहली 'रामायण' उर्दू में थी। बाद में हिन्दी में लिखी जिसमें पूर्ववत तमाम उर्दू शब्द रहे, किन्तु अब जो रामायण उनके नाम पर आ रही है उसमें बहुत कुछ बदला हुआ है। मैंने बाबा गुरु के 'देवर्षि नारद' और 'परिवर्तन' नाटक देखे थे। घर पर ही हॉल में रिहर्सल होता था इनका। बाबा गुरु ही निर्देशित करते थे और देखते भी थे। बरेली के आर्यसमाज के अनाथालय / डीएवी कॉलेज में नाटक खेले जाते थे। नाटकों को महिलाएं भी देखती थीं, पर वे अलग बैठती थीं। हमारे घर की स्त्रियां भी रिहर्सल और नाटकों का मंचन देख सकती थी, पर दूर से ही। हॉल के चारों तरफ गैलरी थी वहां से देखती थीं। नाटकों का प्रचार माउथ पब्लिसिटी से होता था। न पेपर्स, न विज्ञापन। फिर भी अपार भीड़ जुटती थी। नाटक देखने के लिए कोई शुल्क नहीं होता था। मैंने नाटकों में कोई रोल नहीं किया। हां, एक बार प्राम्पटर नहीं आया। वह बीमार था। तब उसकी जगह पर मैंने पर्दे के पीछे कॉपी थामकर कलाकारों को संवाद संकेत करने का वैसा काम किया। पं. देवेन्द्र नाथ शर्मा जी ने 'महर्षि नारद' में नारद की अत्यंत जीवंत भूमिका का निवर्हन किया जो मुझे अभी तक याद है। बस, मेरा तो नाटकों से सिर्फ इतना ही रिश्ता रहा है। बरेली में मोतीलाल मेहरा जी हैं। उन्होंने 'परिवर्तन' नाटक में वेश्या का अद्‌भुत रोल किया था। इसके लिए बाबा गुरु ने फिदा हुसैन नरसी का टेस्ट लिया था, पर उनकी लम्बी कद-काठी के चलते रिजेक्ट कर दिया था। यहां एक राधेश्याम मेहरोत्रा भी हैं।

बाबा गुरु के संपर्क में अनेक लोग थे। उनके अभिन्न मित्र थे छैलबिहारी कपूर जो बरेली कॉरपोरेशन बैंक के चेयरमैन, लीडिंग एडवोकेट भी रहे। बिहारीपुर मुहल्ले

में बैंक ऑफ बड़ोदा के पास उनके नाम पर मार्ग भी है। वह रोज शाम को नियमपूर्वक साढ़े सात बजे तक हमारे घर आ जाते थे। वह प्रतिदिन बाबा के साथ ही भोजन किया करते थे, किन्तु खाना उनके घर से ही आता था। इस मामले में वह बाबा गुरु पर बोझ नहीं बनना चाहते थे। खाना उनका नौकर बुलाकी लेकर आता था। ऐसा शायद वे इसलिए भी करते रहे हों कि किसी ब्राह्मण के यहां खाना उचित नहीं माना हो उन्होंने। पर दोनों में बहुत अंतरंगता थी। घंटों घर-परिवार, दुनिया-जहान की बातें होती। यह जानने योग्य है कि बरेली के कॉरपोशन बैंक की स्थापना इन दोनों मित्रों ने ही की थी। बाबा गुरु डायरेक्टर थे। 'राधेश्याम प्रेस' से संबंधित कानूनी बिंदुओं को छैलबिहारी कपूर जी ही देखा करते थे। उनके देहान्त के बाद उनके बेटे गिरीश को चेयरमैन बनाया गया। बाबा गुरे के और भी मित्र थे जो संध्या को मिलने आते थे। उन सबकी सलाह पर कि आप तो इस शहर से बाहर भी कथा वाचन हेतु जाते-घूमते रहते हैं, अत: 'रामायण मण्डल' अस्तित्व में आया। हर वृहस्पतिवार को इसकी गोष्ठी होती थी जिसमें व्याख्यान, भजन, सत्संग कथा कही जाती थी। बाबा गुरु स्वयं भी जाते थे। इससे जुड़े सदस्यों के घरों पर तथा कभी किसी भक्त के आग्रह के उसके मकान पर ही आयोजन रहता था। बाबा गुरु के निधन के बाद अनेक वर्षों तक हमने और चाचा जी ने इस कार्य को जारी रखा। इसी तरह उन्होंन जन्माष्टमी पर घर पर 'कृष्णायन' के पाठ की परम्परा शुरू की जिसे चाचा बलराम शर्मा जी ने निभाया और हमारे परिवार में वह क्रम आज भी उसी श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा के साथ सम्पन्न हो रहा है।

'राधेश्याम प्रेस' का काम पहले बाबा गुरु स्वयं देखते थे। साथ ही हमारे पिता घनश्याम शर्मा जी को काफी काम सौंपा जा चुका था। पुस्तकालय का काम भी वही देखते थे। वह घर में ही था। बाबा गुरु ने करीब सवा सौ किताबें लिखीं। प्रिंटिंग तथा पब्लिशिंग का कार्य घनश्याम जी के जिम्मे था। 1947 में मेरे पिताजी को देहान्त हो जाने पर पं. रामनारायण पाठक प्रकाशक बनाए गए। यह हमारे अभिन्न मित्र थे। वह पुस्तकालय मैनेजर भी थे। उनके पुत्र विजय सुन्दर पाठक 'हिन्दुस्तान' अखबार में अच्छी सैलरी, अच्छी पोस्ट पर हैं।

काशीनाथ जी के मन में हैं कि वह पंडित राधेश्याम जी के लिए जितना करना चाहिए था, नहीं कर पाए। कहते हैं कि उनके नाम पर हमारा एक ट्रस्ट है जिसके द्वारा हम गरीब लड़कियों की शादी में खर्च करते हैं। ट्रस्ट किसी बाहरी सफलता पर निर्भर

नहीं है। अपनी आमदनी का एक निश्चित अंश इस ट्रस्ट में डाल देता उनके नाम पर प्रतिवर्ष संवत पर पंचाग भी छपवाता हूँ। एक बार उद्योगपति .... के चमन कोठी बरेली वाले अपने मित्र को फोन करके पूछा कि क्या राधेश्याम के यहां कोई है जो उनकी तर्ज पर 'रामायण' सुना सके? जब वह दिल्ली में गये तो हमने यहां से विष्णु नाम का एक ऐसा गायक भेजा। उन्होंने सुनकर टेप किया और हमें सलाह दी कि इस कथा को जीवित रखने के लिए कैसेट बनवाकर जन-जन में वितरित कर दो। जब कोई मुझसे पूछता है कि पं. राधेश्याम जी के लिए क्या कर रहे हो तो मन में ग्लानि से भर जाता है...

'देवर्षि नारद' के नारद पं. देवेन्द्र शर्मा के पास पंडित राधेश्याम जी की स्मृतियों का अनमोल खजाना है। वे बताते हैं कि बरेली के बिहारीपुर में राम जानकी मंदिर में जहां मैं पंडित जी की लिखी हुई 'रामायण' कह रहा था। काफी संख्या में भक्तजन थे। प्रसिद्ध रईस हृदयनारायण गोयल जी की कोठी भी बिहारीपुर में हैं। वहाँ भक्त भी रोज कथा में आते थे। उन्होंने पंडित जी से मेरी कथा की तारीफ की। उस समय राधेश्याम जी को सब 'बाबा' कहते थे। वे बड़ी प्रसन्नता से कथा सुनाने आए। विचित्र संयोग था कि उनकी ही कथा मैंने उनके समझ सुनाई। वह बहुत प्रभावित हुए। घर बुलाया। दूसरे दिन मिलने पर कहा-अच्छा बोलते हो। मेरे साथ बाहर चला करो। फिर वे दूसरे शहरों में भी ले गए। पंडित जी ने 'रामायण' के अलावा 'कृष्णायन' भी लिखी तथा 'रुक्मिणी मंगलकथा' और 'नरसी जी की हुण्डी' उनके भाई मदनमोहन जी ने लिखी थी। सबसे पहले उन्होंने अपने पिता जी के बिना कन्हैया टोला के राममंदिर में 12 साल की अवस्था में कथा की थी।

पंडित जी के पड़ोस में एक कायस्थ व्यक्ति थे जो चौबोला तथा बहरे तबील की तर्ज पर गीत लिखते थे। उन्होंने भी 'रामकथा' लिखी थी। 'सती सुलोचना', 'मेघनाद का शक्तिप्रयोग' आदि तीन-चार किताबें उन्होंने लिखीं। ये उर्दू-फारसी में थीं। राधेश्याम जी ने रामनारायण जी से उन शब्दों की हिन्दी कराई। वह व्यक्ति शायरी भी करते थे। उम्र में वह उनसे काफी बड़े थे। मुझे उनका नाम ठीक से याद नहीं आ रहा। कभी याद आएगा तो आपको फोन पर बात दूंगा। इसी तर्ज पर पाराशरी (बदायूं के) ने 'रामायण' लिखी, पर उनकी रामायण इतनी प्रसिद्ध नहीं हुई जितनी राधेश्याम जी की। 'लवकुश कांड' तथा 'सीता वनवास' मिलाकर चार किताबें पंडित जी के छोटे

भाई श्री मदनमोहन मालवीय ने भी लिखीं। जन्म से लेकर राजतिलक तक पंडित जी ने स्वयं कथा लिखी। इन सब कथाओं में ज्यादा पंडित जी (राधेश्याम जी) की 'रामायण' ने प्रसिद्धी पाई। पंडित जी को बड़ा आदर-मान मिला। जैसे ही वह स्टेशन पर उतरते थे (कथा करने जाते-आते समय) तो उनके जयकारो होते थे और तमाम फूल-मालाएं पहनाई जाती थीं।

हमने देवेन्द्र जी से पंडित जी के व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी बात की। बोले वे-उनके बड़े बेटे घनश्याम थे जो प्रेस देखते थे। पर उनकी असामयिक मृत्यु शुगर बढ़ जाने के कारण हो गई। इनके बाद पंडित बलराम जी प्रेस देखने व मूलतः एडवोकेट थे। पं. नाथूराम अग्निहोत्री 'नम्र' जी भी राधेश्याम प्रेस में गोपीनाथ शास्त्री, जो बजरिया मोतीलाल के थे, वह भी प्रेस में थे। ये लोग रीडिंग, संशोधन आदि कार्य करते थे। पंडित जी को अपने परिवार से बहुत लगाव था। एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पंडित राधेश्याम ग़ज़ल भी अच्छी तरह कहते थे। वे प्रायः अपने उन पड़ोसी कायस्थ सज्जन के साथ अपने लेखन की चर्चा करते थे। दोनों एक-दूसरे को अपना लिखा सुनाते थे। पंडित जी की एक ग़ज़ल देवेन्द्र जी ने सुनाई-

हमें हसरत तुम्हारी दिल्लगी अच्छी नहीं लगती,
कहीं पर्दा कहीं बेपर्दगी अच्छी नहीं लगती।
तरसता कोई बूंदों को, कहीं रहमत बरसती है,
तुम्हारी बेखुदी साकी कभी-कभी अच्छी नहीं लगती।
तुम्हारी शान-ए-हरजाई अगर यूं ही रही कायम,
तो बंदा भी कहेगा, बंदगी अच्छी नहीं लगती।
बहुत बाहर रहे हो अब तो घर में आओ राधेश्याम,
अरे ओ दो जहां वाले दुई अच्छी नहीं लगती।

पंडित जी की यह ग़ज़ल देवेन्द्र जी ने बहुत उत्साह से हमें सुनाई। नाटकों में काम करने की बात पर वे बोले-'ईश्वरभक्ति' नाटक हमने खेला। मेरा भी रोल था। 'जीवन यात्रा' में मैंने डॉक्टर का पार्ट किया और 'देवर्षि नारद' में तो मैंने ही नारद की मुख्य भूमिका की थी। देवेन्द्र जी के चेहरे पर अब रंगत आ गई थी। भाव-भंगिमाएं और मुद्राएं बता रही थीं जैसे वे उन्हीं पल लौट जा चुके हों... उस युग में नाटक पारसी शैली में होते थे जिनमें जोर से, तेज आवाज में गाकर भाव प्रकट किए जाते थे। उर्दू,

अरबी और फारसी शैली का बाहुल्य था। राधेश्याम जी का 'राधेश्याम नाटक समाज' था। किशनलाल इसके डायरेक्ट थे। वह नरीमन कम्पनी में सर्विस करते हुए रिटायर हुए। बाद में उन्होंने सीताराम कूचा में टाइप सिखाने वाली एक दुकान खोली। वह बड़े प्रसिद्ध शायर भी थे। नाटकों में भी रोल करते थे। नाटक समाज में लाला रामलक्ष्मण , जिनकी सीताराम कूचा में चक्की थी। उनका लोहे का बिजनेस था। वह नाटक के रिहर्सल पर खर्च करते थे। डॉ. खन्ना के पड़ोस में रीना मॉडल स्कूल के समीप स्थित कुमार तनय धर्मशाला में रिहर्सल हुआ करती थी। कुछ रिहर्सल पंडित जी के घर के बने हॉल में भी होती थी। साहूकारे के कृष्णमुरारी लाल अग्रवाल भी रिहर्सल करते थे। वे सफल व्यापारी थे। बाबू चन्द्रनारायण सक्सेना जी बालजती शहर के थे। एक कामयाब वकील होते हुए भी वे नाटक समाज से जुड़े थे। 'देवर्षि नारद' में शंकर भगवान की भूमिका में थे। यह नाटक पंडित जी ने ही लिखा था। पंडित जी का सबसे आखिरी नाटक 'जागरण' अप्रकाशित रहा। 'देवर्षि नारद' के लिए उन्होंने कई लोगों का टेस्ट लिया और मुझे चुन लिया। नाटकों में रोल के लिए कोई झगड़े नहीं होते थे। प्राय: च्वॉइस पर रोल मिल जाते थे अन्यथा डायरेक्टर भी फेर-बदल करते थे। राधेश्याम जी स्वयं भी रिहर्सल देखते थे। वह कलाकारों का सम्मान करने वाले व्यक्ति थे। जितने भी कलाकार बरेली आया करते, चाहे वह नाटक के हों या फ़िल्मी दुनिया के, सब पंडित जी के घर जरूर जाते थे। कुछ लोगों को मेरे घर भी लाए। मेरे घर वह तीसरे-चौथे दिन आ जाते थे। उन्होंने 'देवर्षि नारद' में जब मेरी एक्टिंग देखी तो बहुत खुश हुए। प्रदर्शन के बाद पर्दा गिरा तो उन्होंने मुझे बाहों में भर लिया। उनके स्नेह और आशीर्वाद का वह क्षण मेरे लिए अमूल्य और अविस्मरणीय हो गया। ...वे मुझे देखकर बहुत गद्‌गद् होते थे। उन्होंने धीरू भाई देसाई से बात की कि 'देवर्षि नारद' नाम से फ़िल्म बन नहीं पाई क्योंकि पंडित जी उन दिनों बीमार हो गए थे। यह नाटक बहुत पॉपुलर हुआ। धर्मदत्त वैद्य की कोठी पर हुआ, लाल कुआं तथा गोला गोकर्णनाथ में भी खेला गया। इस नाटक का पहला शो आर्यसमाज अनाथालय में हुआ। फ़िल्म इंडस्ट्री के बहुत से लोग पंडित जी के मित्र थे-पृथ्वीराज कपूर, कन्हैयालाल, रामानन्द सागर, सोहराब मोदी। पंडित जी स्वयं भी बम्बई काफी समय रहे। फ़िल्मी गीत भी लिखे, डायरेक्शन भी किया। 'झांसी की रानी' के गाने भी उन्होंने लिखे थे। पृथ्वीराज कूपर भी बरेली आते थे तो उनके साथ उनके पुत्र शम्मी कूपर,

शशि कपूर भी होते थे। हिन्द टाकीज में नाटक खेले जाते थे। मैंने भी उनके दो नाटक 'औलाद' और 'खोटा सिक्का' देखे। वे पारसी शैली के थे। पंडित जी के नाटकों में भी यही शैली होती थी। पृथ्वीराज कपूर पंडित जी के ही घर रुके थे।

नाटक मुफ्त देखे जाते थे। कोई टिकट नहीं होता था। पर डोनेशन लेकर नाटकों को खेलने का इंतजाम किया जाता था। बरेली के बहुत से अमीर पैसा देते थे। राधेश्याम जी को मान-सम्मान देने वालों की कमी न थी। हृदयनारायण गोयल जी ने कई बार पूरा-पूरा इंतजाम किया, सारा खर्चा खुद उठाया। रामलक्ष्मण जी भी बड़ी मदद करते थे। ड्रेस, फेस पाउडर आदि का प्रबंध कर देते थे। किराए पर ड्रेसेज, कास्ट्यम्स आदि आते थे जिनका किराया भी वह स्वयं ही देते थे। ऐसा समर्पण था कला के प्रति उनका। नाटक खेलने वाले आर्टिस्ट भी प्रोफेशनल नहीं थे। कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था। सब शौकिया कलाकार थे।

बरेली में साकिब जी का 'नवयुवक' चल रहा था। इसमें नाटक खेले जाते थे। राधेश्याम मेहरोत्रा, रामलक्ष्मण जी भी इसमें नाटक खेलते थे। 'राधेश्याम नाटक समाज' बाद को चला। 'नवयुवक' पहले का है। कुंवरपुर वालों का भी एक क्लब था। जैसी पालीवाल का भी क्लब आ गया तो पंडित जी के 'नाटक समाज' में सलाह-मशविरा मंत्रणा करते थे। करीब 5-6 नाटक मंडली या क्लब यहां एक साथ समानान्तर चल रहे थे। सब एक-दूसरे के नाटक देखते थे। टांग-खिंचाई का दौर नहीं था। चूंकि सब कुछ शौकिया तौर पर कला की दृष्टि से था, पैसा कमाना लक्ष्य नहीं था अत: कंपटीशन केवल कला के निखार का था। कलाकारों को प्रोत्साहित किया जाता था। पंडित जी का परिवार नाटक खेलने वालों को पदक, मेडल, प्रशस्ति-पत्र आदि देता था। मुझे भी कई पुरस्कार, सिल्वर मेडल मिले। आखिर उन्होंने मुझे 'नारद' बना ही दिया...

देवेन्द्र जी के इस कथन से अचानक हम पुन: उनके 'नारद' की ओर मुखातिब हो गए। हमने 'देवर्षि नारद' के बारे में बताने को कहा तो वे बोले-काफी अच्छी भूमिका थी, बहुत-से शेड्स थे। भक्ति, रोमांस, दिवा-स्वप्न! आभासी दुनिया, प्रेम, क्रोध, श्राप अर्थात बहुरंगी भूमिका थी मेरी। हमने देवेन्द्र जी से उस नाटक का कोई संवाद सुनना चाहा। वे उत्साह से बोलने लगे। हम आश्चर्यचकित थे उनकी

स्मरणशक्ति पर। वर्षों पुराना वह सम्पूर्ण नाटक आज भी ज्यों का त्यों उनके भी घुमड़ रहा था। अब हमारा प्रश्न था 'नारद' जी से कि इसके बाद कौन से नाटक खेले और अब क्या कर रहे हैं? उन्होंने बताया कि पंडित राधेश्याम जी की मृत्यु 1963 में हुई तो मैं बहुत दु:खी था। किन्तु 1964 में मेरी बैंक में नौकरी लग गई। अब पेंशनर हूँ। पिछले दिनों राधेश्याम कथावाचक शैली में 'श्रीमद्भागवत' लिखी है। इन दिनों सामाजिक-धार्मिक कार्यक्रमों से जुड़ा हूँ...

मुझे काशीनाथ जी के घर में पंडित राधेश्याम जी की संजो कर रखी गई चीजों में दो नाटक 'उद्धार' और 'आजादी' की पाण्डुलिपियां देखने को मिल गई जो अभी तक अप्रकाशित हैं। इसमें पहला नाटक तो उन लड़कियों-स्त्रियों के बारे में हैं जो विभाजन के समय सहरद पार गई थी। यह पूरी तरह उनके जीवन की पुनर्स्थापना से जुड़ा हुआ है। पर दूसरे नाटक में पडित जी का सर्वथा भिन्न व्यवस्था विरोधी रूप सामने आता है। यहां पंडित जी ज्यादा विचारसम्पन्न और निर्भीक रचनाकार के तौर पर खड़े दिखाई पड़ते हैं। यह मेरे लिए आश्चर्यजनक है। मुझे उनकी सभी चीजों को लेकर बड़ा काम करना है।

पंडित जी के नाटक एक तरह से पारसी और हिन्दी नाटकों की विकास-यात्रा भी है। उनके नाटक देश भर में मंचित और प्रशंसित हुए। उनके कथावाचक को नेपाल की 3 सरकार की ओर से 'कथावाचस्पति' की पदवी प्राप्त हुई। उन्हें 'कीर्तिकलानिधि', 'काव्यकलाभूषण', 'श्रीहरिकथा विशारद' और 'कविरत्न' की उपाधियाँ मिलीं। और उनकी गाई 'रामायण' तो उत्तर भारत में घर-घर पहुंची तथा व्यापक रूप से उसकी तर्ज पर गवैयों ने न जाने क्या-क्या रचा और गाया।

1922 में लाहौर में पंडित जी को विश्वधर्म सम्मेलन में आमंत्रित किया गया था। तब वहां मंगलाचार पंडित जी ने ही गाकर सम्मेलन का श्रीगणेश किया था। गुरु दलाई लामा ने बाबा को दुशाला, तलवार तथा वस्त्रादि भेंट में दिए। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन में जिस बारहवें अधिवेशन में नाटक तथा बायस्कोप कम्पनियों द्वारा हिन्दी प्रचार विषय पर अपना भाषण दिया वह भी संभवत: 1922 में लाहौर में आयोजित हुआ था। उनका यह व्याख्यान दस्तावेज, खण्ड एक, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली से 2007 में प्रकाशित हो चुका। बरेली के दिनों की

उनकी कुछेक छवियां उनकी आत्मरचना में भी दर्ज हैं। बरेली और पंडित राधेश्याम को अलग करके देखना किसी के संभव नहीं था। ये दोनों एक दूसरे में ऐसे गूंथे हुए हैं कि कोई 'राधेश्याम की बरेली' कहता है तो उनके जेहन में 'बरेली के राधेश्याम' अपने पूरे कद के साथ अभी तक जिन्दा हैं।

6-फेज-5 विस्तार
पवन विहार, पोस्ट- रूहेलखण्ड
विश्वविद्यालय बरेली (उ.प्र.)-243006
मो. : 9760875491

रंगमचं के भीष्म पितामह

हिन्दी नाटकों और रंगमंच के भीष्म पितामह पंडित राधेश्याम कथावाचक 25 नवम्बर, 1890 को पंडित राधेश्याम कथावाचक उड़िया भाषा के परमभक्तों में प्रमुख थे। पंडित राधेश्याम कथावाचक का यह आलेख श्री उड़िया बाबा विशेषांक : श्री हरिकथा पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। ध्यान रहे कथावाचक पर उड़िया बाबा की असीम कृपा थी। वे उनके प्रमुख भक्तों में गिने जाते थे। पत्रिका की तिथि ज्ञात नहीं। पत्रिका के लेख के अंत में 'विश्व हिन्दी दर्शन' पत्रिका का उल्लेख है। इसमें तिथि आदि का उल्लेख नहीं है। कथावाचक का एक आलेख पत्रिका पृष्ठ 100 पर प्रकाशन की सूचना है आलेख खोजने पर मुझे नहीं मिला। यह आलेख अविकल प्रस्तुत है-

बिहारीपुर कामरथी मोहल्ले के पंडित बांकेलाल के घर बरेली में जन्मे थे। नाना से मिले इस छोटे से मकान में उनका शैशव विहँसा था। हिन्दी और संस्कृत उन्होंने घर पर पढ़ी और उर्दू मकतब में पढ़ी। पिता की यह इच्छा थी कि बेटा हारमोनियम बजाकर शानदार ढंग से रुक्मिणी-मंगल की कथा कहे। आठ वर्ष की सुकुमार वय में राधेश्याम कथा कहना सीखने लगे। श्री राहत अली और पंडित लाल बहादुर उन्हें हारमोनियम सिखाते थे। कथा के बीच-बीच में आने वाले भजन मुख्यत: बालक को गाने होते थे, पिता उनकी व्याख्या करते जाते थे।

उन दिनों पारसी नाटक मण्डलियों की धूम थी। सबसे अधिक नाम था 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' का। हालत यह थी कि भिश्ती तक अपनी मशकें बेचकर उनके नाटक देखा करते थे। उस समय बिजली और गैस बत्तियाँ नहीं थीं, फिर भी चार आने से लेकर तीन रुपये तक के सभी दर्जे खचाखच भरे रहते थे, पैर रखने की जगह नहीं रहती थी। मशालों की रोशनी में दर्शक सुध-बुध भूलकर खेल देखा करते थे। बरेली की बीथियाँ चन्द्रावली, अलादीन और अलीबाबा के गीतों से गूँजती थी। यहाँ गायन-

वादन का प्रचलन बहुत था। राधेश्याम के मकान के पास पूरब में राजा चित्रकूट का महल था। बरेली आने वाली नाटक-मण्डलियाँ इसी में ठहरकर गानों और नाटकों को लेकर 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' के निदेशक के पास पहुँचे कि बेटा कम्पनी में रहकर अभिनय कला सीखे, मगर मौसेरी बहन रुक्मिणी देवी को यह बात बहुत नागवार लगी। उन्होंने कहा कि यह क्या अनर्थ कर रहे हो? इसे कथा बांचनेवाला बनाओ, नाटक का ऐक्टर नहीं। बात आई-गई हो गई।

बालक राधेश्याम को स्वाध्याय का शौक लग चुका था। महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, देवकी नन्दन खत्री, गोपाल गहमरी, माधव राव, लल्ला राम मेहता, शिवव्रत लाल वर्मन आदि की रचनाओं का उन्होंने आस्वादन किया। मासिक पत्रों में सरस्वती, कमला, देवनागर, जासूस, जमाना आदि साप्ताहिकों में हिन्दी बंगवाणी, आनन्द हिन्दी केसरी, वेंकटेश्वर-समाचार, अभ्युदय आदि और दैनिकों में भारत मित्र उनके अध्ययन की मेज पर रहते थे। बारह वर्ष की आयु से बीस वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने रामायण के पचीसों भाग पूरे कर डाले। मनमोहक तर्ज, बोलचाल की सरल भाषा और प्रवाह के कारण रामायण रातोंरात लोकप्रियता के शिखर छूने लगी।

एक बार किसी मुकदमें में पंडित मोतीलाल नेहरू बरेली आये। स्वरूपरानी उन दिनों बीमार थी। उन्होंने रामस्वरूप खत्री वकील से कहा कि डॉ. ने पत्नी के मनोरंजन के लिए कहा है। ऐसे कथा वाचक की जरूरत है जो सरीले कंठ से मानस-गान कर सके। खत्रीजी ने राधेश्याम का नाम लिया। पिता-पुत्र आनन्द-भवन जा पहुँचे। नन्ही बीवी विजयलक्ष्मी उनके गाने 'अपार तेरी माया' को बेहद पसन्द करती थी। कथा के बाद उनके आग्रह पर यह गाना प्रायः रोज गाना पड़ता था। आनन्द भवन में राधेश्याम एक महीना रहे। पंडित जवाहरलाल नेहरू भी तब वहीं थे।

उनकी कथा पेशावर से कलकत्ता और नेपाल से कन्याकुमारी तक जनता का कंठहार बन गई। नवल प्रेम सभा ने लक्ष्मी नारायण धर्मशाला (दिल्ली) में एक उत्सव किया। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, कविरत्न अखिलानन्द जैसे धुरन्धर सनातन-धर्मी नेता पधारे हुए थे। मंच पर जैसे ही किसी वक्ता को बुलाया जाता, लोग तालियों की गड़गड़ाहट के साथ एक ही पुरजोर पेशकश करते थे कि कथावाचकजी

को मंच पर बुलाइए। आखिरकार राधेश्यामजी स्वयं मंच पर आये और हाथ जोड़कर जनता से विनती की कि 'यदि मुझसे प्रेम है तो आमंत्रित विद्वानों का आदर करना सीखें। रही मेरी कथा की बात सो आप को वचन देता हूँ कि पच्चीस दिन तक पूरी रामायण सुनाकर ही बरेली वापस जाऊँगा।' तब कहीं जाकर लोग शान्त हुए। एक दूसरा प्रसंग अलवर का है। सनातनधर्म सभा का आयोजन था, जिसके सभापति थे गोवर्धनपीठ के शंकराचार्य और दीनदयालु शर्मा, गिरिधर शर्मा जैसे मूर्धन्य व्याख्यान वाचस्पतियों के प्रवचन होने थे। राधेश्यामजी को मंगलाचरण के लिए दस मिनट का समय मिला। पंडितजी ने 'निसिचरहीन करउँ महि, भुज उठाय पल कीन्ह' वाला प्रसंग उठाया। अलवर नरेश की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। दस मिनट पूरे होने पर महाराज उठे और प्रसंग पूरा करने के लिए आधा घण्टा और दिया। उसके बाद अर्थात् 6 से 8 बजे तक उस दिन केवल उनकी कथा हुई, सभा की कार्यवाही अगले दिन से की गई। विदा लेने राधेश्यामजी जब महाराज के पास पहुँचे तो ऊपर से महारानी का संदेश आया कि 'कल महलों में कथा होगी।'

उन दिनों न्यू अल्फ्रेड कम्पनी की खूबसूरत बला की धूम थी। उसने इन्हें परोक्ष रीति से नाटक लेखन के क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। उनका कहना था कि 'नाटक देखकर मुझे यह ख्याल भी आया कि ये नाटक वाले भारतेन्दु के भारत दुर्दशा और नील देवी जैसे नाटक क्यों नहीं लिखते?' फिर यह भी ख्याल आया कि ये नाटक शायद तीन अंकों के नहीं है, छोटे हैं इसीलिए नहीं खेले जाते। वास्तव में तो आगे चलकर मैंने समझा कि शुद्ध हिन्दी के नाटक खेलने का रिवाज ही उस समय पेशेवर कम्पनियों में नहीं था। वास्तव में खूबसूरत बला नाटक देखकर ही मुझे उत्कंठा हो गई इस दरिया में कूदूंगा। हिन्दी-प्रेम तो मेरा बढ़ ही रहा था। हिन्दी के नाटक का तूँबा छाती के नीचे रखकर इस दरिया में तैरने का मंसूबा बाँध रहा था।

1911 या 1912 की बात है। दरभंगा-नरेश, शिव प्रसाद गुप्त और दीनदयालु शर्मा के साथ महामना मदनमोहन मालवीय हिन्दू विश्वविद्यालय हेतु धन-संग्रह करने बरेली पधारे। उनकी शोभा-यात्रा यहाँ के इतिहास में अद्वितीय थी। सभा में कथावाचकजी ने गाया-

हिलमिल करो जाति उद्धार भाइयो, समय न यारम्यार
कोटिपती दें लक्ष-लक्ष, लखपती हजार-हजार

मध्यम श्रेणी देय सैंकड़ों, निर्धन दे दो चार
हमें दो पैसे भी स्वीकार।

पंडित जी ने 8-10 गीत बेचे। उससे कई हजार रुपये आये, जिसे उन्होंने विश्वविद्यालय को दे दिया। उन्होंने सद्य: विरचित नाटक वीर अभिमन्यु का एक दृश्य मालवीयजी को सुनाया, जिस पर प्रसन्न होकर महामना ने उन्हें आशीर्वाद दिया। रामेश्वरम् हो या बंगलौर, कलकत्ता हो या और कोई शहर, हर जगह वीर अभिमन्यु के मंचन की धूम मच गई। इसके गीत लोगों की जीभ पर थिरकने लगे।

'सूरविजय नाटक-समाज' ने कथावाचक लिखित श्रवण कुमार का मंचन किया, जिसके दर्शकों में न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के हिन्दी प्रेमी निदेशक सोराबजी भी थे। सूर विजय पहले से चल रहा था, बालकृष्ण नाटक लिखकर उन्होंने उसी समाज को दिया। उन्हीं दिनों उषा अनिरुद्ध, प्रह्लाद आदि नाटक भी आपने लिखे। प्रह्लाद की मालवीयजी ने स्वयं दोबारा देखा, गणेश की लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि दिल्ली में इसका मंचन अनवरत नौ दिन तक हुआ। श्रीकृष्णावतार को गिरिधर शर्मा चलता फिरता सनातनधर्म मंडल करते थे और माधव शुक्ल, बाबूराव पराड़कर, कृष्णकान्त मालवीय, मुंशी प्रेमचन्द आदि ने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। ईश्वर-भक्ति नाटक का उद्घाटन करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू आधे घंटे के लिए आये थे, लेकिन अपने पार्षदों के साथ रात के दो बजे तक जमे रहे। माताजी का स्वर्गवास हो गया। पुत्र का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। मन में उद्विग्नता रहती थी, अत: न्यु अल्फ्रेड से विदा ले ली।

मैंडेन थियेटर्स के डाइरेक्टर के आग्रह पर पंडितजी ने शकुन्तला नाटक लिखा। महर्षि वाल्मीकि के संबंध में बंगला पत्र वसुमती ने लिखा कि 'यही पहला आध्यात्मिक नाटक है और इतना अच्छा है कि शायद अन्तिम हो।' कलकत्ता को हिन्दी नाट्य परिषद ने मतवाला के सम्पादक बाबू नवजादिक लाल श्रीवास्तव के सभापतित्व में आयोजन कर पंडितजी को अभिनन्दन-पत्र समर्पित किया। इस आयोजन में गांगेय नरोत्तम शास्त्री, निराला जी, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, लक्ष्मी नारायण गर्दे आदि विद्वज्जन सम्मिलित हुए।

1936 से 1940 तक का राधेश्यामजी का अधिकांश समय अहमदाबाद के सन्त स्वामी नित्यानन्दजी महाराज की सेवा में बीता। उड़ियाभाषा, बाबा रामदास, स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती और करपात्रीजी महाराज के सत्संगों में उनका रुझान बढ़ गया। उन्होंने मालवीय जी से दीक्षा ग्रहण की।

इस बीच सती पार्वती का मंचन सफलतापूर्वक हुआ। रामचरित के फ़िल्मीकरण का प्रयास हुआ, लेकिन स्वयं की अस्वस्थता, पुत्र के देहान्त, पत्नी की नेत्र ज्योति की क्षीणता और देहावसान ने उन्हें सब ओर से तटस्थ कर दिया।

पंडित राधेश्याम कथावाचक राष्ट्रवादी, संस्कृति-प्रवण और समन्वयवादी थे। सनातनधर्म और आर्यसमाज के बीच की कड़ी। बहुत पहले वे एक आर्यसमाज के बीच की कड़ी। बहुत पहले से वे एक साहित्यिक पत्र भ्रमर का सम्पादन करते थे। 1962-63 में उन्होंने एकता नाम से मासिक पत्र भी निकाला।

चीन ने निर्लज्जतापूर्वक भारत पर आक्रमण किया और बहुत बड़े भूखण्ड पर अधिकार कर लिया। कथावाचक जी ने बरेली के प्रसिद्ध मोती पार्क में सनातनधर्म के जगद्‌गुरु राघवाचार्य और आर्य समाज के शास्त्रार्थ महारथी बिहारी लाल शास्त्री के साथ एक मंच से युवा शक्ति का आह्वान किया कि 'वे सारे मतभेद भुलाकर राष्ट्र पर आई विषम आपदा का सामना करे और देश की एक-एक इंच भूमि को शत्रु से मुक्त कराएँ।'

साथी और मित्र धीरे-धीरे विदा ले रहे थे। धर्मपत्नी का देहावसान हो चुका था, पुत्र भी दिवंगत हो गया था। यश और वैभव का खेल उन्होंने खूब देख लिया था। अब उसमें उन्हें कोई रंग नहीं रहा था। 26 अगस्त 1963 को कथावाचक जी ने लौकिक जीवन यात्रा पूरी कर संसार से विदा ले ली। आज भी बरेली का नाम आने पर जिज्ञासावश पूछते हैं कि वह पंडित राधेश्याम कथावाचक वाली बरेली?

(विश्व हिन्दी दर्शन : दिल्ली)

डॉ. नितिन सेठी

पंडित राधेश्याम कथावाचक पारसी थियेटर से हिन्दुस्तानी रंगमंच तक

न जाने कितने ही भावों की लहरों को मानव अपने मन के सागर में बनने-बिगड़ने देता है। कहीं कहीं कोई ऐसा भी भाव आ जाता है, जिसको रोक पाना मानव के लिए आसान नहीं होता। यही भाव कला का रूप लेकर समाने आते हैं। इन भावों को जब कागज-कलम का साथ मिलता है, तो साहित्य की सर्जना होती है। ये भाव जब शब्दों के रूप में आते हैं तब इन्हें श्रव्य काव्य का नाम दिया जाता है। जब इनमें किसी अनुकृति या हावभाव को जोड़ दिया जाता है, तब ये दृश्य काव्य कहलाते हैं। नाटक दृश्य काव्य है। जनता इसे अपनी आँखों से देखती-समझती है। इसका अस्तित्व दृश्यों पर टिका है। भारतवर्ष में अनेक ललित कलाओं के साथ-साथ रंगमंच की भी पर्याप्त पूछ रही है। रंगमंच अपने जन्म के समय से ही जनता के सुख-दुःख की सरल-सहज-सरस अभिव्यक्ति माना जाता है। संस्कृत भाषा के काल में तो इसे अनेक नामों से रचा गया। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के रूप में नाटक का विस्तृत विवेचन किया। धनंजय ने 'दशरूपक' में इसके रूपक, उपरूपक जैसे महत्वपूर्ण भेद किये। रूपक के दस भेदों में से पहला भेद 'नाटक' ही कहा गया। संस्कृत-पाली-अपभ्रंश के अनेक नाटककारों ने नाटक को अपने सृजन से समृद्धि प्रदान की और इसके स्वरूप में भी उत्तरोत्तर विकास का मार्ग प्रशस्त किया। समय के प्रवाह के साथ रंगमंच और नाटक की भाषा-शैली में भी अपेक्षित परिवर्तन हुए हैं। अठारहवीं सदी आते-आते नाटक पर ब्रजभाषा का संस्कार आया। 'आनंद रघुनंदन' जैसे नाटकों को ब्रजभाषा में ही रचा गया। तत्कालीन कालखंड में नाटक और रंगमंच का सर्वाधिक उद्धार और उपकार भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने किया। अपने मौलिक-अनूदित कुल सत्रह नाटकों से उन्होंने रंगमंच को एक नवीन ही रूप प्रदान किया। काशी में नेशनल थियेटर की स्थापना से वहाँ भारतेन्दु और उनके मंडल के अनेक रंगमंचीय नाटकों का

प्रस्तुतीकरण हुआ। हास्य, शृंगार, कौतुक, समाज-संस्कार और देशवत्सलता जैसी प्रवृत्तियों से नाटक की विषयवस्तु को और समृद्ध किया गया। हिन्दी नाट्यशास्त्र के भवन की नींव भारतेन्दु ने ही रखी, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। संस्कृत नाट्यशास्त्र से उन्होंने प्रेरणा और प्रभाव के तत्व ग्रहण किए। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनेक गुणों को भी उन्होंने सिद्धांतों में जोड़ा। तत्कालीन रंगमंच को स्थापित करने के लिए भारतेन्दु ने 'नाटक' नाम से एक स्वतंत्र ग्रंथ का ही प्रणयन कर दिया था। इसी क्रम में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, पंडित बालकृष्ण भट्ट, बाबू राधाकृष्ण दास जैसे नाटककारों ने रंगमंच के स्वरूप, प्रयोजन, तत्व, शैली के बारे में भी अनेक नवीन उद्‌भावनाएं कीं। इन सबसे खड़ी बोली में नाटक और रंगमंच का स्वरूप निर्धारण पर्याप्त स्थिरता से हो सका। हिन्दी में अपने नाट्यशास्त्रीय तत्वों को पाकर रंगमंच को मानो नया जीवन ही मिल गया। भारतेन्दु के साथ-साथ ही उस समय एक और शैली भी चलती रही थी, जिसे हम लोग पारसी थियेटर के नाम से जानते हैं। परन्तु वास्तव में इसे पारसी नाटक मंडली के नाम से पुकारा जाए तो अधिक उचित होगा। एक और जहाँ भारतेन्दु युग में भारतेन्दु और उनके मंडल के अन्य साहित्यकार नाटक को साहित्यिक और परिष्कृत रूप प्रदान करने का बीड़ा उठाए थे, वहीं दूसरी ओर पारसी थियेटर नाटक मंडली व्यवसायिक रूप से रंगमंच का उपयोग कर रही थी।

पारसी थियेटर के क्षेत्र में सबसे पहला प्रयास हुआ सन 1870 में जब 'ओरिजनल थिएट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की गई। सेठ पिस्टनजी फ्रॉमजी इसके मालिक थे। इसके बाद 'विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी' 'अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी', 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' जैसे संस्थान भी अस्तित्व में आए। पारसी रंगमंच की ये कम्पनियाँ भरपूर व्यवसायिक थी और जनता का मनोरंजन कर पैसा कमाना ही इनका एकमात्र उद्देश्य था। 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' के मालिक मोहम्मद अली 'नाखुदा' और सोहराब जी थे। सोहराब जी स्वयं प्रसिद्ध हास-परिहास के अभिनेता थे तथा कम्पनी में मैनेजिंग डायरेक्टर भी थे।[1] इसी कम्पनी में नारायणप्रसाद 'बेताब' के बाद आगा मोहम्मद हश्र 'कश्मीरी' और पंडित राधेश्याम कथावाचक का सम्बंध मुख्य रूप से नानक चंद खत्री की 'न्यू अल्बर्ट' माणिक जी जीवन जी मास्टर की 'न्यू अल्फ्रेड' लाला विशंभर सहाय व्याकुल की 'व्याकुल भारत' और श्री दुर्लभजी रावल

तथा श्री लव जी त्रिवेदी की 'सूरविजय' से था। उल्लेखनीय है कि ये सभी पारसी रंगमंच की पूर्णतया व्यवसायिक नाटक कम्पनियाँ थीं।[2]

पंडित राधेश्याम जी जिस समय नाटक लेखन के क्षेत्र में आए, तब अधिकांश नाटक कम्पनियों के केवल दो ही उद्देश्य थे-अर्थोपार्जन और मनोरंजन। इसके लिए उन कम्पनियों ने अपने-अपने ढंग से इंतजाम भी कर रखे थे। एक बार एक हिन्दी के विद्वान ने पारसी कम्पनी के मालिक से उनके नाटकों की आलोचना करते हुए कुछ सुधार करने की चर्चा की थी। उस पर उन्हें उत्तर मिला, ''हम यहां रुपया पैसा पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज सुधार का ठेका हमने नहीं ले रखा। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वहीं करेंगे।''[3] इन सब बातों से पता चलता है कि तत्कालीन पारसी थियेटर किसी भी कलात्मक या सांस्कृतिक परिदृश्य को अपने साथ लेकर नहीं चला था। भारतीय भूभाग की सांस्कृतिक चेतना भी उसके सामने अनुपयोगी थी। अजीब तरह के भौंडे चरित्रांकन, ऊटपटांग संवाद अदायगी, स्तरहीन चुटकुलेबाजी तथा छेड़छाड़ से भरे दृश्यों और उसी तरीके के गाने, बस यही सब मिलकर तत्कालीन पारसी थियेटर का रंग रूप निर्धारित करते थे। इसमें उनकी कोई गलती भी नहीं थी, क्योंकि जनता की पसंद भी यहीं तक सीमित रह गई थी। अधिकांश नाटकों के नाम भी उर्दू के होते थे। नाटकों की भाषा व संवादों में भी उर्दू शब्दावली का ही प्रचलन था।

कुल मिलाकर साहित्यिकता और कलात्मकता से कोसों दूर ये पारसी नाटक ही जनता के सर्वविध मनोरंजन के साधन थे। पंडित राधेश्याम जी ने अपने आरंभिक दौर में 'पारसी रिपन थिएट्रिकल कम्पनी' का प्रसिद्ध नाटक देखा था। इसमें मेहर जी नसरवन जी ने कुशल अभिनय किया था। नाटक था 'खून का खून' जो शेक्सपियर के 'हैलमेट' का अनूदित रूप था। इस सम्बंध में पंडित जी लिखते हैं, ''इनके नाटक देख-देख कर बार-बार मुझे यह ख्याल भी आया कि ये नाटक वाले भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' जैसे नाटक क्यों नहीं खेलते। फिर यह भी ख्याल आया कि वे नाटक शायद तीन अंकों के नहीं हैं, छोटे हैं; इसलिए नहीं खेले जाते। वास्तव में तो आगे चलकर मैंने समझा कि शुद्ध हिन्दी के नाटक खेलने का रिवाज ही उस समय पेशेवर नाटक कम्पनियों में नहीं था। हिन्दी के ऐसे नाटक तो क्लबों की ही चीज रहे।''[4]

आगे चलकर पंजाब के बाबू नानक चंद खत्री ने सन 1910-11 में अपनी कम्पनी के रामायण नाटक का संशोधन पंडित जी से करवाया। खत्री जी न्यू अल्बर्ट कम्पनी के मालिक थे। पंडित जी के हाथ लगते ही रामायण नाटक में आमूलचूल परिवर्तन हो गए। अपने कथानक, चरित्रांकन और दृश्यांकन में यह नाटक दर्शकों पर पर्याप्त प्रभाव छोड़ने में सफल रहा। जिसका कारण खुश होकर नानक चंद जी ने रुपए 380 का पेरिस रीडों का हारमोनियम पंडित जी को भेंट किया था। पंडित जी तत्कालीन पारसी थियेटर के नाटक और रचना विधान को देखकर बहुत व्यथित थे। उनके मन में हमेशा यह विचार रहता था कि अभी बहुत कुछ आवश्यकता है, वर्तमान पारसी थियेटर में परिवर्तन की। बस यहीं से पारसी थियेटर का एक दूसरा रूप सामने आता है। यहाँ हम पारसी थियेटर को भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे देखते हैं, जिसमें भारतीयता के साथ-साथ हिन्दी का भी बहुत बड़ा उद्धार हुआ। यह राधेश्याम जी का मौलिक चिंतन ही कहा जाएगा कि उन्होंने अपने पारिवारिक संस्कारों को अपने रंगमंचीय जीवन से लाकर संयोजित कर दिया, जिस कारण पारसी रंगमंच का एक उत्कृष्ट रूप हमारे सामने आया। उस समय पारसी रंगमंच के जितने भी नाटक लेखक उभर रहे थे, वे अपने उपनाम 'बेकल', 'बेताब', 'जोहर', 'हसरत' इस प्रकार के रखते थे। नाटकों की प्रचलित भाषा भी उर्दू ही थी। पंडित जी ने जब अपना नाटक 'वीर अभिमन्यु' लिखा तो उसे हिन्दी में लिखा और अपना उपनाम भी 'कथावाचक' रखा। यह कदम भविष्य में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। आगे चलकर पंडित जी ने कुल सत्रह नाटक व एकांकी लिखे; जिनमें 'वीर अभिमन्यु', 'परिवर्तन', 'श्रवण कुमार', 'ईश्वर-भक्ति', 'उषा-अनिरुद्ध', 'कृष्ण-सुदामा' आदि प्रसिद्ध हैं।

पंडित जी ने 'मेरा नाटक काल' नामक पुस्तक की भी रचना की थी जिसमें उन्होंने अपनी 'न्यू अल्फ्रेड नाटक कम्पनी' से सम्बंध होने से लेकर अपने जीवन के आत्मकथात्मक प्रसंगों को रखा है। 'न्यू अल्बर्ट कम्पनी' के प्रभाव के बारे में राधेश्याम लिखते हैं, "वाक्यों की स्वाभाविकता पर जोर, झटकों के साथ-साथ स्पष्ट उच्चारणों में सोराबजी मुझे पूर्ण ही जंचते थे। मानो वे अपने सेंटेंसेस दर्शकों के कानों में इस प्रकार डालते थे, जैसे श्रावण में किसी बाग के भीतर शीतलमंद पवन हमें झकोरों द्वारा स्वत: ही आनंद देती है। मैंने उनके शब्दोच्चारण को शिष्यवत माना।"[5] पंडित जी ने यूं तो नाट्यसिद्धांतों का कोई अलग से ग्रंथ तैयार नहीं किया परन्तु उनके

अनेक नाटकों में नाट्यविषयक संकेत और भूमिकाएं मिलती हैं, जिनसे उनकी नाटक सम्बंधी मान्यताओं का विस्तार से पता चलता है। पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाटक काल में पारसी रंगमंच के नाटकों के दीवाने दर्शकों में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए-''पहला धार्मिक नाटकों के प्रति रुचि की निरंतर अभिवृद्धि और दूसरा अधिक से अधिक रोमांचकारी, साहसयुक्त अथवा चमत्कार पूर्ण दृश्यों को देखने का उत्साह।''[6]

राधेश्याम जी की दृष्टि में नाटककार का उद्देश्य था आनंद एवं लोकमंगल की भावना की सृष्टि होना। वीर अभिमन्यु नाटक में नटी के शब्द हैं, ''ऐसे समय में हमको किसी श्रेष्ठ नाटक के खेलने का विचार करना चाहिए। मनोरंजन के साथ ही साथ अपने देश और अपने समाज का भी कुछ उपकार करना चाहिए। अश्लील नाटकों ने नाटक के मुख्य तत्व को नष्ट कर दिया है, दर्शकों के विनोद स्थान को पथभ्रष्ट कर दिया है। जब कभी समयानुसार मनुष्य के आचरण में कुछ दोष आता है तो नाटक द्वारा भी कुछ अंशों में लोक सुधारा जाता है क्योंकि जो प्रभाव व्याख्यान से नहीं पड़ता, गान से नहीं पड़ता, वह अभिनय द्वारा पड़ जाता है।''[7] मेरा नाटक काल में भी पंडित राधेश्याम जी लिखते हैं, ''अश्लीलता न आने पाए और मनोरंजन कायम रहे। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक होते हुए ऐसा हो, जिससे जनता को कुछ शिक्षा प्राप्त हो। सामाजिक दोषों को चुन-चुन कर स्टेज पर लाना और जनता को उन दोषों से वाकिफ़ कराना नाटक लेखक का बड़ा कर्त्तव्य है।''[8] इसी प्रकार श्रवण कुमार नाटक के निवेदन में भी उनके यही भाव हैं, ''कथानक चाहे ऐतिहासिक हो या काल्पनिक। नाटक के मंच पर उसकी सृष्टि इसीलिए है कि उसके द्वारा समाज को कुछ शिक्षा प्राप्त हो।''[9]

पंडित राधेश्याम ने कथानक को नाटक का महत्वपूर्ण तत्व माना है। इस सम्बंध में उनका विचार है, ''नाटक लेखन में सोचना बहुत पड़ता है, लिखना कम। पहले तो कथानक ही बनाने में बहुत डूबना पड़ता है। कथानक का महान होना ही कथाकार की प्रथम सफलता है।''[10] पंडित राधेश्याम भाषा को सम्प्रेषण का मुख्य माध्यम मानते हुए लिखते हैं, ''भाषा चमकदार होते हुए भी सरल इतनी हो कि पात्र के मुख से वाक्य निकलते ही जनता उसे समझ ले। संवाद ही नाटक की सफलता की बड़ी कुंजी कहलाते हैं।''[11] भारतेन्दु युग के साहित्यकार जहां अपने नाटकों में गीतों का कम

प्रयोग करते थे, वहीं पारसी रंगमंच के लिए गीतों का प्रयोग अनिवार्य था, क्योंकि पारसी रंगमंच व्यवसायिक था। इसीलिए जनता को कुछ ऐसा देना उनकी मजबूरी भी था। राधेश्याम लिखते हैं, ''तब मैंने यह अनुभव किया कि दर्शक गानों से ज्यादा आकर्षित होते हैं। यदि गाने भी उनके मन और मस्तिष्क में बैठ जाएं तो वे बार-बार उस नाटक को देखने आते हैं।''[12] पंडित राधेश्याम कथावाचक को रंगमंच की योजना का भी विशेष ज्ञान था क्योंकि वे अनेक वर्षों तक पारसी नाटक कम्पनियों के लिए नियमित रूप से नाटक लेखन और निर्देशन करते रहे थे। अत: व्यवहारगत कठिनाइयों को वे भली-भांति समझते थे। तभी वे लिखते हैं, ''थियेटर कम्पनियों के चलने-चलाने की बात बहुत ही कठिन कार्य है। स्टेज का उचित प्रबंध, एक्टरों की मिजाज़दानी, अच्छे नाटक लिख-लिखकर स्टेज करने कराने के अतिरिक्त बाहर का प्रबंध भी बड़ा खास काम है। पब्लिसिटी ठीक हो, सामान की निगरानी ठीक रहे, आग लगने की बात से पहरेदार सचेत रहें, टिकट बिक्री के घर में गबन न हो, गेट पर खड़े रहने वाले कर्मचारी बेईमान न हों, मैनेजर ऐसा न हो जो दर्शकों से रुपए लेकर अपनी जेब में डाले और उन्हें क्लासों में सिर्फ जुबानी हुक्म दे-देकर बिठाला करें आदि आदि।''[13]

राधेश्याम जी प्रगतिशीलता के पोषक थे परन्तु व्यवसायिक कम्पनियों से जुड़े होने के कारण कुछ रूढ़ियों को उन्हें न चाहते हुए भी बांधे रखना पड़ा था। प्रेमचंद से हुए एक वार्तालाप में पंडित जी लिखते हैं, ''ईश्वर भक्ति देखकर जहां वे (प्रेमचंद) अत्यंत आनंदित हुए, वहीं यह भी कहा, ''चमत्कार इसमें क्यों लिखे हैं। मैंने कहा, ''जनता अभी वैसी नहीं बनी है, जैसे तुम हो या तुम्हारे ख्याल के और थोड़े से दर्शक हैं। यह व्यवसायिक कम्पनी का नाटक है। फेल हो जाए तो कम्पनी ही फेल हो जाए। नब्बे फ़ीसदी पैसा हमें उसी जनता से मिलता है, जो चमत्कार पर ही पागल होकर तालियाँ बजाती है।[14]

तत्कालीन पारसी नाटक कम्पनियों में पात्रों के प्रस्तुतीकरण पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता था। किसी वीर मनुष्य का रोल बहुत सामान्य से व्यक्ति को दे देना प्रचलन में था। पंडित राधेश्याम सुझाव देते हुए लिखते हैं, ''पार्ट की नेचर और एक्टर की नेचर मिलाकर पार्ट बांटना चाहिए। पार्ट के अनुसार कद-रूप-उच्चारण भी देखना चाहिए। पर नाटक कम्पनियों के मालिकों या डायरेक्टरों में यह अंधापन प्राय:

रहता है कि वह अपने प्यारों को आगे बढ़ाने के लिए वे बड़े से बड़ा पार्ट उन्हें दे देते या दिला देते हैं; चाहे वे उस पार्ट के योग्य हो या न हो।[15] पंडित राधेश्याम 'रामायण' और 'कृष्णायन' जैसे ग्रंथों के रचयिता थे। इसीलिए उनके मन में अपनी संस्कृति के प्रति एक गर्व था। वीर अभिमन्यु नाटक के आरम्भिक शब्द हैं, ''पात्रों को समझा देना कि हाव-भाव में और उच्चारण में हिन्दी और उर्दू जाति की प्रतिष्ठा का ध्यान रहे।''[16] कृष्णावतार में भी नदी और नट का संवाद इस सम्बंध में उल्लेखनीय है-

नटी - तब तो नाटक की भाषा भी ब्रजभाषा ही रखी जाएगी।

नट : जी तो यही चाहता है परन्तु दर्शकों पर अपने भावों का प्रभाव डालने के लिए हमें वही भाषा काम में लानी पड़ेगी, जो इस समय बोलचाल की भाषा है। कारण कि नाटक पाठ्यकाव्य नहीं, श्रव्य और दृश्यकाव्य कहलाता है।[17] सन 1910 से 1935 के बीच पारसी थियेटर में हिन्दी और हिन्दू के भाव स्पष्ट रूप से आने लगे, जो हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान का समन्वय स्थापित करते थे। पूरे माध्यम का संस्कृत में बदलाव यहाँ रेखांकित करने योग्य है। धीरे-धीरे हिन्दी मंच की स्वाभाविक पसंद बनती जा रही थी। इससे आगे चलकर देशकाल की सारी सीमाएं पार की। साथ ही साथ, हिन्दू अध्यात्म, दर्शन और प्रतीकों का प्रचार-प्रसार भी उस समय खूब बढ़ गया था। वीर अभिमन्यु और इसी प्रकार के अन्य नाटक, पुरुषोचित वीर रस से आप्लावित हिन्दुत्व का प्रचार-प्रसार करने लगे, जो खड़ी बोली हिन्दी की भावना से परिपूर्ण थे। स्त्रियोचित उर्दू को इसने धीरे-धीरे पीछे छोड़ दिया। श्रृंगार रस तो शारीरिक सुख से बढ़कर दैवीय प्रतीक बन गया था। इसी के साथ वीरत्व की भावनाओं का भी इसमें समावेश हो गया। देश की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार पंडित जी ने अनेक बातों के समन्वय अपने नाटकों में किए। ये ही तत्व हिन्दुस्तानी नाटक का आधार बनें।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में देश सुधार और समाज परिवर्तन की जो भावना उद्वेलित की, उनका असर पारसी रंगमंच पर भी निश्चित रूप से हुआ था। देखा जाए तो पारसी थियेटर को पारसी रंगमंच का रूप देने में पंडित राधेश्याम का बहुत बड़ा योगदान है। राधेश्याम के सुधारोन्मुखी नाटक एक प्रकार से नवजागरण के भाव लेकर आए। व्यवसायिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियां जब धार्मिक और साहित्यिक

प्रवृत्तियों से मिलीं, तो एक चमत्कारपूर्ण पारसी रंगमंच का अवतरण हुआ, जिसे एकमात्र सूत्रधार पंडित राधेश्याम कथावाचक कहे जा सकते हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में, ''यह संगम भारतीय जीवन के उस लम्बे गहन चरण में संभव भी था, जब एक ओर हम क्रमशः सीधे पश्चिम के सम्पर्क में आ रहे थे और दूसरी ओर जब हमने राष्ट्रीय चेतना, प्राचीन इतिहास-पुराण के गौरव की भावना तीव्र हो रही थी। धर्मनिष्ठ हिन्दू जनता को, जो आर्य समाज और अन्य सुधारवादी आंदोलनों के कारण घर से बाहर आई थी; अपने गौरवपूर्ण चरित्र और महान आख्यान देखना भाता था। कोलकाता, मुंबई, अहमदाबाद, दिल्ली, कानपुर आदि नगरों में जहां गाँवों-कस्बों से मजदूर मिस्त्री और बाबू लोग आए थे, उनके मनोरंजन के लिए कुछ ऐसी नई चीज की जरूरत थी जो अलौकिक श्रृंगारिक भी हो, साथ ही साथ मन बहलाने वाली या उपदेश देने वाली भी।''[18]

पंडित राधेश्याम कथावाचक ने पारसी थियेटर को हिन्दुस्तानी या भारतीय रंगमंच का रूप प्रदान करने में पर्याप्त अध्ययन, चिंतन और परिश्रम किये। पारसी थियेटर से उसकी रंगमंचीयता, रंग-साधनों का उपयोग, गीत-योजना आदि उन्होंने लिए। भारतेन्दु से उनकी सामाजिक और राष्ट्रीयता की भावना के साथ पुनरुत्थान का दृढ़ संकल्प लिया। साथ ही साथ अपने पारिवारिक संस्कारों से पौराणिकता का आश्रय लिया। इन सब बातों को मिलाकर उन्होंने पारसी रंगमंच से हिन्दुस्तानी रंगमंच तक का विस्तृत वैभवशाली वितान स्थापित किया। नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों को आत्मसात करते हुए और उन्हें अपने नाटकों के युगानुकूल बनाते हुए पंडित राधेश्याम कथावाचक ने अपने सृजन और निर्देशन से स्वयं को अमर कर लिया। तत्कालीन कालखंड में व्यवसायिक रंग मंडलियों में हिन्दी का प्रयोग करके उन्होंने हिन्दी को भी प्रतिष्ठित किया। हिन्दी की प्रतिष्ठा में राधेश्याम जी का यह योगदान तो अत्यंत उल्लेखनीय कहा जाएगा। पंडित राधेश्याम कथावाचक का नाट्यचिंतन, नाट्यशिल्प, नाट्यमंचन और नाट्यभाषा अपने अनेक आयामों में रंगमंच को उपकृत करते हैं। पारसी थियेटर को भारतीयता के चंदन संस्कारों से अभिरोपित कर, उसकी सुवास को जन-जन तक पहुँचाने में कथावाचक जी के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। आज का नाटक कथावाचक के हिन्दुस्तानी रंगमंच की विशेषताओं का संवाहक है।

संदर्भ सूची

1. लक्ष्मीनारायण लाल
2. अशोक उपाध्याय नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक पृष्ठ 46
3. श्री कृष्ण दास हमारी नाट्य परम्परा पृष्ठ 40
4. डॉ. अशोक उपाध्याय नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक प्रेशर 58
5. पंडित राधेश्याम कथावाचक मेरा नाटक काल पृष्ठ 43
6. डॉ. अशोक उपाध्याय नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक वेस्ट 62
7. पंडित राधेश्याम कथावाचक वीर अभिमन्यु पृष्ठ 2
8. वही मेरा नाटक काल पृष्ठ 303, 304
9. वही श्रवण कुमार पृष्ठ क
10. मेरा नाटक काल पृष्ठ 303
11. वही पृष्ठ 304
12. साहित्य संदेश जुलाई-अगस्त 1955 पृष्ठ 99
13. मेरा नाटक काल पृष्ठ 155,
14. वही पृष्ठ 172
15. वही पृष्ठ 55, 56
16. वीर अभिमन्यु पृष्ठ 5
17. कृष्णावतार पृष्ठ 3, 4
18. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल पारसी नाटक का रचना विधान, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच पृष्ठ 65

सी-231, शाहदाना कॉलोनी, बरेली (उ.प्र.)
मो. : +91-9027422306

रणजीत पांचाले

पं. राधेश्याम कथावाचक और फ़िल्मी दुनिया

पंजाब की 'न्यू अल्बर्ट' नाटक कम्पनी 1910 में नाटक खेलने बरेली आई थी। पंडित राधेश्याम कथावाचक नाट्य-जगत से तभी जुड़ गए थे। उस समय कथावाचक जी ने इस कम्पनी के 'रामायण नाटक' की न केवल पटकथा और गीतों में संशोधन किया था, बल्कि उसका निर्देशन भी किया था। इसके पूर्व कथावाचक जी ने कई नाटक देखकर उनके विभिन्न पक्षों को बारीकी से समझा था। पारसी नाटक कम्पनी 'न्यू अल्फ्रेड' द्वारा 1916 में उनके नाटक 'वीर अभिमन्यु' के प्रथम बार मंचन के बाद से उन्होंने एक के बाद एक कई सफलताएँ अर्जित की। उन्होंने अनेक नाटक लिखे और वे सभी रंगमंच पर बेहद सफल हुए। बाद में कथावाचक जी लगभग पाँच साल (1925-1930) तक 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी में निर्देशक भी रहे। कई कलाकारों को अभिनय सिखाया। कम लोगों को यह बात पता है कि वे एक अच्छे नाटक लेखक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट अभिनेता भी थे। कथावाचक जी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में अपने अभिनय के बारे में एक दिलचस्प वाकया लिखा है। लखनऊ में एक बार उनका 'परिवर्तन' नाटक खेला जा रहा था। 'शम्भु दादा' की भूमिका करने वाले कलाकार 'नन्द किशोर' ने कहीं अपने कुछ साथ ऐक्टरों से कहा दिया कि पंडितजी सिखाते जरूर अच्छा हैं, पर स्टेज पर भी अभिनय करके दिखाएं तो हम जानें। बात कथावाचक जी के कानों तक पहुँच गयी। उन्होंने चुनौती को स्वीकारते हुए एक दिन 'शम्भु दादा' का पार्ट स्वयं किया। दर्शकों और कलाकारों ने तालियों की गड़गड़ाहटों से उनके अभिनय का स्वागत किया। नाटक जब समाप्त हुआ तो कम्पनी के मालिकों में से एक फ्रामरोज करंजिया कथावाचक जी से लिपट गए और बोले- ''नाटक संसार की यही मेरी सर्वश्रेष्ठ रात है और यही शायद अंतिम। अब ऐसा आनंद कभी न मिलेगा।'' 11 फरवरी 1930 को कथावाचक जी ने 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी छोड़ दी।

इस कम्पनी से सम्वंध समाप्त कर लेने के पश्चात 1931 में कथावाचक जी कोलकाता (तब कलकत्ता) में बड़े बाजार के पास पुराने डाकखाने की बड़ी बिल्डिंग में रामायण की कथा कहने गए। उनकी कथा को सुनने बड़ी संख्या में लोग आते थे। उनके श्रोताओं में मैडन थिएटर के भी कुछ ऐक्टर होते थे।

लगभग छह महीने पहले भारत की पहली बोलती फ़िल्म 'आलम आरा' एक नया इतिहास बना चुकी थी। यह सवाक फ़िल्म पारसी थियेटर की शैली में ही बनी थी। और पंडित जी की पारसी थियेटर की एक महान हस्ती के रूप में पूरे देश में ख्याति फैल चुकी थी। यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि दिल्ली के संगम थियेटर में 1916 में पंडित जी के जिस नाटक 'वीर अभिमन्यु' का प्रथम बार मंचन हुआ था उसमें अर्जुन की भूमिका यह यहूदी कलाकार 'एलिजर' ने की थी। यही 'एलिजर' देश की पहली बोलती फ़िल्म 'आलम आरा' में बादशाह बने थे।

पंडित जी के नाटकों में कलाकार रह चुके मास्टर निसार भी उस समय कोलकाता में थे और अपने सिने क्षेत्र में अभिनय के कारण काफी शोहरत हासिल कर चुके थे। उन्होंने 'आलम आरा' के बाद बनी बोलती फ़िल्म 'शीरीं फ़रहाद' में फ़रहाद की भूमिका निभाई थी। इस फ़िल्म ने भारत में धूम मचा दी थी और मास्टर निसार फ़िल्म जगत के एक बड़े स्टार बन गए थे। इसी फ़िल्म में शीरीं बनी 'जहांआरा कज्जन' की लोकप्रियता शिखर छू रही थी। उन्हीं दिनों कोलकाता के भवनानी ने 'शकुंतला' फ़िल्म बनानी शुरू की। मैडन थियेटर्स (जिसे आगे चलकर फ़िल्म इतिहास की पुस्तकों में मदान थियेटर्स लिखा गया) के मैनेजिंग डायरेक्टर जे.जे. मदान (पूरा नाम 'जहांगीर जी मदान', उन्हें लोग जहांगीर जी सेठ भी कहते थे) ने अपनी कम्पनी की 'शकुंतला' फ़िल्म पहले बनाकर रिलीज करने की ठान ली। इससे पहले वे 'शीरीं फ़रहाद' बनाकर असाधाररण सफलता प्राप्त कर ही चुके थे।

पंडित राधेश्याम कथावाचक जी से जे.जे. मदान ने 'शकुंतला' फ़िल्म के संवाद और गीत लिखने का अनुरोध किया जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। कोलकाता के टालीगंज में फ़िल्म स्टूडियो बनकर तैयार हो चुका था। मास्टर निसार और कज्जन की लोकप्रिय जोड़ी जे.जे. मदान के पास ही थी। कथावाचक जी ने इस फ़िल्म के लिए तेजी से लिखना शुरू कर दिया।

यहाँ ऊपर जिन फ़िल्म अभिनेता 'मास्टर निसार' का जिक्र आया है, उनके पं. राधेश्याम कथावाचक जी से काफी पुराने सम्बंध थे। कथावाचक जी की उनसे पहली भेंट बरेली में ही 1910 में तब हुई थी जब 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी 'रामायण नाटक' खेलने आई थी। निसार नाटक में 'सीता' की भूमिका करते थे। तब नाटकों में पुरुष ही स्त्रियों की भूमिका किया करते थे। निसार के पास बेहतरीन आवाज थी, बहुत सुरीले थे, गले की मुर्कियाँ और उनका शुद्ध उच्चारण दर्शकों को आकर्षित करता था। 'अरे रावण तू धमकी दिखाता किसे' गीत मास्टर निसार की आवाज के कारण लोगों की जुबान पर चढ़ गया था। यही मास्टर निसार 1915 में 'न्यू अल्फ्रेड' नाटक कम्पनी में आ गए थे। और 4 फरवरी 1916 को प्रथम बार दिल्ली के संगम थियेटर में पं. राधेश्याम कथावाचक के नाटक 'वीर अभिमन्यु' के मंचन से रंगमंच पर हिन्दी के शुभारंभ से जो एक नया इतिहास रचा गया, उस ऐतिहासिक घटना के भागीदार मास्टर निसार भी थे जिन्होंने उस नाटक में 'उत्तरा' की भूमिका की थी।

'शकुंतला' फ़िल्म जल्दी बनाई जानी थी। इसलिए कथावाचक जी जितना रात को लिख लेते थे उतने की शूटिंग अगले दिन हो जाती थी। पारसी थियेटर का पूरा प्रभाव इस फ़िल्म पर था। अधिकांश कहानी गीतों के द्वारा कही जानी थी। जे.जे. मदान ज्यादा से ज्यादा गाने इसलिए भी रखना चाहते थे क्योंकि उनकी पिछली फ़िल्म 'शीरीं फ़रहाद' उन 17 गानों के कारण हिट हुई थी जिन्हें आगा हश्र कश्मीरी ने लिखा था। कथावाचक जी सुबह से शाम 5 बजे तक स्टूडियो में ही रहते थे। इसलिए अपने निवास स्थान से टालीगंज तक ट्राम में आते-जाते भी वे गीत लिखा करते थे।

कथावाचक जी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में इस प्रकार मार्ग में ही गीत लिखने का उल्लेख करते हुए लिखा है: एक शाम को 'धर्मतल्ला' के चौराहे पर ट्राम से मैं उतर पड़ा-वहाँ लॉन (घास का मैदान) भी है। सोचा था वहीं बैठ कर एक गीत पूरा करूँगा। पर गीत के बोल तो ट्राम में ही बनने लगे थे। ट्रेन से उतरते ही सड़क पर ही जेब से पेंसिल कागज निकालकर खड़े-खड़े उस गीत की एक लाइन लिखने लगा। उसी क्षण न लिखता-तो वह दिमाग से गायब हो सकती थी। गानों की लाइनें लिखना-सिर पर एक 'भूत' सा सवार कर लेना है, जो एक-एक क्षण बेचैन ही रखता है-जब तक गाना पूरा न हो जाए। उसी समय टालीगंज से मोटर में 'कज्जन' (फ़िल्म की अभिनेत्री जहाँआरा कज्जन) के साथ उसकी माँ आईं। मुझे वहाँ खड़ा

देखकर हैरान हो गई, मोटर रोक दी। कहा-''घर जाएंगे? आइए-मोटर पर, अभी पहुँच जाएंगे।'' मैंने कहा-नहीं! अभी घर नहीं जाऊँगा, आप जाइए।'' कज्जन ने मेरे हाथ में कागज पेंसिल देखकर कहा-''यहाँ खड़े-खड़े कर क्या रहे हैं?'' मैंने कहा-''तुम्हारे ही लिए गीत लिख रहा हूँ।'' उसने फिर कहा-''यहाँ? चौराहे पर? इतनी भीड़ में?'' मैं बोला-''इसका जवाब समय का अभाव है और लगन है।'' इसके बाद उनकी मोटर चली गई।

कथावाचक जी स्वयं भी चाहते थे कि 'शकुंतला' फ़िल्म का शीघ्र निमार्ण हो जाए। इसके लिए वे फ़िल्म के संगीतकार 'ब्रजलाल' के साथ बैठकर जल्दी उनकी तर्जें बनवा लेते थे। और फिर ब्रजलाल कज्जन तथा निसार के घर जाकर उनकी मिजाजदानी कर करके तर्जें बैठाते थे। इस फ़िल्म के निर्देशक जे.जे. मदान ही थे। लेकिन यह बात अल्पज्ञात है कि पं. राधेश्याम कथावाचक ने फ़िल्म के अधिकांश दृश्यों को निर्देशित किया था। पीछे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कथावाचक जी प्रतिष्ठित नाटक कम्पनी 'न्यू अल्फ्रेड' में 5 वर्षों तक निर्देशक भी रहे थे। जे.जे. मदान ने उनके निर्देशन के अनुभव का इस फ़िल्म में पूरा लाभ उठाया। 'मेरा नाटक काल' में कथावाचक जी ने लिखा है-जहांगीर सेठ ने दो-तीन दिन मेरे साथ काम करके एक और भार मेरे ऊपर डाल दिया-वे बड़े कामकाजी थे। समय का बहुत ही अभाव था। जरा देर को स्टूडियो में आकर चल देते थे-मुझसे यह कहकर-''मुझे एक बड़ा काम है, आप यह सीन 'शूट' करा दें।'' मुझे जिसने ज़िन्दगी में पहली बार ऐसी मशीन का मुँह देखा-जो गाने उगलती थी भला क्या अनुभव था उसका? कैमरामैन 'राजहंस' और साउंड इंजीनियर 'मारकोनी' मेरे बाजू या सहारे थे। या वह 'गोरी मेम' थी-जिसके हाथ में 'सिनारियो' की वह किताब रहती थी-जिसे मेरे साथ बैठकर जहाँगीर जी लिखवा देते थे-इतना भाग 'लांग शर्ट' में इतना 'क्लोज-अप' में आदि आदि।

कोलकाता तब हिन्दी फ़िल्म उद्योग का केन्द्र था। सुप्रसिद्ध गायक कुन्दन लाल सहगल और नरगिस की माँ जिद्दन बाई (महिला संगीतकार) अक्सर पं. राधेश्याम कथावाचक से मिलने स्टूडियो में आ जाया करते थे। जिद्दन बाई के बारे में कथावाचक जी ने 'मेरा नाटक काल' में लिखा है-जिद्दन बाई तो संगीत की इतनी

अधिक प्रेमिनी थीं कि उन्हीं दिनों एक रात को-कलकत्ता रेडियो में मेरी रामायण के 'केवट संवाद' की कथा का-मेरे ही मुख से ब्रॉडकास्ट का जब प्रोग्राम था तो वह वहीं 'रेडियो स्टूडियो' में पहुँच गई। बाद में उसने मुझसे कहा-''रेडियो में आवाज तो घर पर भी सुन सकती थी पर कथा कहते समय आप कितने तल्लीन होते हैं। उसका अवलोकन करना था, गायक का यह भी बड़ा आवश्यक अंग है।'' इसी तरह कालान्तर में बम्बई में गोल्डमेहर कम्पनी में उसके मैनेजर ने मुझसे मेरा एक गाना-'निर्बल के प्राण पुकार रहे' गवाकर शूट किया तो उसे सुनने भी जिद्दन बाई (नरगिस सहित) आई थीं। यद्यपि वह गाना व्यर्थ गया। वह पिक्चर ही नहीं निकली। वह कम्पनी ही नहीं चली।

'शुकंतला' फ़िल्म हिट रही। इसमें कथावाचक जी का नाम 'राधेश्याम बरेलवी' दिया गया। उनके लिखे हुए गाने बहुत लोकप्रिय हुए। 'आए सखी री फागुन के दिन, फूली है कैसी ये बगिया आज', 'हाय गंवा दी अपनी दौलत-अपनी ही नादानी में' जैसे गीत बहुत लोकप्रिय हुए। कोलकाता से प्रकाशित प्रतिष्ठित पत्रिका 'हिन्दू पंच' ने फ़िल्म की समीक्षा करते हुए लिखा-''इस सप्ताह में मैडन थियेटर लि. द्वारा परिचालित कर्नवालिस थियेटर के रंगमंच पर भारत के यशस्वी कवि और कुशल नाटककार पं. राधेश्याम कथावाचक द्वारा प्रस्तुत किया हुआ शकुंतला नामक नाटक का टाफी फ़िल्म के रूप में प्रदर्शन हो रहा है। थियेटर हाल दर्शकों से खचाखच भरा रहता है। नाटकीय क्षेत्र में राधेश्याम जी का अनुभव इतना विस्तृत है कि वे अपनी कृतियों में चुम्बक का आकर्षण तथा जादू का असर डाल देते हैं। उनकी वर्तमान कृति में भी हमें इस जौहर का परिचय मिलता है। उन्होंने प्लाट का क्रम बड़ी योग्यता से निवाहा है। कथा में प्रेम का प्राधान्य होते हुए भी उन्होंने अश्लीलता को कहीं फटकने नहीं दिया है। फ़िल्म के गाने बहुत ही मनमोहक तथा मधुर है। कहीं-कहीं तो मनोहरता की पराकाष्ठा कर दी गई है। एक नमूना देखिए-शकुंतला के विरह में दुष्यन्त कहते हैं, 'नीर बिन मेघ जैसे, गंध बिन फूल जैसे; कण्ठ बिन गान जैसे, सिद्धी बिन सन्त है। दान बिन धनी जैसे, सत्य बिन मित्र जैसे, शील बिन नारि जैसे, नेह बिन कन्त है। जल बिन मीन जैसे, मणि बिन सर्प जैसे, तैसे आज दीन हीन व्याकुल दुष्यन्त है।' टाकी के पात्रों ने भी अपना काम बड़ी योग्यता के साथ अदा किया है। यह फ़िल्म निश्चय ही मैडन थियेटर लि. के सभी फ़िल्मों से सुन्दर तथा आकर्षक है। इसकी

सफलता के लिए मैडन थियेटर के संचालक महोदय तथा कथावाचक जी निःसंदेह हमारी बधाई के पात्र हैं।''

पंडित राधेश्याम कथावाचक ने इसके बाद 1933 में 'श्रीसत्यनारायण' फ़िल्म की पटकथा और गीत लिखे। लीला चिटनिस इस फ़िल्म की नायिका थी। मूहूर्त सुप्रसिद्ध फ़िल्म डायरेक्टर वी. शांताराम ने किया था जिनसे पंडित जी के सम्बंध बाद में कायम रहे। इस फ़िल्म के निर्माण के दौरान ही टाइम्स ऑफ इंडिया के वीकली पत्र 'इलस्ट्रेटेड वीकली' ने मुख्य पृष्ठ पर पं. राधेश्याम कथावाचक का यह लिखते हुए एक बड़ा चित्र प्रकाशित किया कि वे फ़िल्म 'श्री सत्यनारायण' बनवा रहे हैं। फ़िल्म के प्रदर्शित होने पर कथावाचक जी द्वारा लिखित संवादों को जनता ने काफी पसंद किया। उनकी यह फ़िल्म भी सफल रही।

मुम्बई में रहते हुए दो-तीन बार कथावाचक जी की भेंट 'बॉम्बे टाकीज स्टूडियो' के संस्थापक हिमांशु राय से हुई। वे चाहते थे कि कथावाचक जी बॉम्बे टाकीज फ़िल्म कम्पनी से बतौर लेखक जुड़ जाएं। यह कथावाचक जी के लिए एक सुनहरा अवसर था। यदि वे उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लेते तो सिने दुनिया में एक महान फ़िल्मकार के रूप में अपनी छाप छोड़ते, जैसी कि उन्होंने नाट्य-जगत में छोड़ी थी। पर 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी में उनकी जो शान थी, वैसी शान शायद बॉम्बे टाकीज में न रहे, यही सोचकर उन्होंने ऐसी शर्तें रख दी जो हिमांशु राय को स्वीकारना कठिन था। कथावाचक जी ने उनसे बड़ी रकम की मांग भी इसीलिए की थी क्योंकि वह फ़िल्मी दुनिया में रहने के विशेष इच्छुक नहीं थे। इस लाइन में स्त्री-पुरुषों के अनैतिक आचरण के कारण भी वे इससे जल्दी दूर चले जाना चाहते थे। फलतः वे बरेली लौट आए और सामाजिक-धार्मिक कार्यों में रम गए। देश के विभिन्न भागों में कथावाचन के माध्यम से श्रेष्ठ जीवन मूल्यों के प्रचार में जुट गए।

लेकिन नियति अभी भी उन्हें फ़िल्म संसार की ओर खींच रही थी। उनके द्वारा लिखित कथा पर एक और फ़िल्म 'उषा हरण' 1940 बनी। इसमें अभिनेता मुबारक और अभिनेत्रियाँ सुल्ताना तथा सितारा देवी थीं।

रांची में 1945 में 'श्रीराम और भरत' के सम्बंध में उनका एक बड़ा व्याख्यान हुआ। इससे वहाँ के एक व्यवसायी राधा बाबू (राधाकृष्ण बुधिया) इतने अधिक

प्रभावित हुए कि उन्होंने 'रामायण की कथा' पर फ़िल्म सीरीज निकालने का कथावाचक जी से आग्रह किया। पहले तो पंडित जी तैयार नहीं हुए पर अपने साथी चन्द्रनारायण सक्सेना के बहुत समझाने तथा राधा बाबू के बारम्बार आग्रह पर पंडित जी मान गए। पहला भाग 'राम जन्म' निकलवाने के लिए राधेश्याम जी मुम्बई पहुँच गए। उनके ज्येष्ठ पुत्र घनश्याम भी साथ थे।

सबसे पहले वे सुप्रसिद्ध रंगकर्मी और फ़िल्म अभिनेता पृथ्वीराज कपूर से मिले। उन्होंने इस फ़िल्म में अभिनय करने की सहर्ष स्वीकृति दे दी और अपने पुत्र राज कपूर से भी कथावाचक जी को मिलवाया। राधा बाबू के साथ चर्चा में पंडित जी फ़िल्म पर लगभग डेढ़ लाख रुपया खर्च होने का अनुमान लगाया था। लेकिन मुम्बई आकर पता लगा कि 5 से 15 लाख रुपये तक खर्च होंगे। इस सिलसिले में कथावाचक जी की मुलाकात प्रसिद्ध फ़िल्म निर्देशक, पटकथा लेखक व गीतकार केदारनाथ शर्मा से भी हुई। केदार शर्मा 'चित्रलेखा' (1941) जैसी सुपरहिट फ़िल्म दे चुके थे। उनसे बातचीत में पता लगा कि फ़िल्म पर पाँच लाख रुपये के आसपास खर्च आएगा जो उस जमाने में एक बड़ी रकम थी।

कथावाचक जी ऐतिहासिक फ़िल्मों के मशहूर अभिनेता चन्द्रमोहन से भी मिले। वे योजना जानकर बहुत खुश हुए। अपने डील-डौल और बड़ी आँखों के कारण उन्होंने कथावाचक जी की फ़िल्म में 'रावण' की भूमिका निभाने की स्वीकृति दे दी। इतना ही नहीं, अपना पारिश्रमिक भी फ़िल्म रिलीज हो जाने के बाद ही लेने का वादा भी कर दिया। वे चाहते थे कि कथावाचक जी योजना मूर्त रूप ले, इसलिए उन्होंने चन्दूलाल शाह के स्टूडियो में अपने प्रभाव से कम व्यय में ही फ़िल्म निकलवा देने की बात कही। इस सबके बाद भी न्यूनतम 4 लाख रुपये की आवश्यकता थी। कथावाचक जी ने राधा बाबू को सारी बातें लिख दीं। उन्होंने पंडित जी को सलाह दी कि एक बार कोलकाता में और संभावनाएं तलाशी जाएं। शायद वहाँ कम व्यय में फ़िल्म का निर्माण हो जाए। परन्तु अपने पुत्र घनश्याम के लम्बे समय तक रुग्ण रहने के कारण पंडित जी अप्रेल 1947 में ही कोलकाता जा पाए।

फ़िल्म निर्माण और कोलकाता में 'भारत लक्ष्मी स्टूडियो' के संस्थापक बाबूलाल चोखाणी से अपनी फ़िल्म के बारे में कथावाचक जी ने विस्तार से विचार-

विमर्श किया। चोखाणी 'अलीबाबा' और 'अवतार' जैसी फ़िल्में बना चुके थे जो बहुत सफल रही थीं। कथावाचक जी की फ़िल्म पर व्यय का उनका अनुमान भी पाँच लाख रुपये का था। उन्होंने फ़िल्म के निर्देशन के लिए 'रामेश्वर शर्मा' का नाम सुझाया। जब कथावाचक जी शर्मा जी से मिले तो अपनी फ़िल्म के डायरेक्शन के लिए वे ही उन्हें सर्वाधिक उपयुक्त लगे। रामेश्वर शर्मा की फ़िल्म 'तपस्या' देखकर कथावाचक जी उनकी निर्देशन कला से बहुत प्रभावित हुए। वे इतने अधिक विश्वसनीय हो गए कि कथावाचक जी ने उन्हें संवाद सहित अपनी फ़िल्म की पूरी स्टोरी सुना दी। रामेश्वर शर्मा ने बहुत किफ़ायती बजट बनाया जो तीन लाख रुपये का था। डायरेक्टर और बजट निश्चित हो जाने के बाद कथावाचक जी ने इसके विषय में राधा बाबू को सूचना दे दी।

बरेली आकर कथावाचक जी फ़िल्म की तैयारियों में जुटे ही थे कि उनके पुत्र घनश्याम फिर सख्त बीमार पड़ गए। फ़िल्म संबंधी कार्य बंद कर दिया गया। तीन अक्टूबर 1947 को घनश्याम का निधन हो गया। पंडित जी के लिए यह एक बहुत बड़ा आघात था। कुछ समय बाद उन्हें सूचना मिली कि डायरेक्टर रामेश्वर शर्मा का भी स्वर्गवास हो गया है। और उसी वर्ष इस फ़िल्म के निर्माता राधा बाबू भी परलोक सिधार गए। इसी के साथ पंडित जी फ़िल्म निर्माण की योजना भी समाप्त हो गई। इस दिशा में प्रयासों का एक सकारात्मक परिणाम यह अवश्य हुआ कि कथावाचक जी के फ़िल्म जगत की कई बड़ी हस्तियों से व्यक्तिगत सम्बंध स्थापित हो गए। कुछ समय पश्चात पुत्र वियोग में कथावाचक जी की पत्नी लगभग अंधी हो गई। स्वयं पंडित जी को अपने घर में रहना मुश्किल लगने लगा। पुत्र वियोग भुलाने के लिए वे पुनः मुम्बई चले गए।

पारसी रंगमंच के महान कलाकार और हिन्दी फ़िल्मों के प्रसिद्ध निर्माता, निर्देशक तथा अभिनेता सोहराब मोदी ने पारसी रंगमंच की बड़ी हस्ती राधेश्याम कथावाचक को बहुत सम्मान दिया। अपनी फ़िल्म 'झाँसी की रानी' में वे कोई भी गीत नहीं रखना चाहते थे, लेकिन कथावाचक जी के प्रति आदर-मान के कारण उन्होंने बैकग्राउण्ड में गीत रखे। फ़िल्म में गीतकार के रूप में कथावाचक जी का नाम 'पंडित राधेश्याम' दिया गया। यह ऐतिहासिक फ़िल्म 24 जनवरी 1953 को रिलीज हुई। 'अमर है झांसी की रानी', 'हमारा प्यारा हिन्दुस्तान', 'बढ़े चलो बहादुरो' सहित

आठ उत्कृष्ठ गीत कथावाचक जी ने इस फ़िल्म के लिए लिखे थे और सोहराब मोदी से उनका कोई पारिश्रमिक भी नहीं लिया था। इन सभी गीतों के ग्रामोफोन रिकॉर्ड बने थे। कथावाचक जी की यह भारत की महान वीरांगना लक्ष्मीबाई और अन्य देशभक्तों के लिए शब्दांजलि थी।

फ़िल्म निर्देशक शान्ति कुमार ने 1957 में एक फ़िल्म 'कृष्ण सुदामा' बनाई थी। इसके गीतकार कमर जलालाबादी और पंडित राधेश्याम कथावाचक थे। मुख्य भूमिकाएँ प्रेम अदीब और इन्दिरा बंसल की थीं। इसमें सहायक कलाकार निरुपमा राय तथा बलराज साहनी थे। पंडित जी द्वारा लिखे गए गीत 'रतन हैं दो अनमोल हमारे / उधर सुदामा इधर कन्हैया / महान भारत के दो दुलारे / इधर सुदामा उधर कन्हैया' काफी लोकप्रिय हुआ था।

पंडित राधेश्याम द्वारा लिखित कथा पर बनी अन्तिम फ़िल्म थी 'श्रवण कुमार' । इसमें अनन्त कुमार, नलिनी चोनकर, अचला सचदेव और वी.एम. व्यास की प्रमुख भूमिकाएँ थीं। शरद देसाई के निर्देशन में बनी यह फ़िल्म सुपर हिट हुई थी।

24, कैलाशपुरम्, डेलापीर
बरेली (उ.प्र.)-243122
मो. : 917351600444

राधेश्याम कथावाचक : जीवन के रंग

न्यू अल्बर्ट कम्पनी की 'रामायण' की स्क्रिप्ट सुधारते वक्त पंडित राधेश्याम ने शायद सोचा भी न हो कि रामायण से जुड़कर उन्हें ऐसी ख्याति मिलेगी जो समय की सीमाओं के पार हमेशा गूंजती रहेगी। हालांकि 'राधेश्याम रामायण' इसके दस साल बाद अस्तित्व में आई मगर इस घटना ने थियेटर से उनके बचपन के लगाव को साकार करने के साथ ही पारसी थियेटर और उस दौर के नाटकों में बदलाव के एक नए युग की भूमिका भी तय कर दी।

यह वाकया 1910 का है, जब पंजाब के नानक चंद खत्री की न्यू अल्बर्ट कम्पनी बरेली आई। बहुत कम उम्र से अपने पिता पंडित बांके लाल के साथ 'रुक्मिणी मंगल' की कथा कहते हुए राधेश्याम तब तक अपनी तरह के कथावाचक और पौराणिक आख्यानों पर रचे अपने काव्य के जरिये कथावाचक की हैसियत से स्वतंत्र पहचान बना चुके थे। तो एक रोज उनके घर पहुँच गए नानक चंद खत्री ने अपनी कम्पनी के 'रामायण' नाटक में सुधार का आग्रह किया। बताया कि कम्पनी ने जयपुर में नाटक का मंचन किया तो वहाँ के महाराज सवाई माधोसिंह ने उसमें कुछ कमियां बताई हैं और उनके सचिव ने पंडित राधेश्याम से सुधरवाने का सुझाव दिया है। पंडित राधेश्याम से कई बार कथा सुन चुके महाराज सवाई माधोसिंह उनकी प्रतिभा से खासे प्रभावित थे। कम्पनी जो 'रामायण' नाटक खेल रही थी, वह तुलसीदास की चौपाइयों के साथ ही तालिब, उफ़क और रामेश्वर भट्ट के लिखे की मिलीजुली स्क्रिप्ट थी। राधेश्याम ने उस स्क्रिप्ट में संशोधन के साथ ही नारद की भूमिका खासतौर पर जोड़ी। नाटक खूब लोकप्रिय हुआ और इसी के साथ पंडित राधेश्याम भी।

बरेली में 25 नवम्बर 1890 को जन्मे राधेश्याम के घर के पास 'चित्रकूट महल' हुआ करता था, जहां शहर में आने वाली नाटक कम्पनियों के लोग ठहरते थे। उनकी

रिहर्सल के दौरान सुनाई देने वाला गीत-संग्रह उन्हें बचपन से ही लुभाता था। उनके पिता की नाटकों में कोई दिलचस्पी नहीं थी मगर राग-रागनियों से ख़ूब वाक़िफ़ थे। रामलीला में वह चौपाइयां गाते तो सुनने वाले झूम उठते। राधेश्याम ने हारमोनियम बजाने और गाने का शुरुआती सलीक़ा उन्हीं से सीखा, 'रुक्मिणी मंगल' की कथा कहने उनके पिता जब बाहर जाते तो वह भी साथ होते, कथा के गीत वह गाते और अर्थ उनके पिता किया करते। कुछ और ज्यादा करने के इरादे से उन्होंने भजन लिखना शुरू किया और इन्हें गाने के लिए बरेली में देखे गए नाटकों के गानों की तर्ज पर धुन बनाना भी सीखी।

नाटकों के प्रति अपने लगाव को वह नशा कहते थे। बरेली आने वाली न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के नाटकों को देखकर चढ़ा यह नशा तब परवान चढ़ा, जब वह पिता के साथ 'रामचरितमानस' का पाठ करने के लिए महीने भर तक आनन्द भवन में रहे। इलाहाबाद में कोरोनेशन कम्पनी आई हुई थी और मोतीलाल नेहरू अपने परिवार के साथ ही इन लोगों को भी नाटक दिखाने ले जाते। एनएसडी के लिए राधेश्याम कथावाचक पर किताब लिखने वाले आलोचक मधुरेश के मुताबिक यही वह समय था, जब 'कथा' और 'नाटक' को लेकर राधेश्याम दुविधा में पड़े मगर जल्दी ही उन्होंने दोनों के बीच ऐसा संतुलन बना लिया, जो जीवन भर बना रहा।

वह पारसी थियेटर की धूम का दौर था। आगा हश्र कश्मीरी और नारायण प्रसाद 'बेताब' के ड्रामों का दौर था। वह दौर था, जब ड्रामों में महिलाओं के क़िरदार मर्द ही निभाते थे। नृत्य और संगीत प्रधान इन ड्रामों की जबान उर्दू ही हुआ करती थी। ऐसे में जब पंडित राधेश्याम ने न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के लिए अपना पहला नाटक 'वीर अभिमन्यु' लिखा तो डायरेक्टर सोराबजी ओग्रा के उत्साह के बावजूद फाइनल रिहर्सल देखने बैठे कम्पनी के मालिक माणिक जी जीवन ने सिर पकड़ लिया। उन्हें आशंका थी कि इतनी ज्यादा हिन्दी का नाटक पब्लिक शायद समझ न पाएगी। चार फरवरी 1916 को 'वीर अभिमन्यु' का पहला शो हुआ। इस नाटक को लोगों ने इतना पसंद किया कि बाद में जब राधेश्याम ने कम्पनी से इजाजत लेकर इसे छापा तो पहला संस्करण दो हजार, फिर पांच हजार और फिर आठ हजार प्रतियों का था और फिर यह छपता ही रहा। एक सदी बाद भी यह 'वीर अभिमन्यु' अब भी देश भर में खेला जाता है। पंजाब एजुकेशन बोर्ड ने तो इसे अपने पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया था।

'वीर अभिमन्यु' में हिन्दी के संवाद को लेकर माणिक जी की आशंका तो गलत निकली मगर इस नाटक ने पारसी थियेटर में हिन्दी की परम्परा की नई नींव डाल दी। उनके लिखे बाद के नाटकों में श्रवण कुमार, परमभक्त प्रह्लाद और परिवर्तन को भी खूब सराहना मिली। पंडित राधेश्याम ने जो 13 नाटक लिखे हैं, उनमें 'मशरिकी हूर' और 'परिवर्तन' को छोड़कर सभी धार्मिक-पौराणिक आख्यानों पर आधारित हैं और 1926 में मशरिकी हूर तो यह साबित करने की ख्वाहिश का नतीजा था कि इस्लामी जीवन दर्शन पर या उर्दू जबान में वह भी लिख सकते हैं। हालांकि 'राधेश्याम, रामायण' के शुरुआती संस्करण में मिली-जुली हिन्दुस्तानी जबान ही देखने को मिलती हैं। बकौल मधुरेश, एक नाटककार के तौर पर राधेश्याम कथावाचक एक ओर उर्दू के गढ़ में हिन्दी की सेंध लगा रहे थे, वहीं वे हिन्दू आदर्शों के संपोषण और प्रसार में भी सक्रिय थे। इस अर्थ में वे शायद एक हिन्दुत्ववादी लेखक भी कहे जा सकते हैं। लेकिन उनका यह 'हिन्दुत्व' समावेशी और सकारात्मक हिन्दुत्व था, जिसमें दूसरे धर्मों के प्रति सदायशता और उदारता का भाव था।

पंडित राधेश्याम के काम पर लम्बे समय से शोध कर रही यूनिवर्सिटी ऑफ नार्थ कैरोलिना की असिस्टेंट प्रोफेसर पामेला लोथस्पाइच अपने शोध 'द राधेश्याम रामायण एण्ड संस्कृटाइजेशन ऑफ खड़ी बोली' में 1939 से 1959 के बीच आए 'राधेश्याम रामायण' के संस्करणों में हिन्दी-उर्दू जबान को शुद्ध हिन्दी की ओर खींचने की कोशिश को रेखांकित करती हैं। उनका मानना है कि अगर इसे हिन्दू राष्ट्रवाद से प्रेरित न भी माना जाए तो कई बार के पुनर्लेखन के मूल में हिन्दी भाषा आंदोलन का असर जरूर हो सकता है। इससे उस दौर में भाषाई शुद्धता के बढ़ते आग्रह और दबाव को भी समझने में मदद मिलती है। अशोक वाटिका खण्ड के एक दोहे में फेरबदल से इसे समझ सकते हैं-'इत्तिफाक़िया नज़र से गुज़रा एक मुक़ाम' बाद के संस्करणों में 'अकस्मात देखा तभी एक मनोहर धाम' हो गया है।

भाषा में बदलाव के ऐसे आग्रहों की पड़ताल के लिए अभी और शोध की दरकार लगती है, अंदाजों पर बहस की जा सकती है मगर उनके नाटकों में युग-बोध, सत्ता की निरंकुशता के प्रतिरोध और सामाजिक सुधार की चेतना से किसी को इंकार नहीं हो सकता। और यह भाव उनके समाजिक-धार्मिक नाटकों में बराबर बना रहा।

'परम भक्त प्रह्लाद' में एक उत्पीड़न किसान, राजा हिरण्यकशिपु को ललकारते हुए कहता है-

तुझे आदत पड़ी जगदीश कहने और कहाने की
बनाई ज़िन्दगी बस खेलने की और खाने की।
उधर अम्बार दौलत का इधर है फिक्र दानों की
ख़बर भी है तुझे ज़ालिम, दु:खी दुर्बल किसानों की।

अपनी आत्मकथा 'मेरा नाटक काल' में पंडित राधेश्याम ने लिखा है कि अहमदाबाद में इस नाटक के मंचन के दिनों में कम्पनी के मैनेजर ने उन्हें आगाह करते हुए बताया कि खुफिया महकमे का एक आदमी हुकूमत की मुखालफत के सबूत की तलाश में कई बार आ चुका है। जाहिर है कि नाटक वाले संवाद में वह कारवाई लायक कुछ खोज नहीं पाया होगा।

हमारे समय में जब भाषा और धर्म की आड़ में वैमनस्य के भाव का विस्तार ही हुआ है। पंडित राधेश्याम के काम के समय मूल्यांकन का महत्व और बढ़ जाता है। और यह काम होना अभी बाकी है।

'सत्याग्रह' में प्रकाशित
26 नवम्बर, 2018

संकल्प, 121 खुशबू इन्कलेव
पीलीभीत बाईपास, बरेली-243006 (उ.प्र.)
मो. : 9457000036

अनन्तराम मिश्र 'अनन्त'

श्री राधेश्याम रामायण : एक कालजयी रचना

श्री राधेश्याम कथावाचक द्वारा रचित रामायण विगत कई दशकों से धर्मप्राण रामकथा प्रेमियों को मोहे हुए हैं। उसकी यह प्रभाव परिधि भारत तक ही सीमित नहीं है, नेपाल भी उससे अनुरंजित एवं अनुगुंजित है। अधिकांश रामलीला-मण्डलियाँ इसी का आधार लेकर अपने अभिनयों के संवाद प्रस्तुत करती हैं। रामचरितमानस के बाद उत्तर भारत में कदाचित यही पुस्तक है, रामभक्त पाठकों ने जिसे सर्वाधिक प्रियता दी है। ग्राम से लेकर नगर तक, सौध से कुटीर तक तथा अल्पज्ञों से लेकर बहुज्ञों तक के मुखों से इसकी चर्चा और मर्मस्पर्शी अंश अनायास सुनने को मिल जाते हैं। इसकी महत्ता का अनुमान इस बात से सहज लग जाता है कि इसी शिल्प-शैली पर अन्य न जाने कितने लोगों ने अन्य कथाएँ पद्यबद्ध कर डाली हैं और उनके माध्यम से प्रकाशक, कथावाचक, उपदेशक एवं भजनीक अपनी जीविका चलाते हैं। आज जब अन्य साहित्यिक पुस्तकों को लोग विस्मृत प्राय: करते जा रहे हैं, उस समय भी राधेश्याम रामायण के नये संस्करण निरन्तर निकल रहे हैं-यही उसकी जीवन्तता का ज्वलंत प्रमाण है।

इसमें श्रीरामकथा को 25 खण्डों में रखा गया है। 21 खण्ड राधेश्याम द्वारा रचित हैं और लवकुश काण्ड के 4 खण्ड संपादित, जिन्हें पंडित मदनमोहन लाल शर्मा ने उनकी शैली में प्रणीत किया है। राधेश्याम कृत खण्डों के नाम इस प्रकार हैं- जन्म, पुष्पवाटिका, धनुष-यज्ञ, विवाह, दशरथ का प्रतिज्ञा-पालन, कौशल्या माता से विदाई, वनयात्रा, सूनी अयोध्या, चित्रकूट में भरत-मिलाप, पंचवटी, सीता-हरण, राम-सुग्रीव की मित्रता, अशोक-वाटिका, लंका-दहन, विभीषण की शरणागति, अगंद-रावण का संवाद, मेघनाद का शक्ति प्रयोग, सती सुलोचना, अहिरावण वध, रावण-वध और राजतिलका सम्पादित चारों खण्ड हैं-सीता वनवास, रामाश्वमेघ, लवकुश की वीरता तथा सतवन्ती सीता की विजय।

भले ही हिन्दी काव्य-मर्मज्ञों ने इस ग्रंथ को यथोचित महत्व न दिया हो, परव्यापक जन-स्वीकृति उसे जो गरिमा प्रदान कर रही है वह 'कीरति भनिति भूत भलि सोई। सुरसरि सम सबकहँ हित कोई।' को नितांत अन्वर्थक करती है, जो साहित्यिक कहे जाने वाले पण्डित्य-प्रदर्शी बड़े-बड़े ग्रंथ नहीं कर पाते। राधेश्याम जी ने इसे रामभक्तों के लिए सरलतम खड़ी बोली में रचा था-जो फारसी-उर्दू के शब्दों से परिपूर्ण थी। जनश्रुति है कि भगवान श्रीराम ने उन्हें ऐसी खिचड़ी भाषा के प्रयोग-परिवर्तन का इंगित स्वप्न में किया और उसके बाद उन्होंने रामायण के अगले संस्करणों से परिष्कार प्रारम्भ कर दिया। इस समय जो राधेश्याम परिष्कार पढ़ी जाती है, उसमें तथा प्रथम संस्करण वाली प्रति में पर्याप्त अन्तर मिलता है। इस समय की प्रतियों में यत्र-तत्र उर्दू-फारसी के शब्द मिल जाते हैं, तथापि उनकी उतनी आपत्तिजनक अधिकता अब नहीं है, जितनी पहले थी। 'अशोक वाटिका' खण्ड के एक दोहे की पिछली और अब की पंक्तियों का हेर-फेर देखिए-'इत्तिफाक नजर से, गुजरा एक मुकाम' (मूल रूप) 'अकस्मात देखा तभी, एक मनोहर धाम' (संशोधित रूप)। इसी प्रकार के अनेक परिवर्तन बाद की प्रतियों में मिल जाते हैं।

उन्होंने प्रारंभ मे ही बड़ी ईमानदारी से कह दिया है-'श्रद्धेय तुलसीदास के पद, मार्ग सुगम बनायेंगे, अनुवाद राधेश्याम अपना आप वे ही करायेंगे'। फिर भी कुछ स्थलों को छोड़कर उन्होंने सर्वत्र स्वतंत्रता और मौलिकता का परिचय दिया है। 'जन्म' खण्ड में गुरु-द्वारा राम आदि को आत्मा-विषयक उपदेश, 'पुष्पवाटिका' में फूलों के नाम, 'दशरथ का प्रतिज्ञा पालन' खण्ड में दशरथ की वैराग्य भावना, 'कौशल्या माता से विदाई' खण्ड में लक्ष्मण का वनगमन से पूर्व उर्मिला से वार्तालाप, 'सूनी अयोध्या' खण्ड में श्रवण कुमार का प्रसंग एवं मामा के घर से वापसी और सारी बात मालूम होने पर भरत का आत्मघात के लिए उद्यत होना, 'पंचवटी' में राम-द्वारा सीता का पुष्प शृंगार, लंका-दहन के बाद हनुमान का शनैश्चर से मिलाप, सती सुलोचना, अहिरावण वध, मरण से पूर्व रावण का लक्ष्मण को उपदेश तथा अयोध्या लौटने पर लक्ष्मण का पुनः उर्मिला से मिलन इत्यादि प्रसंग तुलसी की रामकथा से भिन्न हैं। पंडित जी की लेखनी ने उपेक्षिता उर्मिला का भी यथास्थान स्मरण किया है और सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों पर भी कटाक्ष किये हैं, विवाह के अवसर पर गन्दे गाली गीत-वर्जन, स्वार्थनिष्ठ मैत्री, विधवाओं का शृंगार इत्यादि प्रकरण उक्त

उक्ति को चरितार्थता देते हैं। राधेश्याम के संवाद बड़े ही चुटीले तथा जन-मनाकर्षी हैं। परशुराम-लक्ष्मण संवाद, भरत-कौसल्या, भरत-राम, राम-भारद्वाज, रावण-हनुमान, अंगद-रावण संवाद बड़े ही मनोहारी तथा कुतूहलवर्धक बन पड़े हैं। अनेक स्थलों पर प्रसंगवश जीवन के सनातन तथ्यों और सत्य को सूक्ति सुभाषित रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस रामायण में ऐसे स्थल बहुसंख्यक हैं, जिन्हें लोग व्यवहार में मौका पाते ही बोल देते हैं। एकाध उदाहरण देखिए-

जब खेत उजड़कर सूख गया,
तब घन आये क्या होता है?
जब समय पड़े पर चूक गये,
तब पछताये क्या होता है?

(धनुष यज्ञ, पृ. 14)

मजदूर कहीं मजदूरों को,
मजदूरी देते हैं भैया?
मल्लाह कहीं मल्लाहों से,
मल्लाही लेते हैं भैया?

(वनयात्रा, पृ. 18)

इस रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि इस कृति में न केवल राम-साहित्य, प्रत्युत भारतीय दर्शन का भी कठोपनिषद् और गीता में वर्णित आत्मा-विषयक 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' एवं 'वासांसि जीर्णानि' इत्यादि दार्शनिक उक्तियों की अधोलिखित पंक्तियों पर सुस्पष्ट छाया है-

कट सकता नहीं शस्त्र से वह,
ज्वाला भी नहीं जला सकती।
उड़ सकता नहीं पवन में वह,
वर्षा भी नहीं बहा सकती।
उसमें ही विविध शरीर सदा,
बनते हैं, मिटते जाते हैं।

जिस भाँति पुराने होने पर,
वस्त्रादि बदलते जाते हैं।

(जन्म, पृ. 20)

काव्यत्व की दृष्टि से कोई भी रचना सर्वत्र एक-सी प्रभावान्विति नहीं रखती, यह कृति भी इस तथ्य से मुक्त नहीं है। पुष्पवाटिका के प्रसंग में फूलों के नाम, राम-सुग्रीव, मित्रता में पर्वतों के नाम गिनाये गये हैं, और स्थलों पर भी वस्तु परिगणन शैली अपनायी गयी है, जो सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावतगत वस्तु गणनात्मक स्थलों का स्मरण दिलाती हुई कवित्व की उदात्तता में बाधक बनी है। अनेक स्थलों पर तुलसी के प्रसंगों का यथावत अनुवाद तथा कहीं-कहीं अनावश्यक गीत-भजनों का सन्निवेश भी अखरने वाला है। फिर भी अनेक ऐसे सर्वग्राही प्रसंगों की अवतारणा इस काव्य में सहज ही हो गयी है जो उसकी सौन्दर्य वृद्धि में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए हैं। दर्पण में मुख देखते समय कुछ बालों की सफेदी से दशरथ के मन में जिन भावों की स्फुरणा होती है, वह वृद्धावस्था में सामान्य है। उसकी उद्‌भावना अतीव रसमयी बन पड़ी है-

काली अंधियारी रात गयी,
आ गया चाँद का उजियाला
तकता है राहु चन्द्रमा को,
है ग्रहण शीघ्र पड़ने वाला।

(दशरथ का प्रतिज्ञापालन, पृ. 3)

वनगमन के समय राम से सीता कह रही हैं कि उन्हें उनके चरणों में रहने पर किस प्रकार की आनन्दानुभूति होगी-

जैसे ही आनन्द मीन को अथाह सागर में,
मणि से हो जैसे कि आनन्द अहि-फण में
चन्द्रमा के समाने चकोर को आनन्द जैसे,
जैसे हो आनन्द युवती को आभरण में
प्रजा में आनन्द जैसे प्रजाप्रिय राजा से हो,
भक्त को आनन्द जैसे हरि की शरण में

रंक को आनन्द जैसे राजनिधि पाये से हो,
वैसा है आनन्द मुझे आपके चरण में।

(कौशल्या माता से विदाई, पृ. 8)

और भी अनेक घटना-क्रम हृदयहारी तथा उत्तम हैं, जिनमें केवट की नाव पर सवार राम की छवि देखने के लिए मेघ और बादलों को विवाद, मृत्यु से पूर्व दशरथ का प्रलाप, राम द्वारा सीता को विविध पुष्पों से श्रृंगारदान, अहिरावण वध खण्ड के प्रारम्भ में चन्द्र-विषयक वार्ता इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त राम, वशिष्ठ, वाल्मीकि, अनुसूया, सुलोचना-प्रभृति पात्रों द्वारा स्थल-स्थल पर ऐसे कथन आये हैं, जो भारतीय नीति, धर्म एवं दर्शन के पोषक हैं।

छन्द की दृष्टि से पूरी कथा एक ढर्रे पर चली है। प्रत्येक भाग के प्रारम्भ में मंगलमयी प्रार्थना के बाद कथा प्रारम्भ हुई है। 32, 32 मात्राओं के छंद का प्रयोग, बीच-बीच में दोहा के साथ हुआ है, आगे चलकर यह शिल्प 'तर्ज राधेश्याम' के नाम से विख्यात हुआ। नवीनता की दृष्टि से काव्य क्षेत्र में शिल्प संबंधी यह अछूता प्रयोग था। इसमें कहीं-कहीं खटकने वाली त्रुटियां, लय भंग और पुनरुक्ति दोष मिल जाते हैं, फिर भी हिन्दी के शैशव को ध्यान में रखते हुए उन दिनों का यह प्रयोग अद्‌भुत ही कहा जायेगा। यथा प्रसंग उपयुक्त गीतों का विनिवेश मनोहारी बन गया है। बहुत सी स्तुतियां तुलसी की भांति संस्कृत भाषा में हुई हैं। वस्तुत: ये स्त्रोत संस्कृत के हैं, जो रचनाकार के तत्संबंधी वैपश्चित्य का द्योतन करते हैं। कथा के उद्‌घाटन और समापन में प्राय: सर्वत्र दोहे का ही प्रयोग है।

राधेश्याम रामायण में खड़ी बोली का सरलतम रूप देखने को मिलता है। पाण्डित्य प्रदर्शन जनित कठिनता इसमें दीपक लेकर ढूँढने पर भी कहीं नहीं मिल सकती। कहीं भी संयुक्ताक्षर, टवर्ग या लम्बे-लम्बे समास सम्प्रेषणीयता में बाधक नहीं बने हैं। भाषा ओज-माधुर्य गुणों को प्रसाद के सूत्र में मणिगणों की भांति परिप्रोत किए गए हैं। अधिकांश अभिधा शब्दशक्ति का ही प्रयोग हुआ है-लक्षणा एवं व्यंजना का भी उपयोग जहां-तहां देखने को मिल जाता है। सहज प्रवाहमान तरंगिणी के समान इस भाषा में मुहावरों और कहावतों का भरपूर समावेश हुआ है। यही इसकी जनप्रियता के विशिष्ट कारणों में भी एक है। वैसे तो सभी जगह लोकोक्तियों का सहज

उन्मेष दृष्टिगत होता है, किन्तु सीताहरण खण्ड में रावण द्वारा सूर्पणखा को आश्वस्त करते समय–'गमनाक न हो तुम उनकी भी अब नाक नहीं मैं रखूँगा।' इत्यादि पंक्तियों में नाक विषयक मुहावरों का जैसा एकत्र प्रयोग मिलता है वैसा शायद ही अन्यत्र प्राप्त हो।

अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, लोकोक्ति, निदर्शना, विभावना, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, तुल्ययोगिता, उदाहरण, विरोध इत्यादि अलंकारों का सहज सन्निवेश राधेश्याम रामायण में प्राप्त है। कुछ उदाहरण उपयुक्त होंगे–

अनुप्रास :

1. रसना रमणीय, रुचे राजे,
   रसभरी रसीले रमिकों की। (जन्म, पृ. 18)
2. लज्जा, लाली, लावण्य लिये,
   लोने लोचन लालन के हैं। (जन्म, पृ. 19)
3. लज्जा लगाव, लावण्य, लाभ
   लालित्य, लालिमा, लाभ भरे। (पुष्पवाटिका, पृ. 18)

यमक :

1. 'बदली ने रंगत बदली है'
2. 'सर की सारीं सारी सरकी'
3. 'काकुल का कुल रंग बदला है'

उत्प्रेक्षा और रूपक

'मानो लज्जा के ताले को व्रत की कुंजी से खोल उठी' (वनयात्रा, पृ. 9)

राधेश्याम जी कथावाचक थे। वे संगीत के साथ रामकथा को बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से कहते थे। जिन्होंने उनके श्रीमुख से इसे सुना है, वे वयोवृद्ध जन आज भी उनकी प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं हैं। रेडियो के रिकॉर्डों में भी इसी तर्ज पर ढली हुई रामकथा जनानुरंजन और प्रबोधन कर रही है। राधेश्याम ने 'हरि अनन्त हरिकथा

अनन्ता' के मर्म को समझते हुए, अपनी प्रखर प्रतिभा से उसे एक और नया आयाम दिया। अपने लिए अरण्य झुरमुटों को काट-काटकर एक नवीन स्पृहणीय पथ बनाया तथा कथावाचक की दिशा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया जिससे अन्य अनेक कथाकारों को भी दिशा-बोध प्राप्त हुआ। उनके मन में श्री रामकथा के माध्यम से धनार्जन की भावना यत्किञ्चित मात्रा में अवश्य रही होगी, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि वे राम के प्रति श्रद्धालु नहीं थे। उनकी रामायण के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय में राम के लिए अगाध भक्ति थी, अनपायिनी निष्ठा और अव्यभिचारिणी आस्था थी। अन्यथा वे ऐसा लोकानुरंजकारी सफल ग्रंथ रच ही नहीं पाते। उन्होंने रामायण के बाद अनेक पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों की भी सर्जना की, जिनका हिन्दी-नाटकों के प्रारंभिक चरण में महत्वपूर्ण स्थान है और जो रंगमंचों पर इस समय भी अभिनीत किये जाते हैं। परन्तु जन-समाज में उनको वैसा आदर तथा वैसी महत्ता न मिल सकी, जो उनकी रामायण को प्राप्त है। यदि यों कहा जाये तो असंगत न होगा कि रामायण से अर्जित सुख्याति के बल पर ही उनका अन्य साहित्य भी लोगों ने पढ़ा, अन्यथा वह न जाने कब का विस्मृति के गर्त में चला गया होता।

संक्षेप में राधेश्याम रामायण ऐसी कालजयी रचना है, जो साहित्य के पृष्ठों में भले ही भरपूर समुचित स्थान न प्राप्त कर सकी हो, किन्तु जन-जन के हृदय, कंठ एवं रसना पर उसने अपना अखण्ड अधिकार बना रखा है।

तुलसीमानस भारती पत्रिका
दिसम्बर, 2002

डॉ. लवलेश दत्त

हिन्दी के अनन्य उपासक : कथावाचक

पारसी रंगमंच में उन दिनों तीन नाटककारों की त्रयी पूरे भारत में प्रसिद्ध थी–आगा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताब' और पंडित राधेश्याम कथावाचक। आगा हश्र कश्मीरी मूलत: कश्मीर के थे लेकिन उनके पूर्वज बनारस में आ बसे थे। अपनी शिक्षा के साथ-साथ आगा हश्र कश्मीरी को अंग्रेजी भाषा से बेहद लगाव हो गया था लेकिन उनका साहित्यिक जीवन उर्दू शायरी से आरंभ हुआ। अपनी शिक्षा और लगाव के अनुरूप ही उन्होंने मुख्य रूप से शेक्सपीयर, शेरेडिन, हेनरी आर्थर जोन्स, मानक्रेक आदि यूरोपीय नाटककारों के ऊपर आधारित नाटक ही लिखे। प्रख्यात आलोचक मधुरेश ने अपनी पुस्तक 'राधेश्याम कथावाचक' में इस सम्बंध में लिखा है, ''जैसा कि उस समय का तरीका था, नाटकों में मौलिकता को लेकर बहुत माथा-पच्ची नहीं की जाती थी। विदेशी नाटककारों के भाव और विचार लेकर उन्हें अपने समाज और परिवेश में ढाल दिया जाता था।'' (राधेश्याम कथावाचक, पृष्ठ 21) ऐसा ही कुछ नारायण प्रसाद 'बेताब' ने भी किया। उन्होंने शेक्सपीयर की अधिकांश नाटकों की कहानियों को आधार बनाकर अपने नाटकों की रचना की लेकिन 'महाभारत' की रचना से उन्हें खूब ख्याति मिली। उसके बाद उन्होंने नाटक 'रामायण' की भी रचना की। हालांकि उन्होंने उसके बाद भी कई नाटक लिखे लेकिन उनकी ख्याति उक्त दोनों नाटकों के रचनाकार के रूप में ही अधिक है।

उस समय के नाटकों की भाषा में उर्दू-फारसी का बोलबाला था। उसी भाषा में धार्मिक विषय प्रस्तुत किये जाते थे। नाटकों के पात्रों के संवाद भी उर्दू-फारसी युक्त होते थे। सामान्य रूप में तो यह चल जाता था लेकिन पौराणिक पात्रों से पारसी युक्त उर्दू बुलवाने को जनता नहीं पचा पाई। नारायण प्रसाद 'बेताब' इस बात को समझ गये थे कि उर्दू-फारसी की जो भाषा अन्य नाटकों के पात्रों की है वह महाभारत या रामायण के पात्रों में नहीं चल पाएगी। इसलिए उन्होंने 'महाभारत' की भाषा को उर्दू-

फारसी से एकदम मुक्त करके 'हिन्दुस्तानी' भाषा यानी कि आवाम की भाषा नाम दिया। इसी कारण उनके नाटक 'महाभारत' ने खूब प्रसिद्धी पाई। इस संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं, ''पारसी थियेटर में 'महाभारत' का ऐतिहासिक महत्व यह है कि उसी से वस्तुत: आदर्श नाट्य भाषा की नींव पड़ी जो पारसी थियेटर की प्रकृति के अनुरूप उर्दू-फारसी से अलग और मुक्त पूरी तरह से हिन्दुस्तानी थी- अर्थात हिन्दुस्तानी आवाम की भाषा।'' (वही, पृष्ठ 24) बाद में आगा हश्र कश्मीरी ने भी हिन्दी नाटक लिखे जिनमें प्रमुख रूप से रामायण और महाभारत के प्रसंग ही थे।

पंडित राधेश्याम उस समय प्रसिद्ध और लोकप्रिय कथावाचक के रूप में जाने जाते थे। उन दिनों पंजाब के बाबू नानकचंद की 'न्यू अल्बर्ट' कम्पनी ने अपना 'रामायण' नाटक जयपुर के राजा सवाई माधवसिंह को हरिद्वार में दिखाया था। चूंकि उस नाटक में कई त्रुटियाँ थीं तो जयपुर नरेश ने उन्हें पंडित राधेश्याम से संशोधन कराने का परामर्श दिया। उन दिनों पंडित जी की कथा की प्रशंसा और उनका प्रभाव जयपुर के दरबार में खूब था। परिणामस्वरूप उन्होंने कम्पनी के नाटक 'रामायण' में यथोचित संशोधन किये जिसको खूब सराहा गया। उसके कुछ समय बाद बम्बई की 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' बरेली आई और उसके अधिकारियों ने पंडित जी से हिन्दी नाटक लिखने के लिए निवेदन किया। पंडित जी ने उनके निवेदन को स्वीकार कर हिन्दी के प्रति पूर्ण निष्ठा दिखाते हुए हिन्दी नाटक 'वीर अभिमन्यु' लिखा। पंडित जी ने अपने आत्मकथ्य में स्वयं स्वीकार किया है, 'उस समय मैंने यह इरादा कर लिया था कि पूर्ण हिन्दी का नाटक लिखकर दूँगा। और हुआ भी। तब से आज तक हिन्दी का कोई ऐसा नाटक नहीं निकला, जिसमें हिन्दी का इतना प्राधान्य हो।' (हंस, आत्मकथा अंक, पृष्ठ 118) इस नाटक की खूब प्रशंसा हुई। इस नाटक ने पंडित जी को एक नाटककार के रूप में न केवल प्रसिद्धि दिलवाई बल्कि एक नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित भी किया। इस नाटक की प्रशंसा इतनी हुई कि स्वयं पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने इस नाटक को देखकर पंडित राधेश्याम कथावाचक की प्रशंसा की थी। इसकी ख्याति को देखते हुए यह नाटक पंजाब यूनिवर्सिटी के 'हिन्दी भूषण' और इंटरमीडिएट कक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी शामिल किया गया। पंडित राधेश्याम ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'वीर अभिमन्यु' को जितना मान मिला उतना पारसी थियेटर के किसी भी नाटक को नहीं मिला। हालांकि इससे पहले भी आगा

हश्र और नारायण प्रसाद के नाटकों को खूब ख्याति मिल चुकी थी लेकिन 'वीर अभिमन्यु' की बात ही कुछ अलग थी। मधुरेश लिखते हैं, "ऐसा नहीं है कि इससे पहले या बाद में पारसी थियेटर के नाटकों को ख्याति, लाकप्रियता या दर्शकों का प्यार नहीं मिला। 'बेताब' के 'महाभारत' और 'रामायण', आगा हश्र के 'विल्वा मंगल', 'सीता वनवास', 'यहूदी की बेटी' आदि पारसी थियेटर के बहुत सफल और लोकप्रिय नाटक थे। फिर भी 'वीर अभिमन्यु' की बात ही कुछ और थी। समूचे भारत में 'वीर अभिमन्यु' खेला गया और उससे ज्यादा पढ़ा गया जो पारसी थियेटर के नाटकों के साथ एक नई परिघटना थी।" (राधेश्याम कथावाचक, पृष्ठ 60)

'वीर अभिमन्यु' की प्रशंसा की सुगंध केवल विद्वानों तक ही नहीं रुकी। उस समय के प्रतिष्ठित हिन्दी समाचार पत्र-पत्रिकाओं तक भी उस की सुगंध फैल गयी जिनमें 'सरस्वती', 'प्रताप', 'विजय', 'अभ्युदय' आदि शामिल थे। 'वीर अभिमन्यु' नाटक की ख्याति ने पंडित राधेश्याम कथावाचक को एक नाटककार के रूप में न केवल प्रतिष्ठित किया बल्कि उनके पास अन्य नाटकों को लिखने के लिए प्रोत्साहन भरे पत्र और निवेदन आने लगे। वे लिखते हैं, 'सभी विद्वान कृपालुओं ने अपने-अपने पत्रों में इनकी प्रशंसा करके मुझे प्रोत्साहित किया।' (हंस, आत्मकथा अंक, पृष्ठ 118) इसका परिणाम यह हुआ कि पंडित जी ने 'सूर विजय नाटक समाज' के निवेदन पर 'श्रवण कुमार', 'बाल कृष्ण', 'उषा अनिरुद्ध' आदि नाटक भी लिखे। एक हिन्दी नाटककार के रूप में पंडित जी की बढ़ती ख्याति को देखकर 'न्यू अल्फ्रेड कम्पनी' के कहने पर उन्होंने 'प्रह्लाद' नाटक लिखकर दिया। बाद में वे उस कम्पनी के साथ सेवतन जुड़ गए और कम्पनी के मालिक मिस्टर सोराबजी ने अस्वस्थता के कारण जब कम्पनी छोड़ दी तो पंडित जी ने नाटक लिखकर अपने निर्देशन में उनका मंचन भी करवाया जिनमें 'परिवर्तन', 'मशरिकी हूर', 'श्रीकृष्णावतार', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रवण कुमार', 'ईश्वर भक्ति', 'द्रौपदी स्वयंवर' आदि नाटक प्रमुख थे। ये सभी नाटक खूब सफल हुए।

अपने नाटकों की लोकप्रियता के विषय में पंडित जी ने अपने आत्मकथ्य में लिखा है, 'मुझे याद है कि दिल्ली में जब यह स्टेज होता था, तो टिकट की खिड़की पर पुलिस को पहुँचकर भीड़ का इंतजाम करना पड़ता था।' (वही, पृष्ठ 119) पंडित जी के नाटक 'श्रीकृष्णावतार' की ख्याति इतनी बढ़ चुकी थी कि प्रेमचंद जी ने नाटक

के कई दृश्यों के ब्लॉक बनवाकर 'माधुरी' में एक लम्बे आलेख के साथ प्रकाशित किया था। पंडित जी के नाटकों की विशेषता थी कि वे सभी हिन्दी में होते थे। उनके पात्र हिन्दी बोलते थे और जिन कलाकारों का हिन्दी उच्चारण सही नहीं था उनके उच्चारण को सही करवाया जाता था। पंडित जी ने 'ईश्वर भक्ति' नाटक के प्रथम प्रदर्शन को स्वयं मोतीलाल नेहरू ने देखा था। उस रात अपार जनसमूह इस नाटक को देखने के लिए दौड़ पड़ा था। पंडित जी उस रात को अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ रात मानते थे, 'इतना बड़ा जनसमूह कभी किसी थियेटर में खुद मैंने आज तक नहीं देखा है-मुझे तक खड़े रहने की जगह नहीं थी-उस रात की, इस नाटक की सफलता आज भी मेरी आँखों में नाच रही है। ऐसी प्यारी रात फिर भी इन आँखों में देखने के लिए मिलेगी या नहीं, इसमें संदेह है।' (वही, पृष्ठ 119) पंडित जी ने पारसी थियेटर कम्पनी 'न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी' के लिए हिन्दू पौराणिक चरित्रों पर नाटक लिखकर और उनका मंचन करवाकर न केवल हिन्दू संस्कृति और हिन्दी को लोकप्रिय कर दिया था बल्कि उस कम्पनी का भी हिन्दीकरण कर दिया। देश के कोने-कोने से आने वाले नेता, नरेश, विद्वान आदि 'न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी' का स्वामी पंडित जी को ही मानने लगे थे। उन्होंने अपने आत्मकथ्य में लिखा है, ''मैंने उस कम्पनी को पूर्ण हिन्दुत्व और हिन्दीत्व के पद पर पहुँचा दिया था, जहाँ उपर्युक्त बड़े-बड़े नेता, भरतपुर, जयपुर, कश्मीर, टेहरी आदि के अनेकानेक नरेश, तथा सनातन धर्म और आर्य समाज के महान से महान विद्वान सहर्ष पधारते थे और यह समझते थे कि 'न्यू अल्फ्रेड हमारी है।' (वही, पृष्ठ 119)

वर्ष 1930 में पंडित जी का स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हें अल्फ्रेड कम्पनी से विदाई लेनी पड़ी। लगभग डेढ़ वर्ष तक इलाज करवाने के बाद वे पूर्ण स्वस्थ हो गये और 'मैडन थियेटर्स' की एक फ़िल्म के लिए उन्होंने 'शकुंतला' नाटक केवल पंद्रह दिनों में लिखकर दे दिया लेकिन उनके मन में यह संशय बना रहा कि वे अब हिन्दी की सेवा कर पाएंगे या नहीं। उन्होंने लिखा है, ''कह नहीं सकता कि कहाँ तक स्वास्थ्य मुझसे हिन्दी माता की यह सेवा करा सकेगा।'' (वही, पृष्ठ 119)

पंडित जी को हिन्दी भाषा से अगाध प्रेम था। उन्होंने हिन्दी की सेवा का व्रत लिया हुआ था। वे केवल अपनी ही कम्पनी या उसमें मंचित नाटकों पर ही ध्यान नहीं देते थे बल्कि सच्चे हिन्दी सेवी की तरह उस समय की जानी-मानी सभी नाटक

कम्पनियों को भी हिन्दी नाटक करने की प्रेरणा देते थे। उनका ध्यान इस ओर गया कि उस समय नाटक कम्पनियों में तीन जातियों के लोग हैं-पारसी, मुसलमान और हिन्दू लेकिन जो हिन्दू भाई हैं वे बम्बई के रहने वाले हें जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है और पारसी व मुसलमान भाई हिन्दी भाषा के अच्छे जानकार नहीं है। यही कारण है कि थियेटरों में खेले जाने वाले नाटकों में हिन्दी भाषा का प्रयोग नहीं होता और यदि होता भी है तो वह उर्दू-फारसी के बोझ से दबी हुई है। उन्होंने विचार किया कि हिन्दी की सेवा तभी संभव है जब इन नाटकों में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के युवक कलाकारों के रूप में काम करें। उन्होंने इस बात पर भी ध्यान दिया कि उनके नाटकों को इसीलिए लोकप्रियता मिलती है क्योंकि वे हिन्दी में हैं। यदि अन्य कम्पनियों के प्रसिद्ध कलाकार हिन्दी भाषा सीखकर उसका प्रयोग करें तो मंच पर हिन्दी आसानी से लोकप्रिय हो जाएगी। उन कलाकारों के लिए उनका विचार था, ''यदि यह भाई हिन्दी के पूर्ण शिक्षित बन जाएं, तो निःसंदेह स्टेजों की हिन्दी अत्यंत शीघ्र और बड़ी आसानी से खिले हुए पुष्प की तरह महक उठे।'' (वही, पृष्ठ 120) उनके नाटक 'वीर अभिमन्यु' की अपार सफलता का रहस्योद्घाटन करते हुए मधुरेश जी ने पंडित जी के नाटक में उनकी हिन्दी भाषा के प्रयोग को ही केन्द्रबिन्दु माना है। उन्होंने लिखा है, ''वीर अभिमन्यु के रिहर्सलों की तैयारी के बीच ही पंडित जी ने यह अनुभव किया कि एक सफल नाटक लेखक के इन सब चीजों का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। कम्पनी में जहाँ लोग 'वीर अभिमन्यु' भी शुद्ध लिख और बोल नहीं सकते थे, पंडित जी ने भाषा के परिष्कार और उच्चारण की शुद्धता पर बहुत जोर दिया। भाषा का उनका आदर्श सूत्र था-नाटक की भाषा चमकदार होने पर भी सरल होनी चाहिए। सरल और सुग्राह्य भाषा ही दर्शकों को प्रभावित कर सकती थी।'' (वही, पृष्ठ 61)

अपने लेखों, वार्तालापों और चिंतन में पंडित जी को हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए चिंतित होते हुए देखा गया। वे इस बात पर दुःख व्यक्त करते थे कि पढ़े-लिखे लोग ही आगे आकर हिन्दी सेवा करना नहीं चाहते। उन्हें यह देखकर दुःख होता था कि पढ़े-लिखे लोगों में ईर्ष्या और स्वार्थ जैसे विष के कारण ही न केवल नाट्य कला बल्कि हिन्दी भाषा का भी उद्धार नहीं हो पा रहा है। दूसरी ओर राजनैतिक परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल थीं लेकिन पंडित जी हतोत्साहित नहीं थे। वे जानते थे कि इन्हीं विषम परिस्थितियों में रहकर ही हमें हिन्दी की सेवा करनी होगी। अपने

आत्मकथ्य में उन्होंने लिखा है, ''इस वातावरण में रहकर ही तो हिन्दी-माता और हिन्दू जाति की कुछ सेवा कुछ कल्याण कर सकूँगा-इसी उद्देश्य से जो कुछ बन पड़ता है, करता हूँ और करूँगा।'' (वही, पृष्ठ 120)

पंडित जी की इच्छा थी कि एक 'हिन्दी रंगमंच लिमिटेड' नामक कोई नाट्य संस्था बनाई जाए। इस संस्था में शिक्षित, योग्य और समर्पित लोगों नाटकों का प्रचार प्रसार करें। पंडित जी के शब्दों में, जरूरत है कि 'हिन्दी रंगमंच लिमिटेड' बनाया जाए और उसमें सुयोग्य, सुशिक्षित एवं चरित्रवान व्यक्ति रखकर इस कला का उद्धार किया जाए। (वही, पृष्ठ 120) यह उयनका अगाध हिन्दी प्रेम ही था कि वे नई पीढ़ी का आह्वान करते थे और उन्हें हिन्दी नाटकों के लिए प्रेरित करते थे। वह चाहते थे कि हिन्दी के नाटक किसी भी भाषा के नाटकों से आगे निकल जाएं। पूरे देश में उनकी ख्याति फैल जाए और इस प्रकार हिन्दी का खूब प्रचार प्रसार हो। अपने आत्मकथ्य के अन्त में उन्होंने नवयुवकों का आह्वान करते हुए कहा है, भाइयों, नवयुवकों कुछ कर दिखाओ, कुछ कर दिखाने का जमाना है। मैं बुड्ढा होने जा रहा हूँ-मरने के पहले एक बार यह देख लूँ, कि हिन्दी के नाटक बंगला, मराठी, अंगरेजी तथा जर्मन भाषाओं के नाटकों से आगे बढ़ गए हैं, तो सच कहता हूँ, मुझे इसी जीवन में अपार आनन्द होगा।' (वही, पृष्ठ 120)

पंडित जी ने अपने वक्तव्यों में हिन्दी के साथ हिन्दू और हिन्दुत्व की बात की है लेकिन यह बात सच्ची है कि वे किसी भी सांप्रदायिकता से मुक्त थे। वे हिन्दू शब्द से भारतीय संस्कृति की बात करते थे और हिन्दुत्व से उनका आशय भारतीय मूल्यों से था। मधुरेश जी इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, ''पंडित जी के इस वक्तव्य में हिन्दुत्व, धार्मिक भावों के प्रचार और ब्राह्मण आदि शब्द आज बहुतों को परेशान कर सकते हैं। लेकिन पंडित जी आज के साम्प्रदायिक और सत्ता विमर्श के संदर्भ में इन शब्दों का प्रयोग नहीं करते। धार्मिक भावों और हिन्दुत्व से उनका सीधा-सा अर्थ उस हिन्दू जनता की अभिरूचियों और संस्कारों से था, जो बड़ी संख्या में पारसी थियेटर की शैदाई थी।'' (राधेश्याम कथावाचक, पृष्ठ 62) सच्चाई तो यह है कि पंडित जी के अन्दर राष्ट्रीय चेतना कूट-कूट कर भरी थी। इसीलिए वे अपने नाटकों के माध्यम से भारतीय जनमानस में राष्ट्र प्रेम, समाज सुधार, नारी जागरण, शिक्षा, नैतिक मूल्यों की स्थापना, सुखी दाम्पत्य, पारिवारिक सम्बंध, आपसी प्रेम जैसे संदेश दिया करते

थे। उनके नाटकों में नारी का तेजस्विनी और गरिमामयी स्त्रियाँ हैं। उनके नाटकों में स्त्रियाँ प्रेम, शांति, त्याग और करुणा का प्रतीक हैं। इसके साथ-साथ उनके नाटकों में पराधीन देश के लिए चिन्ता भी निहीत होती थी। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से महात्मा गांधी के अभय अथवा भय से मुक्ति का संदेश भी दिया। इतना ही नहीं वे अपने पात्रों के माध्यम से सांकेतिक रूप से अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध बोलते थे। मधुरेश जी लिखते हैं, ''अहमदाबाद में, 'परमभक्त प्रह्लाद' के मंचन के समय, कम्पनी के एक प्रबंधक माणिक शाह बल्सारा ने पंडित राधेश्याम कथावाचक को बताया कि खुफिया पुलिस का एक अफसर दो बार डायरी लेकर आया कि नाटक को हुकूमत के विरुद्ध साबित करके कारवाई कर सके। 'प्रह्लाद' और 'प्रमोद' नाटक में खूब खुलकर हुकूमत के विरुद्ध बोलते हैं।'' (वही, पृष्ठ 67) लेकिन यह भी सच है कि उनके नाटक 'परम भक्त प्रह्लाद' का सत्ता विरोधी स्वर इतना गूँजा कि इसका मंचन देखने गणेशशंकर विद्यार्थी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी आए थे।

जब पारसी थियेटर अपनी लोकप्रियता के चरम पर था, हिन्दी भाषा अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही थी। युवावर्ग में नौकरी के लिए अंग्रेजी पढ़ने की ललक थी। स्कूल-कॉलेजों में तथा सरकारी व कानूनी कामकाज में उर्दू का प्रयोग होता था। भाषा के रूप में हिन्दी पर घोर संकट था। थियेटर में भी अधिकांश नाटक अंग्रेजी नाटकों की नकल हुआ करते थे तथा उनका मंचन प्राय: अंग्रेजी और उर्दू-फारसी में किया गया था। ऐसे समय में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के लिए उसका नाटकों में सफल प्रयोग पंडित राधेश्याम कथावाचक ने ही किया। अपने पहले ही नाटक 'वीर अभिमन्यु' को लिखते समय हिन्दी के उत्थान के लिए की गयी उनकी प्रतिज्ञा और उनकी हिन्दी सेवा कालान्तर में फलीभूत हुई। हिन्दी के प्रचार प्रसार को जो सपना उन्होंने देखा था वह अपने नाटकों के माध्यम से साकार किया। नाटकों में हिन्दी के संवाद, शेर-शायरी के स्थान पर गीत, कवित्त, दोहे, चौपाई आदि के प्रयोग के साथ संगीत का मिश्रण कर पंडित राधेश्याम कथावाचक ने नाटकों को एक नया आयाम प्रदान किया। उन्होंने संगीत में लोकधुनों का प्रयोग करके जनता को अपनी ओर आकर्षित किया। पंडित जी हिन्दी के सच्चे उपासक थे। उनमें विशुद्ध भारतीय संस्कार विद्यमान थे। इसीलिए हिन्दी के प्रचार प्रसार में वे कहीं भी उर्दू से द्वेष करते हुए दिखाई नहीं देते थे। उनका प्रसिद्ध नाटक 'मशरिकी हूर' इस बात का प्रमाण है

कि पंडित जी उर्दू-फारसी के भी अच्छे जानकार थे। उनके अन्दर जो हिन्दुत्व की भावना थी वह सकारात्मक और उदारतावादी थी जिसमें दूसरे धर्मों के प्रति सदाशयता और करुणा का भाव था। वे एक ऐसे सनातन और संस्कारी परिवार में जन्मे थे जहाँ पारिवारिक मूल्यों के साथ साम्प्रदायिक सौहार्द्र को मान्यता दी जाती थी। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि स्वयं पंडित जी ने बचपन में एक मुसलमान संगीताचार्य से हारमोनियम बजाना सीखा था। अपने उसी सनातन धर्म से प्रेरणा लेकर वे किसी भी प्रकार के धार्मिक और सांप्रदायिक विद्वेष से दूर थे। वे हिन्दी के उपासक थे लेकिन न तो उर्दू के विरोधी थे न मुसलमानों के। उनके द्वारा रचित 'राधेश्याम रामायण' में उर्दू के अनेक शब्दों का प्रयोग है। किसी के प्रति पूर्वाग्रह, घृणा, ईर्ष्या या शत्रुता का भाव उनसे कोसों दूर था। वे सबके प्रिय थे और सब उन्हें प्रिय थे। संभवत: इसीलिए जितनी ख्याति उन्होंने कथावाचक के रूप में पाई उतनी ही प्रसिद्धी उन्हें एक नाटककार के रूप में भी मिली।

165-ब, बुखारपुरा, पुरानाशहर
बरेली-243005 (उ.प्र.)
मो. : +91-9412345679

सुरेन्द्र मोहन मिश्र

बरेली में थी एक 'विक्टोरिया ड्रामेटिक कम्पनी'

बरेली के पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाम से पुराने नाटक प्रेमियों को 'वीर अभिमन्यु' और 'श्रवण कुमार' का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। कथावाचक जी के नाटकों में पहले देश भर में पारसी नाटकों की धूम थी। पारसी कम्पनियां अपने नाटकों का प्रदर्शन बड़े-बड़े नगरों में ही करती थीं। जिस नगर में पारसी कम्पनी ठहर गई सारा नगर डावाडोल हो जाता। विद्यार्थी अपनी पुस्तकें बेचकर नाटक देखने जाते। कितने ही लोग अपने कपड़े बेचकर नाटक देखने जाते। कितने ही लोग रात भर नाटक देखने के बाद दिन भर भी उन्हीं दृश्यों में खोये रहते। महीनों तक लोग नाटकों में सुने गानों को गाते रहते।

सन् १९०० से पहले बरेली में बम्बई की कई पारसी कम्पनियाँ अपने नाटक खेलने आया करती थी। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी तो बम्बई से चलकर सबसे पहले बरेली ही आती थी। उसके अलीबाबा, खूबसूरत बला, अलादीन, चन्द्रावली और दिल फरोश नाटक बरेली में खेले गये और अत्यंत लोकप्रिय हुये।

बरेली में नाटक प्रेमियों पर इन पारसी नाटकों का बहुत प्रभाव पड़ रहा था। छोटी बड़ी कई नाटक कम्पनियाँ बरेली में उस समय बनीं और समय के साथ समाप्त हो गयी। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने अपने बचपन में बरेली के एक नाटककार औलाद अली के बनाई हुई नाटक कम्पनी में एक नाटक देखा था। नाटक का नाम था 'गुलरूजरीना' यह नाटक बरेली में खूब चला इस कम्पनी का क्या नाम था यह पता नहीं लगता। कथावाचक जी ने इस नाटक के सम्बंध में लिखा है-

''इधर बरेली के नाटक प्रेमियों की खिचड़ी वाली पतीली आखिर उबल ही पड़ी। किन्हीं 'औलाद अली' नाम के मुसलमान भाई ने एक कम्पनी बनाकर खड़ी कर दी उनका 'गुलरूजरीना' खूब ही चला। तारीफें सुनते-सुनते पिता जी भी अब

अपने को न रोक सके तो मेरे आग्रह पर 'चार आने वाले दर्जे' के दो टिकट खरीद कर एक रात गये ही। उस कम्पनी के ऐक्टरों ने ऐसे छाती तोड़ गाने गाए जो उसके बाद सुनने को बहुत कम ही मिले। गानों ही की प्रधानता थी उस कम्पनी न सीनरी न्यू अल्फ्रेड जैसी कहाँ? न रंगमंच का वैसा प्रबंध। 'वन्स मोर' खूब होती थी। एक एक गाना चार-चार पांच-पांच दफे चलता था। खेल सुबह के चार बजे के लगभग खत्म होता था।''

आज मैं आपका परिचय बरेली की एक ऐसी प्राचीन नाटक कम्पनी से कराने जा रहा हूँ जिसने दूसरे नगरों में भी जाकर अपने नाटक खेले और जिसे आज सब भूल चुके हैं। मुझे सन् १८९९ के आगरा के मुहम्मद मच्छू खां के इलाही प्रेम में छपे एक पारसी नाटक 'गुलशन पाक दामिनी' की भूमिका से इस नाटक कम्पनी का परिचय प्राप्त हुआ है।

इस कम्पनी का पूरा नाम 'दी हर मजिस्ट्री ओरीजनल विक्टोरिया ड्रामेटिक थियेट्रिकल कम्पनी ऑफ बाबू अमीनुद्दीन खां साहब रईस, बांस बरेली' था। इसके मैनेजिंग डाइरेक्टर थे मिर्जा नजीर बेग जो आगरा के निवासी थे। इन्होंने ही 'गुलशन पाक दामिनी' नाटक लिखा जिसे कई कम्पनियों ने खेला। 'दी पारसी जुबली और मैनपुरी की 'दी इंडियन इंपीरियल थिएट्रीकल कम्पनी ऑफ मैनपुरी' ने इस नाटक को खेला। मिर्जा नजीर बेग के गुरु फतहपुर जनपद के चितौरा ग्राम में रहते थे। हाफिज मुहम्मद अब्दुल्ला उनका नाम था। 'गुलशन पाक दामिनी' नाटक सन् १८९६ में रचा गया। यह नाटक पारसी नाटकों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

इस काल में सभी नाटक कम्पनियों के नाम अंग्रेजी में ही होते थे। नाम क आगे बम्बई लगाना भी एक मान की बात समझी जाती थी। 'दी पारसी जुबली थियेटर ऑफ बम्बई' आगरे की एक ऐसी ही कम्पनी थी। न तो यह कम्पनी बम्बई की थी और न इसका मालिक ही पारसी था। फिर भी नाटक व्यवसाय में पारसी और बम्बई ये दोनों ही विशेषण अपना महत्व रखते थे। दर्शकों पर इसका प्रभाव पड़ता था।

आर्य समाज का प्रभाव इस समय देश के एक बड़े हिस्से पर पड़ चुका था। खंडन मंडन की पुस्तक छपती थी। ईसाई और मुस्लिम धर्मों के दोष निकालते हुये अनेक पुस्तकें छापी जाती थीं। लाहौर के महाशय राजपाल की 'रंगीला रसूल' एक

ऐसी ही रचना थी। मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि पर भी ऐसी ही एक पुस्तक प्रकाशित करने पर मुकदमा चलाया गया। स्वामी दयानन्द ने देशभर की आर्य सभाओं से इस मुकदमें के खर्च का हिसाब देने से इंकार कर दिया। इसी बात पर मुंशी जी ने, जो उस समय स्वामी समाज से इस्तीफा दे दिया। मुंशी जी का शिष्य समुदाय भी आर्य समाज से अलग हो गया। मुरादाबाद के पंडित जगन्नाथ मुंशी जी के प्रमुख शिष्यों में से थे। मुंशी जी 'नमस्ते' शब्द के भी विरोधी थे उन्होंने अभिवादन के मुस्लिम ढंग को अपना कर 'परमात्मा जयते' और उसका उत्तर 'जयते परमात्मा' बनाया था जो प्रचलित न हो सका।

ऐसे युग में जीने वाला नाटककार भी इससे कैसे मुक्त रह सकता था? कुछ मुस्लिम लेखकों ने हिन्दू देवताओं को भद्दे ढंग से प्रस्तुत किया। सीता को 'बेगम सीता' कहना तो क्षम्य हो सकता था पर कुछ लेखक तो इससे भी आगे बढ़ गये। पारस नाटक 'गुलशन पाक दामिनी' का लेखक मिर्जा नजीर बेग भी इस कुंठा का शिकार है।

यह नाटक पारसी नाटकों की सभी विशेषताओं से युक्त था। तुकान्तों से भरी चुलबुली भाषा। बीच-बीच में शेरो-शायरी और ढेर सारे गानों का दौर। सब कुछ मिलाकर ऐसे इन्द्रधनुषी रंगों का वातावरण पैदा करता था कि दर्शक मंत्रमुग्ध होकर बैठा रहता था।

उस युग के सभी नाटक कृत्य प्रधान थे। पारसी नाटकों का मूल नवाब वाजिद अली शाह के खेले जाने वाले 'इन्दर सभा' के नाटक में खोजा जा सकता है।

इस नाटक का एक दूसरा नाम 'नई चन्द्रावली' भी है। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी ने चन्द्रावली नाटक खेला था जो उसक समय अत्यंत लोकप्रिय हुआ। उस लोकप्रियता को भुलाने का प्रयास ही यह 'नई चन्द्रावली' है। इसी प्रकार जब कोई ऐक्टर किसी कम्पनी से अलग होकर अपनी नई कम्पनी खोलता था तो पुरानी कम्पनी के नाम में ही न्यू शब्द जोड़ देता था।

पारसी नाटकों का सबसे प्रमुख आकर्षण उसके गाने और नृत्य ही थे।

नाटक का एक अंश देखें-ऐयाश खां अजी बड़ी खाला अब तो हो गया मेरा दिवाला, कहो तो सादूं मकान का कवाला।

नंगी शमशेर–अरे बेवकूफ कुछ खबर है जिसकी मुट्ठी में जर है यहां उसी का गुजर है।

ऐयाश खां–अब तो मेरे पास कुछ दाम नहीं।
नंगी शमशेर–मेरे घर मुफलिसा का काम नहीं।
ऐयाश खां–जान अब अम्मा जान जाती है।
नंगी शमशेर–मेरी जूती से जान जाती है।
ऐयाश खां–कुछ तो लिल्लाह रहम खाओ तुम।
नंगी शमशेर–बस मियां मेरे घर से जाओ तुम।
ऐयाश खां–जान लेना यह सर का सौदा है।
नंगी शमशेर–इश्कबाजी भी जर का सौदा है।

कथोपकथन इसी प्रकार से तुकान्त में चलते रहते थे जिसका दर्शक भरपूर आनन्द लेते थे।

इस दुष्प्राय पारसी नाटक का परिचय देते हुये मुझे प्रसन्नता है यह नाटक जो पारसी ड्रामों के सभी गुणों से सम्पन्न है जब कभी सम्पूर्ण प्रकाशित आपके सम्मुख पहुंचेगा तब मुझे और भी प्रसन्नता होगी।

द्वारा अतुल मिश्रा, धनवन्तरि फार्मेसी
बड़ा महादेव, चंदौसी-202412, जिला-संभल (उ.प्र.)
मो. : 8938857406

दैनिक अमर उजाला
7 मई 1989 ई.

हरिशंकर शर्मा

राधेश्याम कथावाचक की राजनीतिक दृष्टि

उत्तर भारत के तीन युग पुरुषों-गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पंडित राधेश्याम कथावाचक ने देश की सांस्कृतिक चेतना को झकझोरने का कार्य किया है। मैं यहां केवल साहित्यिक पृष्ठभूमि की बात नहीं कर रहा हूँ। पश्चिमी बंगाल में गुरुदेव ने कला, संगीत, शिक्षा तथा साहित्य के माध्यम से बंगाल की धरती को उर्वरा बनाया तथा राष्ट्रीय चेतना भी जागृत की। पूर्वी उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रांत) में भारतेन्दु जी ने ब्रिटिश मानसिकता से मुक्ति के लिए जमीन तैयार की। साहित्य शिक्षा, नाट्य तथा राष्ट्रीयता की भावना इनके प्रमुख अस्त्र थे। लेकिन पंडित राधेश्याम कथावाचक ने इन दोनों मार्गों से पृथक राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का कार्य किया है। देश की आम तथा धर्म परायण जनता में पौराणिक-धार्मिक विषयों द्वारा चेतना जगाने का महत्वपूर्ण कार्य कथावाचक ने किया। सत्रह वर्ष की अवस्था में रामायण लिखकर तथा उसका कथावाचन करके आपने संपूर्ण भारत का भ्रमण ही नहीं किया रामायण की गायन-शैली (तर्ज राधेश्याम) से भी परिचित कराया। उनके जीवन काल में ही रामायण की एक करोड़ से अधिक प्रतियां लोगों के घर पहुँच चुकी थीं। उनकी रामायण को 'राधेश्याम रामायण' के रूप में मान्यता मिली। नेपाल नरेश ने आपको 'कथावाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित किया था। यह कम गौरव की बात नहीं थी। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने अपनी डायरियों में अनेक स्थानों पर कथा-प्रसंगों की चर्चा की है।

पंडित राधेश्याम कथावाचक अपने युग के निर्विवाद नायक थे। साहित्य, रंगमंच, सिनेमा, गायन, भजन, पत्रकारिता, कथावाचन आदि विभिन्न विधाओं में आपका जो अप्रतिम योगदान रहा, उसके चलते आपकी कीर्ति पताका आज भी फहरा रही है। आपका व्यक्तित्व बहुआयामी था। अपने जीवनकाल में विपुल लेखन किया, उसका समुचित मूल्यांकन होना अभी शेष है। अमरीकन विदुषी श्रीमती पामेला ने

उच्चकोटि का शोध कार्य किया है। आलोचक मधुरेश का पंडित राधेश्याम कथावाचक शीर्ष से ग्रंथ सन 2010 में राष्ट्रीय नाट्य संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित है। कथावाचक के नाटकों पर समीक्षा की दृष्टि से ग्रंथ मील का पत्थर है। 'कुछ जीवन-कुछ रंग' शीर्षक से सुधीर विद्यार्थी ने 'संदर्भ' पत्रिका विशंपांक प्रकाशित किया था। डॉ. अशोक उपाध्याय द्वारा लिखित शोधपरक ग्रंथ पंडित राधेश्याम कथावाचक नाटककार महत्वपूर्ण है। यह ग्रंथ साहित्य निकेतन बिजनौर से प्रकाशित है। विविध आयामों पर केन्द्रित मेरी पुस्तक 'पंडित राधेश्याम कथावाचक : सफर एक सदी का' (वर्ष 2014)प्रकाशित हुई। कथावाचक के ग्रंथों पर केन्द्रित शोधकार्य बहुत कम हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलेखों को एकत्र करने की भी आवश्यकता है। लेकिन इस तथ्य की अनेदखी नहीं की जा सकती कि कथावाचक के संदर्भ में टुकड़े-टुकड़े रूप में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। मेरी पंडित राधेश्याम कथावाचक समग्र प्रकाशन की महत्वपूर्ण योजना है।

पंडित राधेश्याम कथावाचक के समुचित मूल्यांकन न होने का महत्वपूर्ण कारण हैं-आम जनता व साहित्यकारों ने उन्हें 'कथावाचक' मानकर इतिश्री समझ ली। वे रामायण की विशिष्ट गायक-शैली तथा रामलीला के माध्यम से आम जनता के सिरमौर बने रहे। खड़ी बोली में लिखित रामायण एक प्रयोग था, जो सफल रहा। आपके नाटकों की विषय वस्तु पौराणिक-धार्मिक अवश्य है, लेकिन कथावाचक के नाटक देश का ज्वलंत समस्याओं का दस्तावेज हैं। कथावाचक ने अपनी अप्रकाशित डायरी में लिखा-'मेरा नाटककाल' पारसी थियेटर का इतिहास नहीं। राधेश्याम के नाटकों को समझने के लिए प्रमाणित ग्रंथ है। इस ग्रंथ के लिए उत्तर प्रदेश सरकार के हिन्दी संस्थान ने पांच सौ रुपया का पुरस्कार देकर सम्मानित किया था।

6 जनवरी 1991 में जन्मशती समारोह का आयोजन नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी में हुआ था। इस समारोह में एक विद्वान ने उनके नाम के आगे लगे शब्द 'कथावाचक' हटाने का सुझाव दिया था तब डॉ. कैलाश नाथ तिवारी ने आपत्ति की थी-'कथावाचक शब्द को हटाने से उनकी पहचान को खतरा है। यह तो उनकी असली पहचान है। देखना यह है कि वे जनता के बीच आज भी प्रसिद्ध क्यों है? वे सच्चे अर्थों में जन कवि हैं। वे आज के कथावाचकों की कोटि से श्रेष्ठ कथावाचक परंपरा के रचनाकार हैं।'

'परिवर्तन : मशरिकी हूर' भारतमाता आदि नाटकों का सृजन उन्होंने नए प्लॉटों (विषय) पर लिखे हैं। उस समय के नाटककारों को उन्होंने यह संदेश दिया था कि नए विषयों की समझ और उन्हें प्रस्तुत करने का कौशल भी मुझमें हैं। 'उद्धार' (जनवरी संवत 2000), 'आजादी' (20.10.1951) तथा 'धना भक्त' (2.11.1951) में लिखे गए आपके अप्रकाशित नाटक हैं। आपकी डायरी पढ़ने का पता चला कि राधेश्याम कथावाचक 'रावण-राज्य' के प्लॉट पर नाटक की तैयारी में थे, लेकिन यह सपना अधूरा ही रहा-'आजकल प्रेस में नया नाटक 'देवर्षि नारद' छप रहा है।... इधर यह विषय भी चक्कर काट रहा है कि अगला नाटक 'रावण-राज्य' (राजनीतिक विषय का) लिखूं (अप्रकाशित डायरी, 24 दिसम्बर 1960) कथावाचक जी के इन नाटकों का मूल्यांकन होना शेष है। इसके प्रकाशन से उनके नाटकों के नए आयाम खुलने की भी संभावना है।'

कथावाचक के बचपन का नाम था रामगोपाल और प्रसिद्धी मिली पंडित राधेश्याम कथावाचक नाम से। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने छद्म नाम 'अधीर' से भी कविताएं लिखी हैं। यह कविताएं 1920 से 1929 तक 'भ्रमर' पत्रिका में निरंतर छपती रही हैं। अपने छद्म नाम 'अधीर' की जानकारी डायरी 19 अप्रेल 1960 में अंकित है-'अपने जीवन का एक मजाक लिखूं- राधेश्याम प्रेस से प्रकाशित होने वाले 'काव्य साहित्य' को... बरेली के एक गर्बीले उर्दू शायर दाना साहब (मदन लाला दाना) उसमें पाठ्य काव्य पढ़ते ही नहीं थे। तब मैंने 'अधीर' टाइटल पर एक कविता दी। पढ़कर वे फड़क उठे। अधीर की तलाश करने लगे कि मिले तो उसके चरण छुऊं।' आगे पंडित राधेश्याम कथावाचक ने लिखा-'होश संभालते ही मेरा दिमाग काम करने लगा। नई-नई कल्पनाएं नए-नए प्लॉट बनाने लगे। ...दिमाग की इसी हालत ने कवि और नाटककार बनाया।' 'भ्रमर' नामक मासिक पत्र में अधीर नाम से कविताएं इसी वजह से देता था। (अप्रकाशित डायरी, 21 दिसम्बर, 1959)

पंडित राधेश्याम कथावाचक द्वारा संपादित 'भ्रमर गीत माला' के 'मधुर मुरली' का प्रकाशन का चौथा संस्करण 1968 में राधेश्याम प्रेस (बरेली) से हुआ था। 'भ्रमर' मासिक पत्रिका (1922 से 1929) में प्रकाशित कविताओं का प्रकाशन हुआ था। 'आवेदन' शीर्षक गीत में राधेश्याम कथावाचक की कविता 'अधीर' छद्म नाम से प्रकाशित है-

नाथ फिर आयी दीवाली।।
काल-चक्र में फिर भारत में, गड़बड़ कर डाली।
एक वर्ष में हुई देश की कितनी पामाली।। नाथ...।।
सत्याग्रह छिड़ गया कहीं, तो कहीं पिटी ताली।
कहीं खोपड़ी पर संतों ने लाठी बजवाली।। नाथ...।।
कहीं पड़ी है गद्दी कोई, राजा से खाली।
कहीं रार कानूनी होकर, बंधे धर्मशाली। नाथ...।।
कहीं बाढ़ की भीषणता ने, कर दी बेहाली।
दो जातियाँ लड़ी आपस में, होकर मतवाली।। नाथ...।।
बाग हुआ जाता है बीहड़, आओ बनमाली।
स्वयं को करनी होगी, अब देखा भाली।। नाथ...।।

प्रेमचंद के बरेली आगमन की चर्चा यहां के विद्वान अपने भाषणों में प्राय: करते हैं। निरंकार देवसेवक ने भी एक आलेख में ऐसा ही लिखा है, लेकिन कोई पत्र / प्रमाण के अभाव में बात दम तोड़ देती है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'गबन' में कथावाचक के नाटक जाकर देखने का उल्लेख है। राधेश्याम पुस्तकालय की पत्रिका भ्रमर में प्रेमचन्द की 'होली' सहित तीन कहानियां भी प्रकाशित हुई हैं। एक रचनाकार की हैसियत से दोनों रचनाकारों में संवाद अवश्य रहा होगा। प्रेमचन्द ने हंस पत्रिका के प्रवेशांक (सन् 1930) में बरेली से प्रकाशित 'भ्रमर' पत्रिका के ग्राहक भी हम को मिल गए हैं का उल्लेख है। लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि पंडित राधेश्याम कथावाचक ने 1910 से 1960 तक की डायरियों में कहीं भी प्रेमचन्द या धनपतराय नाम का उल्लेख नहीं किया है।

माधुरी के आत्मकथा अंक (वर्ष 8, पृष्ठ 6) में वीर ईश्वर भक्ति नाटक सहित अनेक नाटकों की चर्चा प्रेमचन्द ने की है। 'मेरा नाटक काल' में कथावाचक जी ने प्रेमचन्द से हुई तीन भेंट का उल्लेख भी किया है।

अत: पाठक इस विषय पर स्वयं विचार करें।

पंडित राधेश्याम कथावाचक को समझने के लिए 'अभिनंदन ग्रंथ' महत्वपूर्ण

दस्तावेज है। इनके परिवार में किसी के पास प्रति सुरक्षित नहीं है। 'अभिनंदन ग्रंथ' का उल्लेख आपने डायरी में किया है-मैं तो कवि, कथावाचक और नाटककार बन आया था। नाम और दौलत के चक्कर में आकर अपने को भूल गया। होश आते ही दौलत का चक्कर हटा दिया फिर नाम का चक्कर तो चला आ रहा है। वर्षगांठ पर नाटक हुए और 'अभिनंदन ग्रंथ' है। (16 दिसम्बर, 1960)

कथावाचक का जीवन बहुआयामी था, प्रतिभा के धनी पंडित राधेश्याम कथावाचक ने अपनी डायरी में देशकाल परिस्थिति और वातावरण का पूर्ण ध्यान रखा है। निष्पक्षता आपकी डायरी का महत्वपूर्ण पक्ष है। डायरी में यात्रा-स्थलों, सत्संग, बाग घर, बाजार, नाट्य स्थल तथा गंगाघाट आदि का उल्लेख है। बाग में लिखी गई डायरी का समय प्रात: काल का है। घर पर लिखी गई डायरी प्रसंग सांय (रात्रि) काल के हैं। मुद्रित-गुटका-डायरियों के तिथिक्रम का डायरी में उपयोग हुआ है।

वस्तुत: हिन्दी पट्टी में पंडित राधेश्याम कथावाचक का जन्म (25 नवम्बर 1890) अतीत का सम्मोहन, पुनरुत्थानवादी तथा नवजागरण का युग था। खड़ी बोली के प्रयोग की मांग जोरों पर थी। भारतीय राजनीति में स्वदेशी-स्वराज की आकांक्षा का सांस्कृतिक मुद्दा था। इस हिन्दी नवजागरण में तपोनिष्ठ साहित्यकारों, पत्रकारों, समाज सुधारकों, धर्म शिक्षा में सक्रिय लोगों की नागरी के प्रचार-प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस परिदृश्य का दामन पकड़कर पंडित राधेश्याम कथावाचक, कथावाचक और पारसी थिएटर के नाटककार के रूप में आगे बढ़े। लगभग अपने जीवन के चालीस वर्ष तक इस क्षेत्र के सिरमौर बने रहे। कथावाचक की डायरियां आपकी आत्मकथा का हिस्सा हैं, लेकिन 'मेरा नाटक काल' से भिन्न धरातल का निर्माण करती हैं। सन 1930 से 1960 तक की कुल 6 डायरियों में पंडित राधेश्याम कथावाचक की लेखन यात्रा हैं। डायरियां पढ़कर उनके कृतित्व-व्यक्तित्व को समझने का नया रास्ता मिलेगा।

चाणक्य ने राजनीति की उपमा वेश्या से की है। आज की राजनीति में कूटनीति का बोलबाला, अत: राजनीति में आदर्श की कल्पना करना बेमानी है। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने जब सृजनक्षेत्र में प्रवेश किया वह नवजागरण का युग था। सन 1890 में कथावाचक के जन्म से पाँच वर्ष पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हो

चुका था। उनका बचपन-किशोरावस्था राष्ट्रीय आंदोलन की छाया में बीते थे। यह वह युग था जब स्वेदश-स्वराज की मांग बंगाल से पंजाब तक व्याप्त थी। राष्ट्रीय पराधीनता की हताशा, पीड़ा, संताप और आक्रोश का मिला-जुला प्रभाव कथावाचक की रचनाओं में सुनाई पड़ता है। अतीत का सम्मोहन और पुनरुत्थानवादी नजरिया इस नवजागरण की प्रमुख विशेषताएं थीं। वैज्ञानिक-औद्योगिक क्रांति के मध्य हिन्दू आदर्शों की पुन: प्रतिष्ठा की एक समस्या थी। आर्य समाज के आदर्शों के समानान्तर उन्होंने सनातन धर्म में सकारात्मक पक्षों की वकालत की। स्त्री-शिक्षा, बालविवाह, सामाजिक कुरीतियां, हिन्दी देवनागरी भाषा का प्रयोग कथावाचक की साहित्य साधना के औजार थे। भारतीय राजनीति में स्वदेशी और स्वराज की वकालत उन्होंने की। यही परिदृश्य पंडित राधेश्याम कथावाचक को एक कथावाचक और पारसी थियेटर के नाटककार के रूप में मिला। अपने जीवन के लगभग पचास वर्ष तक वे सक्रिय रहे, उनकी तूती बोलती थी और अपने क्षेत्र के बेताज बादशाह बने रहे।

कथावाचक अपने समय के युग नायक हैं। प्रेमचन्द ने 'हंस' के आत्मकथा अंध में लिखा है-"ईश्वर भक्ति नाटक के पहले इसका श्रीगणेश करने स्वयं वैकुण्ठवासी राजर्षि पंडित मोतीलाल नेहरू पधारे थे। वे उस समय इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रेसीडेंट थे। इतना बड़ा जनसमूह पैर रखने की थियेटर में जगह नहीं उस रात की इस नाटक की सफलता आज भी इन आँखों को देखने को मिलेगी या नहीं इसमें संदेह है।" इस नाटक के उद्‌घाटन अवसर पर सरोजिनी नायडू भी साथ थीं। ईश्वर भक्ति नाटक की भूमिका प्रेमचन्द ने ही लिखी थी। जब इस नाटक का प्रकाशन हुआ था पंडित मोतीलाल का निधन हो चुका था। कथावाचक ने उनके निधन पर लिखा था-

आनंद भवन की रानी के सर पर सुहाग की शाल नहीं
अपने आँसू का मोती भी रख सकी हाय कंगाल नहीं
लुट गई आज भारत माता, है गोद में मोतीलाल नहीं।

इलाहाबाद के आनंद भवन में पंडित राधेश्याम कथावाचक ने अपनी किशोरावस्था में कथा जो आयोजन किया था, इस एक महीने से भी अधिक इस

प्रवास में नेहरू परिवार से आत्मीय संपर्क का अवसर उन्हें मिला, लेकिन इसका अनुचित लाभ कभी आगे उन्होंने नहीं लिया। इसका उल्लेख उन्होंने अपनी डायरी में किया है-

''पंडित जवाहरलाल नेहरू का मैं हृदय से आभार करता हूँ। इसलिए नहीं कि अपने बालपन में उनकी माता 'स्वरूप रानी नेहरू' को कथा सुनाने जब मैं गया था तब मैं एक महीना वहीं (आनंद भवन इलाहाबाद) रहा। रोज ही उनसे मुलाकात होती थी। यद्यपि तब से आज तक मैं उनसे नहीं मिला। मुझे कोई लालसा-कामना या लालच भी ऐसा नहीं था। जो जाकर उनसे मिलूँ। वे सच्चे देशभक्त हैं। समझदारी भी है। सूझबूझ भी गहरी है। दिल के भी साफ हैं। जितनी बातें कहते हैं, सही होती है। उनके प्रधानमंत्रित्व में अमल नहीं हुआ। मैं समझता हूँ कि अमला गलत रहा और गलत है। वे अपने उदार स्वभाव से अभी तक उसे निभाए जा रहे हैं। चीन से लड़ने लायक न यह अमला है, न भूखी जनता से।'' (28 दिसम्बर 1959)

कथावाचक ने अपनी बात बेबाकी से रखी है। सन 1911-12 में जब पंडित मदन मोहन मालवीय काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के चन्दे हेतु दरभंगा-नरेश के साथ बरेली आये तो युवा पंडित राधेश्याम कथावाचक की इसमें एक विशिष्ट भूमिका थी। इसके बाद मदन माहन मालवीय से उनके गुरु-शिष्य के संबंध स्थापित हुए। इसका उल्लेख कथावाचक ने अपनी डायरी में किया है-''आज दिल्ली से समाचार मिला कि मेरे गुरु गोस्वामी गणेश दत्त का देहान्त हो गया। (11 जुलाई 1959) मुझे बड़ा दुःख लगा। महामना मदनमोहन मालवीय के हम दो ही शिष्य थे, जो उनसे दीक्षित थे।'' (14 जून 1959)कथावाचक ने 3 फरवरी 1959 में एक स्थान पर डायरी में लिखा है-''पचास वर्ष की अवस्था में वैराग्य हुआ। मालवीय जी से दीक्षा ली। उनके साथ बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, गुजरात आदि प्रांतों में निर्लोभी होकर धर्म प्रचार किया।''

पंडित राधेश्याम कथावाचक का नाटक भक्त प्रह्लाद (सन 1917 में लिखित) सन 1921 ई. में जब अहमदाबाद में खेला गया तो किसी कारणवश मंचन के अवसर पर कथावाचक नहीं पहुँच सके। इसका उन्हें वाजिब अफसोस भी था-''कुछ दिन बाद की बड़ी धूम से अहमदाबाद में 'प्रह्लाद' चल रहा है। सोराबजी ने भी बधाई के

साथ ही अपना पत्र भेजा। मुझे जब ख्याल आया कि पहुँच जाता तो अच्छा था। मैं पहुँचता तो बापू (महात्मा गाँधी) को पहली ही रात 'प्रह्लाद' में लाता। मेरा तबसे अच्छा परिचय हो चुका था। सन 1919 से 29 तक पूरे दस वर्षों में अधिकतर कांग्रेस वार्षिक अधिवेशनों में गया हूँ। सदस्य की दृष्टि से आज तक कांग्रेस के अतिरिक्त और किसी भी राजनीतिक संस्था या पार्टी का मैं सदस्य बना ही नहीं हूँ।'' (मेरा नाटककाल, प्रथम संस्करण, वर्ष 1957 ई.)

कथावाचक ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने खड़ी बोली में रामायण लिखकर उसे जन-जन तक पहुँचाया। रामायण की डेढ़ करोड़ प्रतियां भारतीय परिवारों में उनके जीवनकाल में पहुँच चुकी थी। उनकी रचनाओं में गाँधीजी के विचारों का प्रभाव है। खड़ीबोली के प्रचार-प्रसार में वे आरम्भ में ही गाँधीजी के नजरिया को लेकर बढ़े। एक स्थान पर गाँधीजी चर्चा करते हुए अपनी डायरी में लिखते हैं-

''व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में तालमेल है ही नहीं। सार्वजनिक जीवन में आने से पहले अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को समाप्त करो। ...महात्मा गाँधी ने भी व्यक्तिगत स्वार्थ का सम्पूर्ण त्याग करने के बाद ही सार्वजनिक में प्रवेश किया तभी इतनी बड़ी सफलता मिली। आज देश में विनोवा भावे की बात को क्यों माने हैं? क्योंकि उनका व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। व्यक्तिगत स्वार्थ तो जवाहर लाल नेहरू में भी नहीं है लेकिन उनमें जुरुख से ज्यादा परेशान हैं। अपनी पार्टी में लोगों की बातों पर पर्दा डालने उन्हें बढ़ाने की बान। उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ वाले ही हैं। यही देश की अशांति है। विनोवा भावे और जवाहर लाल नेहरू मिल जाए तो देश का बड़ा लाभ हो।'' (14 जून 1959)

नवजागरण की उत्ताल लहरों में उछलकर ऊपर आये अनेक मुद्दों में से हिन्दी भाषा, स्त्रीचिंता और स्वाधीनता की आकांक्षा को आधार बनाकर कथावाचक के चिंतन को समझा जा सकता है। उनका यह चिंतन डायरियों में यत्र-तत्र अंकित है। आजादी के बाद की परिस्थितियों पर आपकी बारीक (पैनी) नजर थी। उनका राजनीतिक नजरिया-''कम्यूनिष्ट और कांग्रेस का झगड़ा केरल में चल रहा है। एक साल पहले कम्युनिष्ट बद निगाह से जनता नहीं देखती थी। लेकिन चीन के तिब्बत पर

धरने में जैसी धांधली की इसमें ऊँचे तबके में कम्युनिष्ठों के प्रति वैसा आकर्षण नहीं रहा। कांग्रेस में यह बातें न होतीं, तो यह पार्टी जनप्रिय होकर और उठती। इसमें पद लोलुपता धनार्जन, अहंभाव और जैसे जो दोष जो आ गये हैं; वह गलत है। जनता दो राक्षसों की मार से व्याकुल है भूख से और रोजाना के खर्च से भर्राई हुई है। तभी तो कम्युनिष्ट को देखती है। नहीं तो कांग्रेस ही रहती।'' (30 जुलाई 1959)

कथावाचक रचनायात्रा में रामराज्य की कल्पना को लेकर चले थे। उनके नाटकों में समय का सच तो है, राजनीति-समाज सुधार की वकालत भी। आजादी के पश्चात की बदली परिस्थिति राजनीति से कथावाचक का मन दु:खी रहता था। उनकी एक नजर राजनीति पर भी थी। अत: उन्होंने एक नया नाटक 'रावण-राज्य' विषय पर योजना बनाई थी। भारतीय राजनीति का नाटक 'रावण-राज्य' की योजना अधूरी रह गई। उनका स्वास्थ्य इसमें बाधक था। उन्होंने सन 1960 की डायरी में लिखा-आज प्रेस में मेरा नया नाटक देवर्षि छप रहा है। उसी का कार्य का संशोधन फिर प्रूफों की देखभाल में काफी समय जाता है। इधर दिमाग में यह विषय चक्कर काट रहा है कि अगला नाटक 'रावण-राज्य' (राजनीति के विषय का) लिखूँ। इस कारण भी अध्ययन कर रहा हूँ। (22 दिसम्बर 1960)

देशभर में राधेश्याम कथावाचक की रामायण और नाटकों की धूम थी। लगभग चालीस वर्ष तक मंच के बेताज बादशाह बने रहे। आपकी लोकप्रियता में वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण था राज दरबारों में कथावाचक-रामायण की बढ़ती मांग। देश के धनाढ्य परिवारों, राजनेताओं से भी आपके निकट संबंध रहे हैं। जन साधारण में आपकी लोकप्रियता अपने चरम को छू चुकी थी। उन्हें जनता और राजनेताओं का भी भरपूर प्यार मिला, लेकिन राजनीति का उन्होंने कभी अनुचित लाभ नहीं लिया-यह उनका स्वाभिमान था। जो आज के कथावाचकों से उन्हें अलग करता है। वे नाम के कथावाचक नहीं, कर्त्तव्य से भी कथावाचक थे। कथावाचक राजनीति क्षेत्र के प्राणी नहीं थे, किन्तु देश की राजनीति और घटनाओं पर उनकी दृष्टि थी। अपनी डायरियों में राजनीति के अनुभवों को उन्होंने यथास्थान लिखा है-

''अख़बारों में देखा यू.पी. एसेम्बली (विधानसभा) में भी कांग्रेस जीती। गाँव वालों ने दिल खोलकर कांग्रेस को वोट दिए। इससे यही अर्थ निकलता है कि गाँव वाले सचमुच दु:खी थे। जवाहर लाल के प्रोग्राम को सुनकर दिल खोलकर कांग्रेस के

साथी हुए। अब जमींदारों को भी ठलुआ जीवन छोड़कर बराबर का कदम रखना चाहिए। तब अच्छा हो।'' (14 फरवरी 1937)

''रामायण में राजनीति बहुत है। मैं तो तुलसीकृत रामायण को ही ऐसा ग्रंथ मानता हूँ इसको पूर्णरूपेण अध्ययन कर लेने पर शारीरिक, पारिवारिक, जातीय, सामाजिक, दैशिक, धार्मिक, ईश्वरीय एवं राजनीतिक ज्ञान का मसाला भी मिल जाता है।'' (2 जनवरी 1939)

कथावाचक की विदेशी राजनीति पर भी दृष्टि थी। उन्होंने शनिवार, 23 अगस्त 1939 को लिखा-''आज एक महीना होने आया है, बाजार अभी ऊँचा उठा ही नहीं है। पहले तो गिरावट इस बात पर रही कि आधे इण्डिया में पानी नहीं बरसा है। इसके बाद यूरोप की परिस्थिति आ गयी। डेनजिंग पर हिटलर का दाँव है। पोलैण्ड को ब्रिटिश प्रशासन दे चुकी है। यदि उसके ब्रिटिश और फ्रांस की संधि हुई और वह उन राष्ट्रों की ओर रहा तो युद्ध नहीं होगा। परन्तु दीख ऐसा नहीं हो रहा है। एशिया को हिटलर पढ़ा रहा है। जर्मनी से वह संधि करने में ऐसा ही समझ रहा हूँ कि वह अपनी शक्ति का ह्रास नहीं करना चाहता है। अपने यहाँ खबरों का रेडियो है। उधर हैदराबाद से सत्याग्रही छूट रहे हैं। यह खबर आ गयी है। मैंने भी हिन्दुस्तान में एक कविता 'स्वागत' छपने भेजी है। जिसका खास पद यह तुम्हें आर्य वीरो, बधाई, बधाई।''

वह जिन परिस्थितियों में पैदा हुए, पले बढ़े हुए परिवेश की पूरी जानकारी है। उन्होंने समय की नब्ज को जाँचा-परखा है कुछ इस प्रकार-

''यूरोप की लड़ाई लम्बी दीखती है। अंग्रेज पूरे बनिए हैं। ये ग़मखाना जानते हैं। मामलात को समझना फिर वक्त से फायदा उठाना जानते हैं। अत: ये सुलह नहीं करेंगे। हिटलर-स्टेलिन को जब खूब कमजोर कर लेंगे, तब सुलह करेंगे और सुलह ऐसी जिसमें इनका प्रभुत्व हो। यह इंग्लैण्ड वालों की राजनीति है।'' (18 दिसम्बर 1939)

पंडित गोविन्द वल्लभ और गोपी वल्लभ के प्रति आपका नज़रिया कैसा था-''अचानक गोविन्द वल्लभ और गोपी वल्लभ आ गये। हुक्मलाम कि हरिद्वार के पम्पलेट का जवाब छपवाना है। यह जवाब गोविन्द वल्लभ ने लिखा था। मैंने कह दिया-मेरी राय में पम्पलेटबाजी से झगड़ा बढ़ता है। गोविन्द वल्लभ जी को अपनी

पंडिताई प्रकाशित कराने का शौक है। धनार्जन और यशोर्जन का पूरा लोभी है वह ब्राह्मण।'' (31 जुलाई 1939)

कथावाचक की डायरी के अंश फीचर के अधिक निकट हैं। लेकिन यथास्थान कथावाचक फीचर और डायरी का अन्तर करते नज़र आते हैं। उनका आत्मकथ्य डायरी का ही हिस्सा है। सन 1959 तथा 1960 की डायरियों में अधिक परिपक्वता है। इस पड़ाव तक राजनीति के ये विचार-

''अब नेताओं का काल है। इन्होंने हिन्दूधर्म की सीमा हटा दी है। मानवधर्म पर जनता को ले जा रहे हैं। जीवन स्तर ऊँचा करो, आमदनी कमाओ। उद्योगी बनो और टैक्स? आगे देखो होता है क्या?'' (16 जनवरी 1959)

''हिंसा-अहिंसा पर आज सोचता रहा। हिंसा के पक्ष में रामकृष्ण दोनों थे-पर आतताईयों, दुष्टों की हिंसा के पक्ष में।... अहिंसा भगवान बुद्ध के समय में अधिक थी। महात्मा गाँधी ने भी इसे बढ़ाया और अब आदरणीय जवाहर लाल नेहरू भी उसी रास्ते पर हैं, यह विश्वयुद्ध बचाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। क्या जाने यह राजनीति भारत के हित में या वास्तविक मानवता के।'' (18 जनवरी 1959)

स्वार्थी नेता, सरकारी कर्मचारियों की घूस, नाजायज धन आदि विषयों पर भी आपने खूब लिखा है। कथावाचक की डायरियाँ अनुभवों की पिटारा हैं। प्रांतों के नामकरण, जनपदों के नामकरण पर आपकी नज़र थी।

पंडित महामना मदनमोहन मालवीय, सम्पूर्णानंद महात्मा गाँधी, विनोवा भावे तथा पंडित जवाहर लाल नेहरू जैसी न जाने कितनी हस्तियाँ राधेश्याम कथावाचक की निंदा का हिस्सा बनीं। उनके आदर्श-सिद्धांतों की यथास्थान उन्होंने चर्चा अपनी डायरियों में की है। एक ऐसी चर्चा-उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री सम्पूर्णानंद से मेरी मुलाकात है। उसे सामने रखकर या उन्होंने अपने कार्यकाल में जो काम किए हैं, उन्हें देखकर कहूंगा कि मंत्री जी योग्य है। कुछ हाथ उनके (केन्द्र और कांग्रेस तथा दलबन्दी) बांध रखे हैं, नहीं तो और अच्छा काम करते। भारतीय संस्कृति उनमें हैं। संस्कृत के प्रेमी भी हैं। वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय चालू करा ही दिया। वाराणसी नाम चला ही दिया। यदि इलाहाबाद का प्रयागराज करा देते और लखनऊ का लखनपुर तो और अच्छा होता। लखनऊ तो है ही 'ऊ' की जगह 'पुर' हो जाए।

अनुमान है कि पहले यह लखनपुर ही था। बिगड़कर 'पू' का 'ऊ' रह गया। 'प', 'र', 'ऊ' हो गया। फैजाबाद यदि अयोध्याधाम हो जाए तो क्या कहना। (1 फरवरी 1959)

कथावाचक की यह वाणी वर्तमान में रंग ला रही है। लेकिन नेता और राजनीति का चरित्र नहीं बदला है। उनका यह दु:ख 7 फरवरी 1959 की डायरी में-''मेरी वर्षों से यह धारणा है कि जो नेता धन के लोभी हैं; उनकी तिजोरियाँ जब धन से भर जाएगी; तब वे 'यात्री देशभक्त' के रूप में देश की सेवा करेंगे ही। ...राजनीति और शासन करना धीरे-धीरे ही आता है और गुलाम (सदियों से गुलाम देश वालों) को अधिक देर लगनी ही है। ब्रिटिश शासक मझे हुए थे, भारतीयों को मझना पड़ेगा। ...देश और नेता अब ठीक रास्ते पर हैं। अभी समय तो लगेगा कि प्रतीक्षा काल है यह।''

देखना यह भी है कि आज के नेता और राजनीति कहाँ खड़ी है? इसका जवाब स्वयं कथावाचक की कलम से-'रामराज्य' नहीं 'रमाराज्य'। जो समय को नहीं पहचानेंगे वह जीवन मूर्खता के साथ खोएंगे। यह तो सत्य ही है कि देश में आजकल अराजकता की स्थिति है। कौन आदमी दगाबाज है, कौन नहीं।... अंग्रेजी राज्य में भी ऐयाशी थी, वैश्यावृत्ति थी, चोरी-डकैती, दगाबाजी थी, पर इतनी खुली-नंगी थी।

'इन्ति दाये इश्क है, रोता है क्या?

आगे-आगे देखिए होता है क्या!' (16 फरवरी 1959)

यह अनीति युग है। कथावाचक की दृष्टि इसे भाप गयी थी। अत:-

''राजनीति और व्यापारनीति दोनों ही नीतियाँ झूठ की जननी हैं। स्वतंत्र भारतीय अब इन दिनों नीतियों से अलग नहीं रह सकता, रहेगा तो इन राजनीतियों के महारथी विदेशी फिर गुलाम बना सकते हैं। अब मेरी समझ में यह नीतियाँ बरती जाएं तो समयानुसार उचित है। दिल में तो धर्मनीति ही रहनी चाहिए। भीतर से भगवान का मन्दिर धर्मनीति है उसी में घाटे को छुपाए रखो। कमखाना, गमखाना, चुप रहना, कम बोलना में मस्त करना होगा।'' (25 फरवरी 1959) आज भी राजनीति ठीक उससे उल्टी है।

वर्तमान समय नारी-प्रधान है। आज की राजनीति-सरकारें नारी विकास का ध्वज लिए घूम रही हैं। यह बात कथावाचक ने आत से सत्तर वर्ष पूर्व कह दी थी- ''देखता हूँ नारी जाति आगे बढ़ रही है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कांग्रेस की प्रधानता ली है उधर अरुण आसफ अली ने दिल्ली कॉर्पोरेशन की कुर्सी प्राप्त हुई हैं। अत्री नरगिस (फ़िल्म अभिनेत्री) 'पद्मश्री' की पदवी से विभूषित हुई हैं। यह हाल रहा तो कर्मवीरता में नर नारी बन जाएगा और नारी नर, प्रकृति तुझे प्रणाम।'' (31 मार्च 1959)

''राजनीतिज्ञ शासकों को ही होना चाहिए पर देखता हूँ इधर सारा समाज-परिवार कूटनीतिज्ञ हो रहे हैं।'' (4 अप्रेल 1959)

नेताओं ने 'जीवन-स्तर ऊँचा करो' का प्रचार किया उसका नतीजा यह निकला... बेईमानी के युग में महत्वपूर्ण चीज नष्ट हुई है, उसका नाम है शान्ति। (3 मई 1959)

कथावाचक कांग्रेस पार्टी के मान्यता-प्राप्त सदस्य थे। सन् 1919 से 29 तक कांग्रेस अधिवेशनों में बढ़-चढ़ हिस्सा लिया था, वे आजीवन कांग्रेस पार्टी के सदस्य रहे। वे बढ़ते कम्युनिष्ट प्रभाव को भाँप चुके थे अत:-

''मुझे दीख रहा है कि भारत साम्यवादी (कम्युनिष्ट) हो जाएगा। कांग्रेस पार्टी की पंचवर्षीय योजनाएं अवश्य स्तुत्य हैं। परन्तु उनका पालन न उनके कर्मचारियों ने किया, न भारत के धनवान व्यक्तियों ने। सबने अपनी तिजोरियाँ भरीं। ...इधर चीन ने पैर बढ़ा दिए। दलाईलामा भारत में आ बसे।'' (1 मई 1959)

देश प्रगति करेगा तो जनता आगे बढ़ेगी, यही प्रगति है। आजादी के 72 साल बाद भी देश में अपनी तरह की समस्याएँ हैं। लेकिन आजादी के बारह साल बाद की स्थिति पर अपनी डायरी में कथावाचक-

''देश की स्वराज्य मिले बारह वर्ष हो गये। कांग्रेस पार्टी ने देश को उठाने का जितना प्रयास किया, जनता आज भी उससे संतुष्ट नहीं हैं। गरीबों को सस्ता अनाज न मिल सका, जबकि 24 वर्ष पहले एक रुपया में 15 सेर गेहूँ यहाँ बिकता था। इस तरह वर्ष की तरक्की पर दृष्टि डालें तो कितनी तरक्की कर गये वह देश इंग्लैण्ड, जर्मनी,

मिश्र, रूस, चीन। यहाँ तो कुर्सी का मद 'शानबाजी' ही रही। खुशामदियों के बोल रहे।'' (15 अगस्त 1959)

यह सांस्कृतिक वर्चस्व का युग है। आज की राजनीति ने धर्म और संस्कृति का मुखौटा धारण कर रखा है। अत: धर्म, राजनीति और संस्कृति में अन्तर करना कठिन हो गया है। कथावाचक की दृष्टि इसे भाँप चुकी थी-

''इन दिनों पुरानी संस्कृति और नवीन संस्कृति के संक्रमण से भारत गुजर रहा है। लोकमान्य तिलक, मालवीय तथा गाँधी जी पुरानी संस्कृति के नेता थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने नई संस्कृति ही बढ़ाई। पंडित नेहरू भारत के भेदों को अपने जीवन में दूर नहीं कर सके। प्रथम तो उनके पास वह संस्कृति नहीं है, जो गाँधी के पास थी। वे खुशामदी मंत्रियों से घिरे हुए हैं, जो इन्हें इसी जगत में रखना चाहते हैं। जहाँ वे आज हैं। जनता टैक्स महंगाई, खाद्य संकट से भरी हुई है। आवश्यकता है नये पुरुष की।'' (22 अगस्त 1959)

सत्ता किसी भी पार्टी की हो, उसकी सफलता-असफलता में तंत्र की भागीदारी महत्वपूर्ण है। कथावाचक ने आजादी पूर्व और आजादी के बाद की राजनीति को आँखों से देखा है। अत:-''अंग्रेजी राज में मेरी धारणा थी कि कलक्टर, कमिश्नर, जज जैसी बड़ी हस्तियों को छोड़कर नीचे सभी विश्वास के योग्य नहीं हैं। पुलिसवाले की न दुश्मनी अच्छी, न दोस्ती। आज स्वराज मिले 12 वर्ष बाद भी मैं यह देख रहा हूँ। कानून बनाती लोकसभा है पर उसका अमल (पालन) होता इसी अमले के कारण पर यह अमला जब तक शुद्ध न हो, न जनसेवक न हो, जनता दु:खी रहेगी। तभी तो उसमें जनसंघ, प्रजासमाजवादी पार्टी, कम्युनिष्ट, स्वतंत्र दल पैदा हुए। नहीं तो कांग्रेस की कुर्बानियां कौन नहीं मानता। पर कांग्रेस अब वह नहीं।'' (29 अगस्त 1959)

आज कांग्रेस व अन्य दल किस चौराहे पर खड़े हैं। इस विषय पर पंडित जी की डायरी पढ़ने की आवश्यकता है। मैंने आलेख के प्रारंभ में जिस कूटनीति की चर्चा की है, वास्तव में वह छलनीति ही है। इसे कथावाचक की डायरी में पढ़ने की आवश्यकता है-''मनुष्य तो साम्यवादी होना चाहिए। यह तो राजनीति कूटनीति का व्यापार छलनीति संसार में चल रही है। इसके अंत में झगड़ों का समझौता होने के समय ही संकट होता है। तभी मामला सुलझता है।'' (14 सितम्बर 1959)

राजनीतिक उठापटक का खामियाजा जनता भुगती है। कथावाचक स्थिर सरकार राजनीति के पक्षधर थे। अत: आपने डायरी में लिखा है-''भारत जब क्षत्रिय राज्य था, तब भारतीयों का चरित्र इतना गिरा हुआ नहीं था, जितना मुस्लिम शासन में गिरा। गिरे चरित्र में अंग्रेज आये, उन्होंने खुशामदी, भीरू बनाया। गाँधी ने जरूर उठाया, निश्चय ही कांग्रेस के साथ मिलकर स्वराज्य दिलवाया। पर कांग्रेसियों ने हमारा पेट नहीं देखा, जीविका पर ध्यान नहीं दिया... हम चोर बन गये। जीविका से ज्यादा टैक्स की कठिनाइयां, रिश्वत बढ़ी, हम भी और गिरे। सरकारी लोग और भी गिरे। दोनों को मिलाकर भारत का चरित्र-बल समाप्त हो रहा है।'' (24 सितम्बर 1959)

आज की राजनीति जनता को पाकिस्तान के मुद्दे पर जनता को उलझाए रखना चाहती है, लेकिन चीन के खाये थप्पड़ पर हम आज भी मौन हैं। भारतीय राजनीति चीन की चर्चा दबी जबान से करती है? इस विषय में कथावाचक का दर्द डायरी में अभिव्यक्त हुआ है-''चीन लद्दाख में 40-50 मील घुस आया, 17 भारतीय सैनिक मार दिये। भारत के नेता विरोध-पत्र लिखना जानते हैं। मैं समझता हूँ चीन के इस आक्रमण में रूस का इशारा अवश्य है। अमेरिका से उसका विरोध है ही। अमेरिका पाकिस्तान में अपना अड्डा बनाया है। उसके मुकाबले में लद्दाख में कम्युनिष्ट अड्डा बनाने की उसकी प्रायोजना तो नहीं है। भारत की चलेगी नहीं। चीन की मंशा भी तो पूरी होगी क्या?'' (24 अक्टूबर 1959)

आज की राजनीति जिस राह पर है, इसकी भविष्यवाणी पंडित राधेश्याम कथावाचक ने वर्ष 1959 में कर दी थी। अपनी डायरी में लिखा-''स्वप्न देखने वालों को काल्पनिक चश्मा उतारकर भारत का यह स्वरूप देखना चाहिए। धार्मिक भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना चलायी जाए तो जनता आसानी से शासन के साथ होगी।... यह अंधा चश्मा है। ...देश की शिक्षा इतनी पिछड़ रही कि तौबा-तौबा इसका कारण था मौलाना आजाद के हाथों में शिक्षा सौंपना। उन्हें शिक्षामंत्री बनाना। इसी प्रकार अजीत प्रसाद जैन भी असफल खाद्य मंत्री रहे। यह चुनाव ही गलत था। दो ही मंत्री श्रेष्ठ हुए-पटेल और किदवई। स्वराष्ट्र मंत्री होकर पटेल ने राजा-नवाबों को गद्दी से हटाया। वह तो कश्मीर रगड़ा भी खत्म कर देते, पर विवश हो गये। इसी तरह

किदवई ने खाद्य को कंट्रोल से जोड़ा-जनता को अपनाना और जिन्दा रहते तो किसानों और अनाज के व्यापारियों से सस्ता गल्ला बिकवाते, खाई पाट देते।" (9 नवम्बर 1959)

पंडित राधेश्याम कथावाचक का विश्वास था कि जब "शासक और जनता दोनों ही ईमानदारी और सच्चाई बरतें तब देश बने।" (13 नवम्बर 1959) आज समय बदल गया है। देश की परिस्थितियाँ भी आज बदली-बदली हैं। लेकिन एक कमी आई है चरित्र की। कथावाचक इस चाल को पहचान चुके थे-"जनता चरित्रहीन हो गई। क्यों हुई? नेताओं के चरित्रहीन होने के कारण... गाँधीजी के समय में उनके व्यक्तित्व और चरित्र का कैसा अच्छा प्रभाव था। उसी ढंग पर आज के नेता झोंपड़ों में रहते होते और देश को आदर्श बनाया होता तो निश्चय बनता, पर यह तो पश्चिमी ढंग पर चले। युवक-युवती सब कामान्ध हो गये। सतीत्व राह चलते बिकने लगा। झूठ बोलकर अपना मतलब सिद्ध करना ही आज की योग्यता है।" (30 नवम्बर 1959)

कथावाचक वर्ष 1959 की डायरी में व्यक्त विचारों में तर्कशक्ति की प्रधानता है। उन्होंने उन परिस्थितियों को देखा और अनुभव किया है। ये विचार उनका भोगा हुआ कालखण्ड का हिस्सा हैं। इन विचारों में रिपोर्ताज के गुण भी है। वर्ष पर्यन्त लिखी गई डायरी को पढ़कर कथावाचक कृतित्व-व्यक्तित्व को समझने में आसानी होगी। जीवन के अछूते प्रसंगों की झलक भी यहाँ है। वर्ष 1960 की लिखी गई डायरी कथावाचक के विचारों की अन्तिम यात्रा है। इस काल-खण्ड की लिखी गई डायरी अधिक गंभीर एवं सूत्र रूप में है। एक झलक-

"आज जमाना उसका है, जो तिकड़मी हो, सांसद हो या मिनिस्टर। कौन सुनता है उपदेशों को, कथावाचकों की बात महान सन्त विनोवा भावे की भी आवाज अब हवा में उड़ जाती है। वेद-पुराण शास्त्र, धर्मग्रंथ शंका की चीजें बन गईं। गन्दी कहानियाँ, सिनेमा आदि ने दिल-दिमाग खींच लिए।" (26 फरवरी 1960) आज की परिस्थितियाँ बदली-बदली हैं कुछ इस प्रकार-"खेत पहले खुदता है फिर बीज डालते हैं। समय-समय पर पानी देते हैं। फसल पकने पर काटते हैं। स्वराज की खेती में खेत खोदा गोखले नौराजी आदि ने बील डाला लाल-बाल-पाल ने। फिर समय-

समय पर पानी दिया मालवीय, मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु, पटेल ने। अन्त में पूरा पकने पर कार्य किया गाँधी ने। आज के नेता तो उस पकी-पकाई फसल को काट रहे हैं।'' (28 फरवरी 1960)

सत्ता अंधी और बहरी होती है-'धृतराष्ट्र' की तरह। जब कांग्रेस को सत्ता-सुख भोगने का अवसर मिला तो उसने भी किसी की नहीं सुनी, कुछ इस प्रकार-

''शासन सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी के कर्णधार में जब महामान्य विनोवा की नहीं सुनी, असाधारण जनसेवक पुरुषोत्तम टंडन की नहीं सुनी, परम विद्वान आचार्य कृपलानी की नहीं सुनी, पूर्ण देशभक्त जयप्रकाश नारायण की नहीं सुनी, कर्मठ गाँधी भक्तराम मनोहर लोहिया की नहीं सुनी, तो छुटभइयों की कहां सुन सकते हैं। प्रभुता पाये काहे मद नाहीं।'' (22 मार्च 1960)

शुद्ध सनातनी घर में पैदा हुए कथावाचक का मन आज की राजनीति चालों से विचलित था। वे राजनीतिक क्षेत्र के व्यक्ति नहीं थे। अत: उन्होंने अपने समय की राजनीति के विषय में जो कुछ डायरी में लिखा, निष्पक्ष रूप में-''मैं शुद्ध सनातनी घर का बालक रामायण लिखकर-बाँचकर विख्यात हो गया। कुछ नाटक लिखकर नाटक लेखक प्रसिद्ध हो गया। राजनीतिक कूटनीतिक गहराई को क्या जानूँ। जवाहर लाल नेहरू पर टीका टिप्पणी करता मेरी अनाधिकार चेष्टा है। जनता में रहने के कारण उसके सुख, दु:ख, रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा तथा बीमारी आदि मेरा मन विचलित करते हैं।'' (28 मार्च 1960)

वस्तुत: राजनीति में (कथावाचक ने) भी बरसों पहले जो सूझ लिखी है अब राजनैतिक भी वही करने लगे हैं। यह कवि सूझ है। (15 अप्रेल 1960) आपने आगे लिखा-''भारत धर्म-प्राण देश है। राजनीति के नेताओं से यह पूर्णरूपेण नहीं उठेगा। स्वराज्य मिला तो सत्य-धर्म के पुजारी गाँधी के कारण। प्रकृति की कृपा से फिर कोई धर्मनेता प्रकटेगा। तभी अच्छा होगा।'' (3 जुलाई 1960)

कथावाचक करते हुए भी कथावाचक की दूरदृष्टि आज सत्य लग रही है-''संसार आजकल अनिश्चित शांति पर चल रहा है। यूरोप और एशिया में राजनीति का अखाड़ा खूब डटा हुआ है। चीन के रवैया ने भारत में बेचैनी पैदा कर दी है। अब

तक पाकिस्तान ने बेचैन कर रखा था। अब चीन ने भी। कल क्या होगा–यह कौन जान? धर्मनीति गिर रही है।'' (22 जुलाई 1960)

पंडित कथावाचक के घर में देश के कोने-कोने से पत्र-पत्रिकाएं आती थीं। वे उन्हें पढ़ते थे। पढ़कर अपनी राय बनाते थे। उन विषयों को भी डायरी में अपने रूप में लिखा है- ''हम रोजाना अखबार में पढ़ते आ रहे हैं देश में झगड़े और पार्टीबाजियाँ सदा ही रहीं और रहेंगी। इसी प्रकार बड़े घरों में भी कोई न कोई बात नित्य ही रहेगी। तब हमें अनेक प्रभाव में न आकर अपना जो कर्त्तव्य हो वह कर देना चाहिए, बस–

इश्क़ में चर्चे यों ही रहेंगे,
हम न होंगे जमाना होगा।
नहीं पूरे होने के दुनिया के धंधे,
तू कब तक यहाँ दिल लगाता रहेगा।

(3 अक्टूबर 1960)

कथावाचक को अपनी मर्यादा का ध्यान था, अतः राजनीति की बातें उन्होंने सूत्र रूप में लिखा है–''राजनीति की बातें सूत्र रूप में हो सकती है... अन्यथा हम धर्माचार्य भी कब हैं? कवि या कथाकार हैं।'' (4 नवम्बर 1960)

अपने समय की राजनीति और उसके चरित्र से कथावाचक का मन विचलित रहता था। डायरी में लिखे विचारों को वे अपने नाटक 'रावण-राज्य' में उतारना चाहते थे। (राधेश्याम कथावाचक : डायरी का व्याकरण से; प्रथम संस्करण : 2019, पृष्ठ : 74-88)

हरिशंकर शर्मा

पंडित राधेश्याम कथावाचक और ललित गोस्वामी

पं. राधेश्याम कथावाचक का नाम सुनते ही छह दशक पूर्व के भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के अनेक स्मृति चित्र मानस में कौंधने लगते हैं, जब उत्तर भारत और मध्य भारत के धर्मपरायण नागरिकों में राधेश्याम कथावाचक की संगीतबद्ध सरस कथा सुनने का चाव व्यापक रूप में फैला हुआ था। बीसवीं सदी के मध्यमान में रामकथा का सर्वाधिक लोकप्रिय प्रस्तुतीकरण खड़ीबोली के लयबद्ध छंद में निबद्ध बरेली के राधेश्याम कथावाचक द्वारा की गई 'राधेश्याम रामायण' की संगीतमय शैली में गायन के द्वारा ही होता था। नगर-नगर और गाँव-गाँव में राधेश्याम रामायण की पहचान फैली हुई थी।

इस रामायण के रचनाकार बरेली के यशस्वी कवि और नाटककार श्री राधेश्याम कथावाचक थे जिनकी ख्याति समूचे भारत में फैली हुई थी। मुझे यद्यपि उनसे सम्पर्क का अवसर नहीं मिला था, किन्तु मेरे भ्राता सुमधुर गीतकार स्व. 'ललित गोस्वामी' उनके निकटस्थ थे। ललित गोस्वामी उनके निकटस्थ अत्यंत प्रिय सहायक रचनाकार थे। वे उनकी चर्चा निरन्तर किया करते थे। पं. राधेश्याम कथावाचक की साहित्य रचना के दो रूप (आयाम) सुविदित रहे थे। एक तो राधेश्याम रामायण की रचना और उसी शैली में उसी छंद में अन्य अनेक धार्मिक कथाओं की रचना जिसमें कृष्णकथा से लेकर सत्यनारायण भी थी, जो देशभर में गाई जाती थी। उनका एक अन्य आयाम था उन दिनों लोकप्रिय हुए पारसी थियेटर के अनेक नाटकों का लेखन जिनकी रंगमंच पर प्रस्तुति जनमानस को बाँधे रखती थी। वीर अभिमन्यु, भक्त प्रह्लाद, श्रीकृष्णावतार इत्यादि उनके नाटक सुविदित हो गये थे।

इस प्रकार पारसी थियेटर के नाटककार और रामायण के कथाकार के रूप में बरेली के राधेश्याम कथावाचक बीसवीं सदी के अनेक दशकों तक भारतीय साहित्य प्रेमियों में छाए हुए थे। साहित्य के इतिहास में भी उनका नाम उभरकर आ गया था।

25 नवम्बर, 1890 ई. को जन्मे राधेश्याम कथावाचक अपनी मृत्यु के दिवस 26 अगस्त 1963 ई. तक हिन्दी साहित्य सेवकों और पारसी थियेटर के प्रेमियों में जाने माने रचनाकार रहे थे। मेरे परिचितों में तीन चार बरेली और मथुरा के कथाकार भारत के अनेक नगरों में राधेश्याम कथावाचक की संगीतमय प्रस्तुति देकर लोकप्रिय हो गये थे। मथुरा में जन्मे और जयपुर में वर्षों तक काव्य-रचनाकार लोकप्रिय होने वाले गीतकार ललित गोस्वामी राधेश्याम कथावाचक के निकटस्थ साहित्यकार रहे थे, उनके अत्यंत प्रिय थे। उनके आदर्शपन उनकी शैली में उन्होंने उनके कथाकाव्यों की रचना की थी। 'ललित गोस्वामी' का पूर्व नाम था-पुरुषोत्तम भट्ट। कविता रचनाकार के रूप में वे अपना नाम ललित गोस्वामी लिखा करें पर प्रेरक भी राधेश्याम कथावाचक ने उन्हें दीक्षा दी, यह भी कहा जाता है।

श्री राधेश्याम कथावाचक बीसवीं सदी के मध्य में समूचे भारत में इतने लोकप्रिय हो गये थे कि उनका नाम जुड़ते ही पत्र-पत्रिकायें चल निकलीं, कोई भी प्रकाशन उनके नाम जुड़ने से प्रसिद्धी प्राप्त कर लेगा यह धारणा बद्धमूल हो गई थी। यही कारण है कि कुछ फ़िल्मों को भी उनके नाम से जुड़ी होने के कारण जनता में विशेष मान्यता मिली थी, यह धारणा भी चल निकली थी। सन् 1953 में सोहराब मोदी ने यशस्वी फ़िल्म 'झाँसी की रानी' अवतरित की जिसने विशेष प्रसिद्धी प्राप्त की, उसके साथ भी राधेश्याम कथावाचक का नाम गीतकार आदि के रूप में जुड़ा था। इसकी जानकारी तत्कालीन विमर्शकों को अवश्य होगी। (महामहोपाध्याय देवर्षि कलानाथ शास्त्री, राष्ट्रपति सम्मानित सी / 8 पृथ्वीराज रोड, सी स्कीम, जयपुर का आलेख-'एक कालजयी व्यक्तित्व : राधेश्याम कथावाचक')

कथावाचक ने अपनी डायरी (13 नवम्बर, 1960 ई.) में अपने प्रिय शिष्य ललित गोस्वामी की आकस्मिक मृत्यु से अधिक विचलित थे। डायरी में वर्णित पीड़ा को अनुभव्व किया जा सकता है।

''मणिक लालजी की कम्पनी में ललित गोस्वामी था। चौबे रामकृष्ण को वह अपना गुरु मानता था। चौबे ने मुझसे कहा-गोस्वामी को अपने साथ ले जाओ, कथा-लेखक बनाओ और नाटककार भी।'' मैं चौबे के कहने पर ललित को अपने साथ ले आया। कथा लेखन सिखाना तो शुरू कर ही दिया था-अब समय आया कि स्टोरी-संवाद लेखन में भी लगाऊँ। ललित गोस्वामी रचित और मेरी सम्पादित कई कथायें

राधेश्याम प्रेस से प्रकाशित हुई हैं-'पार्वती मंगल', 'नरसी का भात', 'नारद मोह', 'सूरदास', 'महाभारत सीरीज' के कई भाग। निसन्देह ललित गोस्वामी ने 'कविता की कला' को बहुत कुछ समझ लिया है। आज कल रेडियों में उसके गीत खूब चलते हैं। कई वर्ष से-बम्बई ही अधिकतर रह रहा है। फ़िल्मी लाइन में काम करने की उसमें बड़ी उमंग है। ईश्वर उसे सफल प्रयास करे। वह भी मेरे साथ बम्बई के सफ़र में था। (मेरा नाटककाल, पृष्ठ : 279, सन् 1957 संस्करण, पं. राधेश्याम कथावाचक) कथावाचक के अनेक नाटकों फ़िल्मों के संवाद ललित गोस्वामी ने लिखे हैं। पंडित राधेश्याम कथावाचक ने सन् 1933 ई. 'सत्यनारायण' फ़िल्म की पटकथा और गीत लिखे थे। लीला 'चिटनिस' इस फ़िल्म की नायिका थी। मुहूर्त फ़िल्म डायरेक्टर वी. शांताराम ने किया था। इस फ़िल्म के दौरान ही टाइम्स ऑफ इंडिया के वीकली पत्र 'इलस्ट्रेड वीकली' के मुख्य पृष्ठ पर कथावाचक का यह लिखते हुए एक बड़ा चित्र प्रकाशित किया था कि वे फ़िल्म सत्यनारायण ही बनवा रहे हैं। फ़िल्म के प्रदर्शित होने पर जनता में संवादों को काफी पसंद किया। उनकी फ़िल्म भी सफल रही। (रणजीत पांचाले : आलेख पं. राधेश्याम कथावाचक और फ़िल्मी दुनिया)

पं. राधेश्याम कथावाचक ने श्री सत्यनारायण नाम से जिस फ़िल्म का निर्माण किया उसकी दुर्लभ पाण्डुलिपि मेरे संग्रह में है। इसके प्रारम्भ का भजन है-

तू ही आधार सकल जल थल का
संचालक त्रिभुवन मण्डल का
तू ही ब्रह्मा विष्णु महेश्वर
वरदायक आनंद मंगल का
तू ही सत्य, नारायण तू ही
धन निर्धन का, बल निर्बल का।

रजिस्टर में दर्ज कलाकारों की लम्बी लिस्ट है। उसमें उनके पुत्र बलराम का भी उल्लेख है। एक गीत रजिस्टर के अन्त में दर्ज है-

संसार को स्वप्न समझना, मत फसना
हे प्राणी तू, नारायण नित जपना

प्राणी नारायण नित जपना
सत्य मार्ग ही मोक्ष मार्ग है-इतना भूल न जाना
माया से जो बचना हो तो
हरि भजना, छल तजना
हे प्राणी तू, नारायण नित जपना।

बम्बई प्रवास के समय ललित गोस्वामी भी पण्डित जी के साथ थे। इस फ़िल्म की पटकथा में अनेक संशोधन ललित गोस्वामी के भी हैं।

पं. राधेश्याम कथावाचक ने जुहू (बम्बई) में रहकर 20-10-1951 ई. में आजादी फ़िल्म के लिए पटकथा लिखी थी। इस पटकथा के अनेक गीत-संवादों में ललित गोस्वामी के योगदान को कैसे भुलाया जा सकता है। इस पाण्डुलिपि के अन्त में अनेक गीत ललित गोस्वामी के हस्ताक्षर से लिखे गये हैं। कथावाचक ने कथा लेखन के साथ-साथ संवाद लेखन में भी ललित गोस्वामी को प्रशिक्षित किया था। मेरा नाटककाल में कथावाचक ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। 'आजादी' के टाइटल्स की बैक ग्राउंड में यह गीत बजता था-

उठो उठो हे जहान वालो
सारा जहाँ बदल डालो
बदल जाओ, तुम यह ज़मीन
और यह आसमाँ बदल डालो।

फ़िल्म की शुरुआत कॉलेज पर लगे एक पोस्टर से होती है। राधेश्याम कथावाचक के सहयोगी ललित गोस्वामी का पूरा नाम पुरुषोत्तम भट्ट था। भ्रमर पत्रिका में उनकी रचनाएं 'ललित' नाम से प्रकाशित होती थी। 'स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त' शीर्षक उनका एक आलेख 'भ्रमर' (फरवरी 1927 ई.) में प्रकाशित हुआ है। यहाँ उनका नाम श्रीयुत ललित अंकित है। यह आलेख उनकी साहित्यिक अभिरुचि का परिचायक है। वे स्वयं एक गीतकार थे। यह आलेख यहाँ अविकल प्रस्तुत है-

''हिन्दी के लेखक आलोचक और साप्ताहिक 'भारत मित्र' के सम्पादक स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त के नाम से कौन हिन्दी प्रेमी परिचित नहीं है? गुप्त जी का जन्म

कार्तिक शुक्ल, 4 संवत 1912 में रोहतक जिले के गुरियानी ग्राम में हुआ था। यह अग्रवाल वैश्य थे। सर्वप्रथम गुप्त जी के हाथों में चुनार से प्रकाशित होने वाले उर्दू पत्र 'अखबार चुनार' (सन् 1887) का सम्पादक भार आया था। सन् 1889 में आपने चुनार के पत्र से सम्बंध विच्छेद कर लिया और लाहौर के पत्र 'कोहेनूर' का सम्पादक करने लगे। उपर्युक्त सन् के अन्त में आप काला काँकर के पत्र 'हिन्दोस्तान' हिन्दी दैनिक में पहुँच गये। यहाँ आपका परिचय पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वर्गीय प्रताप नारायण मिश्र से हुआ। हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने में आपको बहुत सहायता मिली। तदोपरान्त पाँच वर्ष तक गुप्त जी 'हिन्दी बंगाली' का सम्पादन करते रहे। सन् 1898 में आपने 'भारत मित्र' का सम्पादन प्रारम्भ किया और अन्त तक वहीं रहे।

जिस समय गुप्त जी ने भारत मित्र को अपने हाथ में लिया उस समय भारत मित्र को कोई नहीं जानता था। उनकी मेहनत रंग लाई और भारत मित्र का नाम कर दिया। गुप्त जी हास्य के अद्वितीय लेखक थे। कभी-कभी सरकारी दफ्तरों की तीव्र आलोचना भी करते थे। वे स्वभाव से सरल और सनातन धर्म के पक्के अनुयायी थे। सब बातों में प्राचीनता के भक्त थे। परन्तु सच्ची बात कहने में कभी न चूकते थे।

गुप्त जी ने लगभग सात ग्रंथ रचे। शिवशम्भू के चिट्ठे से हिन्दी संसार में आपकी धाक जम गयी। इससे आपका स्वदेश अनुराग और हास्य प्रियता प्रकट होती हैं। आप गम्भीर लेख भी लिखते थे।

गद्य लेखक होने के साथ-साथ पद्य रचनाएं भी आप करते थे। आपकी कुछ कविताओं का नमूना नीचे दिया जा रहा है-

मम मुख 'पौडर रोज' सो, मानहु खिल्यो गुलाब।
तुम खड़ि माटी पोते के माथो कियो खराब।।
मेरे चरन विलायती, चिकनी सुन्दर बूट।
नागौरा तब पाय मैं, ठाँव ठाँव रहे टूट।।

बाबरची के हाथ हम, खाँय सदा तर माल।
चूल्हा फूंकत तुम सदा, खाओ रोटी दाल।।

हां सदाशिव गोरव जागे, सदा शिव गोरव जागे।
लन्दन जागे, पेरिस जागे, अमेरिका भी जागे।
ऐसा नांद करूं भारत में सोता उठकर भागे।।

यती जी इसका खोलो भेद।
अण्डा भला कि मण्डा बाबा आंत भली या मेद।
बिस्कुट भला कि सोहन हलवा बक बक भली कि वेद।।

एक अन्य काव्य पंक्तियाँ-
साधो पेटबड़ा हम जाना।
यह तो पागल किये जमाना।।

मात पिता, दादा दादी, घरवाली नानी नाना
सारे बने पेट की ख़ातिर, बाकी फ़क़त बहाना।।

(भ्रमर पत्रिका : फरवरी, 1927 ई.)

जयपुर निवासी-ललित गोस्वामी का वास्तविक नाम 'पुरुषोत्तम भट्ट' था। कथावाचक के कहने पर उन्होंने 'ललित' तथा 'ललित गोस्वामी' नाम से गद्य-पद्य रचनाएं लिखी हैं। कथावाचक के अप्रकाशित नाटकों की पाण्डुलिपि अवलोकन के दौरान ज्ञात हुआ कि उनके नाटकों के संशोधन, संवाद तथा गीत लेखन में ललित गोस्वामी का महत्वपूर्ण योगदान है। वे आजीवन अविवाहित रहे और आज उनके दो भाई भी इस संसार में नहीं हैं। इस अज्ञात साहित्यकार के कर्म पर यह मेरा पहला प्रयास है। राधेश्याम कथावाचक प्रेस से प्रकाशित ग्रंथ-'पार्वती मंगल', 'नरसी का भात', 'नारद-मोह', 'सूरदास' और 'महाभारत सीरीज' के कई भाग के संशोधन कथा लेखन तथा संवाद द्वारा निसंदेह ललित गोस्वामी ने काव्य कला के मर्म को समझ लिया था। कई फ़िल्मों के सिलसिले में वे कथावाचक के साथ बम्बई में साथ-साथ रहे।

कथावाचक के अप्रकाशित नाटक 'उद्धार' बरेली में रहकर (संवत 2008,

जन्माष्टमी के दिन) पूर्ण किया था। नया विषय का यह नाटक फ़िल्म पटकथा के निकट है। इसमें ललित गोस्वामी का यह गीत उन्हीं के हस्ताक्षर युक्त है-

भगवान, भगवान, भगवान
भगवान यह क्या हो गया?
मैं लुट गई, हाय मेरा, अनमोल मोती खो गया
हे देवता, तूने मुझे पूजा का अच्छा फल दिया
जिसके सहारे जी रही थी, आज वह ही चल दिया
मेरी तरह तू भी बता क्या सो गया? भगवान
इक आग सी मन में है, आँखों में है इक बरसात सी
ढूँढ़ती फिरती हूँ चंदा को अंधेरी रात सी
जो खे रहा था-वही नाव डुबो गया। भगवान...

(ललित गोस्वामी, 9-11-1941 ई.)

'उद्धार' नाटक में ललित गोस्वामी का एक अन्य गीत उनकी कलम का परिचय देने के लिए पर्याप्त है-

हे लौ जवां तू जब तक बरबाद नहीं होगा
बागे वतन वो तेरा आजाद नहीं होगा
जिद कर तो उठेगा तू
सिर कर ही न देना तू
मातम के बिना तेरा-दिलशाद नहीं
जब तेरा सर करेगा कौमी निशां उड़ेगा
फिर तेरे आसियां में सरयाद नहीं होगा
ये राज है तेरा ही
ये ताज है तेरा ही
छीनेगा जो हक तेरा-आवाज नहीं होगा।

यह गीत कुछ अधूरा है। गीत में ग़ज़ल की रवानी भी है और देश प्रेम का संदेश भी। नये मिजाज का यह गीत।

पं. राधेश्याम कथावाचक ने 'आजादी' फ़िल्म के लिए पटकथा संवाद जूहू (बम्बई) में रहकर (20-10-1951 ई. में) लिखे थे। इस दौरान ललित गोस्वामी भी उनके साथ थे। आजादी (नाटक / फ़िल्म) के बैक ग्राउंड में जो गीत शुरू में बजता था उसके लेखक थे ललित गोस्वामी। गीत के बोल हैं-

उठो, उठो हे जहान वालो,
सारा जहां बदल डालो
बदल जाओ तुम, यह ज़मीन
और यह आसमां बदल डालो।

नये विचार का यह नाटक, फ़िल्म की तर्ज पर नये भारत का संदेश देता है। आजादी का एक महत्वपूर्ण पात्र 'अकमल पठपुतली' का गीत गाता है। गीत में हास्य व्यंग्य के साथ-साथ समाज की यथास्थिति का भी चित्रण-

अहा हा हा कठपुतली का
तमाशा जो देखे-देखता
रह जाये, नहीं देखे तो
पछताये, भूखा जनम गंवाये
गोरा देखे, काला देखे
दिल्ली-बम्बई वाला देखे
शहर का हाक़िम आला देखे
अम्मा देखे खाला देखे
बड़े सेठ का साला देखे
खेतों का रखवाला देखे
बोझ उठाने वाला देखे।

देखो-देखो राजा साहब ने
अयाशी की हद कर दी,
रिआया भूखों मर रही है
दीवान साहब जुल्म ढा रहे हैं।

पं. राधेश्याम कथावाचक के साथ रहते हुए गीत विधा में ललित गोस्वामी ने नई ऊँचाईयों को छुआ। 'गीत मेरे' उनका चर्चित गीत संग्रह है। इसकी भूमिका दूरदर्शन के निदेशक एवं गीतकार 'नरेन्द्र शर्मा' ने लिखी थी। गीत संग्रह का प्रकाशन एस. चाँद एण्ड कम्पनी से प्रकाशित हुआ था। 'गाता जाय बजरंग' ललित गोस्वामी का दूसरा गीत संग्रह है। ललित गोस्वामी के कथा लेखन, संवाद लेखन, गीत, नाटकों एवं फ़िल्मों में सक्रियता का समय सन् 1930 से 1950 ई. तक रहा है। राधेश्याम कथावाचक की डायरी से ज्ञात होता है कि आपकी मृत्यु सन् 1960 में हुई। इनकी जन्म तिथि के विषय कुछ ज्ञात नहीं हो सका। मथुरा में जन्म और लम्बे समय तक जयपुर में निवास किया, यहीं इनकी मृत्यु भी।

ललित गोस्वामी जब भी प्रवास से लौटते थे वे किला, बरेली स्थित दाऊजी मन्दिर में अपने जीजा यदुनन्दन गोस्वामी एवं बृजनन्दन गोस्वामी के यहाँ ठहरते थे। कथावाचक के साथ काम करते समय उन्ही के निवास पर रहते थे। वे आजीवन अविवाहित रहे। अत: उनके गीतों में एकाकीपन की आहट भी है। ललित गोस्वामी के कई गीत मुझे बरेली से संगीताचार्य श्री अवधेश गोस्वामी की हस्तलिखित डायरी से प्राप्त हो सके हैं। उन्हें अविकल दिया जा रहा है–

याद आई तुम न आए
तुम न आए, तुम न आए
खिल गई कलियां चमन में,
भर गई मस्ती पवन में,
झूम कर कोयल मिलन,
संदेश लाई, तुम न आए
हँस पड़ी पूनों सुहानी
रंग लाई रात रानी,
देख चंदा को चकोरी,
मुस्कराई तुम न आए
मेघ छाए सांवले से
मोर नाचे बावले से
प्यास धरती की गगन

ने भी बुझाई
तुम न आए, तुम न आए

ललित गोस्वामी के गीतों को अवधेश गोस्वामी ने आकाशवाणी पर गाया भी है। आकाशवाणी रामपुर (उ.प्र.) केन्द्र से 16-02-1984 ई. में दोपहर 12:30 बजे प्रसारित यह गीत-

हे चन्द्रमुखी तुम रहो सुखी
मेरा क्या मैं तो जी लूँगा
फूल और काँटे जब दोनों, दुनिया में बाँटे जायेंगे
दो चार फूल जो किस्मत से, मेरी झोली में आयेंगे
वो भी कर दूँगा भेंट तुम्हें
बस मैं तो काँटे ही लूँगा।
मालिक द्वारा विष अमृत का जब दुनिया में बंटवारा हो
मरने से सब घबरायेंगे जीवन सबको ही प्यारा हो
मैं दोपहर अमृतदान तुम्हें
विश्वास करो विष पी लूँगा।
वरना ये ग़म सहते-सहते जब होठों पे दम आ जाये
लेकर नाम पिया का पावन तम वाणी से कभी न जायेगा
उर में जो घाव हुए गहरे,
उनको संयम से सी लूँगा।

(ललित गोस्वामी)

ललित गोस्वामी के गीतों की कुछ पंक्तियाँ मन को गुदगुदाती भी हैं और पीड़ा का अहसास भी-

आओ नैया पार लगाओ,
मोहे मिलन के गीत सुनाओ
काहे रूठे मोसे कन्हैया,
तुम बिन कटे न रतिया।

पूनम अपने घर में सोयी
पावस अपने पर खुद रोयी
चाहे साथ रहा युग-युग से
लेकिन प्यार नहीं पा पाया।

तारे किसकी नींद सो गये
जो अपने से दूर हो गये
पथ का अंधियारा पांव धरे
कोई दीप नहीं जल पाया।

स्व. ललित गोस्वामी को देवर्षि कलानाथ शास्त्री (जयपुर) ने 'रससिद्ध कवि' कहा है। लगभग 85 वर्षीय कलानाथ जी अपनी स्मृतियों को टटोलते हुए कहते हैं- असाधारण जन्मजात काव्य प्रतिभा के धनी, हिन्दी के सुमधुर गीतों के राजकुमार सुललित और दृश्यावर्जक शैली शिखर पुरुष रहे ललित गोस्वामी आज इतिहास के तहखाने में इस प्रकार तिरोहित हो गये हैं कि राजस्थान बनने के पश्चात पन्द्रह वर्षों तक आकाशवाणी से लेकर पत्रिकाओं तथा फ़िल्मों तक छाए रहने वाले इस गीतकार का नाम आज की पीढ़ी के लिए पूर्णत: अपरिज्ञात है। आकाशवाणी से आपके गीत प्रसारित होते थे। देशभर के कवि सम्मेलनों में काव्य-पाठ करते थे। ललित गोस्वामी के पिता गोवर्धन भट्ट, जो नाथद्वारा के विद्याविभाग के अध्यक्ष रहे थे। पं. राधेश्याम कथावाचक के सम्पर्क में आने के पश्चात उनकी प्रेरणा से इन्होंने काव्य नाम ललित गोस्वामी रखा जो सुविदित हो गया। इनमें काव्य प्रतिभा जन्मजात थी। स्वतंत्रता विपन्न और साधनहीन अवस्था में इनके परिवार ने जयपुर की हथरोही कच्ची बस्ती में दस-पन्द्रह वर्षों तक गुजारा किया। ललित गोस्वामी का विधिवत कोई शिक्षा नहीं हुई थी। परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ यह रचनाकार काव्य रचना करता रहा।

विगत शताब्दी के मध्यकाल में गीत विधा के प्रमुख ललित रचनाकारों में इनका नाम परिगणित होने लगा था। तभी ललित गोस्वामी के देहावसान का यह परिणाम हुआ कि इसके बाद के साहित्येतिहासकारों और समीक्षकों ने कहीं इनका उल्लेख नहीं किया। अत: ये अज्ञात रह गये। इनके गीतों में लालित्य भी था, कथ्य की भंगिमा भी। मुझे इनका एक गीत स्मरण हो रहा है-

बिन्दु में सिन्धु का वास है इसलिए, यह मिलन का निमिष है युगों से बड़ा। इसमें एक क्षण में अनेक युगों की अनुभूति की भंगिमा उल्लेखनीय है। 'मेरे घर में चाँद रहा था' जैसी ललित गीतियाँ हल्के फुल्के प्रेमान्मोद की अभिव्यक्ति करती है। उद्‌गार भाँति-भाँति से व्यक्त किये हैं। उन्होंने हिन्दी और ब्रजभाषा के कुंडलिया छंदों में चाय पर चालीस अभ्युक्तियाँ बड़ी सहज और चुटीली शैली में काव्यबद्ध की थीं। एक है-

गुजारती हूँ एक दिन मिली न दिन भर चाय
हाथ-पाय टूटन लगे मची हाय ही हाय
लगी सैकड़न सुई, हजारन के बिल आए
कह बंडल कविराय, चाय मिलते ताती
तबियत सारी छे, झट बोल उठ्यो गुजराती।

यहाँ गुजरात में चाय को लोकप्रियता का विवरण जिस मासूमियत से किया है, उसे पढ़कर कोई भी गुजराती रुष्ट नहीं होगा। यह कवि ललित गोस्वामी की निश्छल अवतारणा है। गिरधर कवि कुंडलियों की पैरोड़ी के रूप में रसनीय बन गई थी, अब दुर्लभ हो गयी है। (देवर्षि कलानाथ शास्त्री, जयपुर से हुए वार्तालाप के आधार पर)

वस्तुतः ललित गोस्वामी ने काव्य लेखन, कथा लेखन, संवाद लेखन तथा फ़िल्मी पटकथा लेखन के दौरान कहने की कला का गुण पंडित राधेश्याम कथावाचक से सीखा था। वे उन्हें अपना काव्य गुरु मानते थे। यही कारण है कि ललित गोस्वामी की प्रतिभा का मूल्यांकन करते समय इस दिशा में भी विचार करना उत्तम रहेगा। इस दिवंगत काव्य प्रतिभा को मेरा नमन।

नवनिकष मासिक, कानपुर
सितम्बर, 2020 ई.

हरिशंकर शर्मा

पंडित राधेश्याम कथावाचक बनाम 'अधीर'

हिन्दी साहित्य में अनेक कवि-लेखकों ने छद्म नाम से लिखा है। 'छद्म नाम' से लिखे साहित्य के पीछे मनोविज्ञान को समझे बिना मूल के नाम रचनाकार तक पहुँचना असंभव नहीं, लेकिन कठिन अवश्य है। कहीं-कहीं रचनाकारों ने अपने छद्म नाम का रहस्योद्घाटन स्वयं किया है या उनके मित्र साहित्यकारों द्वारा। प्रेमचन्द हिन्दी में आने से पूर्व उर्दू में 'नवाबराय' नाम से लिखते थे। महाप्राण निराला में 'मतवाला' नाम से भी लिखा है। 'छद्म' नाम से लिखने वाले साहित्यकारों की एक लम्बी लिस्ट है। आजादी से पूर्व के साहित्यकारों ने अंग्रेजी सरकार की नीतियों की आलोचना कविताओं-आलेखों द्वारा छद्म नाम से की है, ताकि अंग्रेजी सरकार के कोप भजन से बचा जा सके। गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकारों ने पत्रकारिता के माध्यम से अंग्रेजी शासन की नीतियों की कटु आलोचना की थी और इसकी कीमत इन्हें चुकानी पड़ी। प्रेमचन्द की पुस्तक 'सोज़े वतन' को ज़ब्त कर लिया गया। नये प्रेस एक्ट के अनुसार किसी भी माध्यम से अंग्रेजी नीतियों, अधिकारियों या ब्रिटेन सरकार (सम्राट) की आलोचना करना अपराध था।

शिवप्रसाद गुप्त द्वारा प्रकाशित 'आज' समाचार पत्र ने शुरू से ही ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना की थी, उसे भी अंग्रेजी सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा। लेकिन आज ने छद्म नाम से 'रणभेरी' का प्रकाशन जारी रखा। इस विषय में बनारस से प्रकाशित 'फटीचर' पत्रिका के सम्पादक 'विश्वनाथ मुखर्जी' का पत्र (10 मार्च 1999 ई.) कुछ लिखने से पहले एक बात कह दूँ फटीचर पहली अप्रैल, उलूक आदि वनमैन शो पत्रिकाएं हैं। सारा मैटर दूसरों के नाम से लिखने की परम्परा बनारस में है। रिसर्च करने वाले मूर्ख बनाते हैं। जैसे युगेश्वर हास्य नहीं लिखते, मोहनलाल परिपूर्णानन्द वर्मा आदि के नाम से माधव प्रसाद मिश्र (एम. भारती) तथा धर्मशील लिखते रहे। माधव जी बीमार हुए, धर्मशील कई पत्रों में 'गुमनाम' से लिखते रहे।

इसी क्रम में उलूक पत्रिका में प्रकाशित पत्रिका में बिना नमा वाले आलेख धर्मशील के ही हैं। ठलुआ क्लब भी ठप्प पड़ा है। (विश्वनाथ मुखर्जी जी पत्र : लिखि-लिखि भेजै पाति, पुस्तक पृष्ठ 51)

पंडित राधेश्याम कथावाचक का नाम परिचय का मोहताज नहीं है। वे अपनी रामायण, नाटकों, कृष्णायन आदि लगभग स्वयं की पचास पुस्तकों के प्रकाशन से साहित्य जगत के बेताज बादशाह बने रहे। आपका नाम था 'लल्लू', राशि नाम था 'रामगोपाल' (बचपन का नाम) और प्रसिद्धी मिली-पंडित राधेश्याम कथावाचक के नाम से। राधेश्याम ने 'अधीर' उपनाम से भी रचनाएं लिखी हैं। इस बात की सर्वप्रथम जानकारी उनकी डायरी (1960 ई.) के अध्ययन के दौरान मिली। उनकी रचनाएं 'भ्रमर' पत्रिका में (सन 1922 से 1929 ई. तक) निरन्तर प्रकाशित होती थीं। कथावाचक के छद्म नाम 'अधीर' की जानकारी ''अपने जीवन का एक मजाक लिखूँ-राधेश्याम प्रेस से प्रकाशित होने वाले 'काव्य-साहित्य' को बरेली के एक गर्बीले उर्दू शायर 'दाना साहब' (मदन लाल दाना) उसमें काव्य पाठ पढ़ते ही नहीं थे। तब मैंने अधीर टाइटल पर एक कविता दी। पढ़कर वे फड़क उठे। अधीर की तलाश करने लगे कि मिले तो उसके चरण छुऊँ। (डायरी : 19 अप्रेल, 1960 ई.) कथावाचक ने आगे लिखा-होश संभालते ही मेरा दिमाग काम करने लगा। नई-नई कल्पनाएं नये-नये प्लाट बनने लगे। दिमाग की इसी हालत ने कवि और नाटककार बनाया। 'भ्रमर' नामक मासिक पत्र में अधीर नाम से कविताएं इसी वजह से देता था। (कथावाचक की डायरी का व्याकरण से 21 दिसम्बर 1959 ई.)

पंडित राधेश्याम कथावाचक ने सन 1920 ई. में राधेश्याम प्रेस की स्थापना की। इस प्रेस से उनका साहित्य प्रकाशित होता था। कथावाचक के संरक्षक में 'भ्रमर' पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी पत्रकारिता की महत्वपूर्ण घटना है। इसका प्रकाशन सन 1922 से 1929 ई. तक जारी रहा। कथावाचक के लेख कविताएं प्रवचन तथा अन्य कविताएं 'अधीर' नाम से प्रकाशित होती थी। 'भ्रमर' पत्रिका के अंकों पर केन्द्रित पुस्तक पर मेरी योजना अंतिम चरण में है। पत्रकारिता के इतिहास में विधिवत पहली बार विस्तार से पत्रिका में प्रकाशित 'अधीर' उपनाम से पंडित राधेश्याम कथावाचक की रचनाओं की चर्चा करना मूल प्रयोजन है।

राधेश्याम प्रेस, बरेली से 'भ्रमर' पत्रिका का प्रथमांक अक्टूबर 1922 ई. पूर्णिमा के दिन हुआ था। पत्रिका में ध्येय वाक्य के रूप में पंडित राधेश्याम कथावाचक की यह काव्य पंक्तियाँ 'अधीर' नाम से प्रकाशित हुई थीं–

विश्व वाटिका में विचरण कर,
पीना पुष्पों का मकरन्द।
लेकिन 'भ्रमर' भूल मत जाना,
प्रभु–पद पंकज का आनंद।
सच्चे सुख का धाम वही है,
वहीं ठहरना हो निस्पन्द।
राधा–माधव की गुण गाथा,
गुन गुनकर गाना स्वच्छंद।

(अधीर : अक्टूबर 1922 ई.)

इस प्रकार 'भ्रमर' दिसम्बर 1922 ई. (अंक तीन) में 'अधीर' नाम से ध्येय वाक्य के रूप में दूसरी कविता प्रकाशित हुई थी–

लता भवन में 'भ्रमर' विहरना
कली–कली पर गुन–गुन करना
आम्र–मंजरी से जी भरना
धरना किन्तु कंज पर धरना।

भ्रमर में कथावाचक की सन 1922 में प्रकाशित काव्य पंक्तियाँ प्रमुखता से सन 1929 तक अंकों प्रकाशित होती रही, लेकिन आगे के अंकों में 'अधीर' नाम प्रकाशित नहीं है।

'भ्रमर' दिसम्बर 1922 ई. के अंक में 'तीर्थ यात्रा' कथा प्रसंग में श्रीयुत 'एक मुसाफिर' नाम से सतसंग की एक कहानी प्रकाशित हुई है। इसमें गंगासहाय और रामगोपाल के परस्पर संवाद द्वारा तीर्थ–यात्रा के महत्व को रेखांकित किया है। इस कहानी के मध्य में प्रकाशित कविता से स्पष्ट है कि यह कहानी के लेखक पंडित राधेश्याम कथावाचक हैं। काव्य पंक्तियाँ इस प्रकार है–

हमें धन से है मतलब क्या? हैं हम तो राम के बन्दे
राह करते नहीं प्यासे, कभी घनश्याम के बन्दे
त्रिलोकी की भी सम्पत्ति हो, तो उसको मार दें ठोकर
हैं हम उस द्वार के सेवक, हैं हम उस धाम के बन्दे
कभी मरते नहीं दुनिया के झूठे नाम पर, धन पर
जो हैं हरि नाम के प्रेमी, जो हैं हरि नाम के बन्दे
सदा अलमस्त रहते हैं, सदा आनन्द करते हैं
सब उनके काम पूरण हैं, जो पूरण काम के बन्दे
उन्हें जग में सताते हैं, न दुःख या क्लेश किंचित भी
जो हैं कृष्ण, राधेकृष्ण, 'राधेश्याम' के बन्दे।

काव्य पंक्तियों में प्रयुक्त कवि नाम राधेश्याम है। अतः इस 'तीर्थ यात्रा' के लेखक श्रीयुत 'एक मुसाफिर' राधेश्याम कथावाचक ही हैं। यहाँ ग़ज़ल की रवानी है।

'भ्रमर' (जनवरी, 1930 ई. अंक : 4, पृष्ठ 106 से 111 तक) में 'बसन्त की डाली' शीर्षक से कथावाचक का एक आलेख 'अधीर' नाम से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने लेख के आरम्भ में लिखा-

बहरे गुल गश्ते गुलिस्ताँ, गुल अज़ार आने को है
हम सफ़ीराने चमन फूलें, बहार आने को है।

प्रिय सम्पादक जी,

कितनी ही बार सोचा कि कोई गुलदस्ता आपकी मेज पर पहुँचाऊँ, पर पहुँच न सका। बात यह थी कि फूल इकट्ठे न मिलते थे जो, जो हाथ में आते थे छिन जाते थे। आज जैसे तैसे कुछ संग्रह कर ही डाले हैं जो 'डाली' के नाम से भेजता हूँ। कबूल फ़रमाने को ज़हे किस्मत। (ध्यान रहे कथावाचक जी का उर्दू भाषा और साहित्य की अच्छी समझ थी।)

1. कवियों ने सुन्दरी के चिकने लम्बे और काले बालों को काले साँप की तरह बताया है-

'मार भी मन मार के मर जाय और मन छोड़ दे।
रूख़ पै अपने जब यह काफ़िर ज़ुल्फ़ नागन छोड़ दे।।

और भी-

उतर के आई है ज़ुल्फ़ बल खा रही है, उनकी कमर के नीचे।
हैं आबे है वाँ की जुस्तजू में मिसाले नागन कमर के नीचे।।

बालों को लिख इस तरह काले साँप थी उपमा दिया जाना एक समालोचक को बहुत खटका। आपने लिखा-

केसन अहि उपमा दई, भूले गुनी अचेत।
श्याम हुए तक डसत रहे, सेत क्यों न डसलेत।।

अभिप्राय यह है कि बालों को साँप की तरह बताकर कवियों ने भूल की। क्योंकि साँप चाहे काले हों या सफेद डसते ही हैं। मगर बाल सिर्फ़ काले ही डसते हैं सफेद नहीं। भला कवि कब रह जाने वाले थे। वह जवाब दिया कि समालोचक जी सारी करामात ही भूल गये। जरा सुनिये-

तिय तरुणाई मलय तरु, लिपटे अहि हित हेत।
बे सूखे बे चल बसे, छाँड़ि केंचुली सेत।।

नायिका की जवानी रूपी चंदन के पेड़ से प्रेम करने के लिए (काले बाल) सर्प आकर लिपट गये हैं। लेकिन जब यह पेड़ सूख गया (जवानी चली गयी) तो यह साँप भी चल दिये और जाते वक्त अपनी केंचुकी (सफेद बाल) छोड़ गये।

2. आँखें भी गजब की चीजें हैं, अनेक कवियों को इन्होंने मारा है। देखिए बिहारीलाल तो कराह रहे हैं-

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अंग आन।
ये तेरे सब से विषम, ईछन तीछन बान।।

कहते हैं यह नयन बाण हैं कि बला! लगे तो आँखों में आकर, बींधा हृदय को और अब तकलीफ पहुँच रहे हैं सारे शरीर को। एक और दूसरे महाशय को देखिए वे कह रहे हैं-

जीने न देगी आँखें तेरी दिल रुबा मुझे।
दो खिड़कियों से झाँक रहा है क़ज़ा मुझे।।

अब एक तीसरा नज़रिया भी-

झूमैं झुकैं उझकैं फिर झूमैं महानद मैन हरेई रहैंरी।
टारे टरैं नवरंग ये दिन ठौरहि ठौर अरेई रहैंरी
रंग भरे दृग तेरे तिया सुख के अभिमान भरेही रहैंरी
खून करैं कुल आलम को जो न लाज को आँदू परेई रहैंरी।।

यह सब कुछ होने पर भी कवि समाज ने अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य के अनुसार कलम तोड़कर आँखों की प्रशंसा की है-

भिखारिन के किसी की सांवरी सूरत पै डोरे हैं।
इन्हें आँखें न समझो भीख के ये दो कटोरे है।।

× × ×

मीन मृग खंजन खिसान भरे मैन बाण
अधिक गलानि भये कंज कलि ताल के
राधिका छबीली की छहर छवि छाके भरे,
छैलता के छोरे भरे भरे छबि जाल के
ग्वाल कवि आन भरे शान भरे स्थान भरे,
कछु अलसान भरे भरे मैन भाल के
लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे लाज भरे,
लाली भरे लाड़ भरे लोचन हैं लाल के।।

× × ×

नयना बड़े गरीब है, रहैं पलक की ओट।
समय पड़े चूकैं नहीं, करैं लाख में चोट।।

× × ×

परत कांकरी तनक सी होत जिया बेचैन।
बे व्याकुल कैसे जियें जिन नयनन में नैन।।

हिन्दी कवियों ने आँखों पर खूब लिखा है और उर्दू कवियों ने भी। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि एक मुसलमान कवि ने हिन्दी का एक दोहा आँखों की तारीफ में लिखा है जिसका जवाब हिन्दी के अच्छे-अच्छे शायरों से आज तक नहीं बना है। इस दोहे के मजबून को फारसी अशआर में पिनहां करने की कोशिश की थी लेकिन सफल न हुआ। यह दोहा है-

अमी हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत एक बार।।

ऐसी अच्छी कविता कविता के लिए अब भी हिन्दी संसार अब्दुलरहीम खानखाना का ऋणी है।

खानखाना के इसी दोहे की छाया पर एक उर्दू शायर ने आँखों के त्रिविध रंग को लेकर बरसात के मौसम की घटा दिखाई है। इसमें बसन्त का नज़ारा भी और बरसात के मौसम का भी-

मज़ा बरसात का देखो तो आओ मेरी आँखों में।
सियाही है, सफ़ेदी है शफ़क़ है अब्रेबारां है।।

3. कमर इतनी दुबली-पतली है कि नज़र ही नहीं आती। इसीलिए कवियों ने बार-बार कमर की नज़ाकत पर लिखा है। जरा सा, बोझ पड़ने पर उन्होंने कमर में तीन बल डाल दिए हैं। एक उर्दू कविता के उस्ताद ने कमर की नज़ाकत पर एक बड़े मजे की लाजवाब शेर लिख डाला-

सब नज़ाकत बरतराफ़ लफ़्ज़ी नज़ाकत देखिए।
तीन बल खा जाता है लफ़्ज़े कमर तहरीर में।।

4. सुन्दरी के मुखमण्डल को कवियों ने अक्सर चन्द्रमा की उपमा दी है। राधाजी ने ऐसी गुस्ताखी पर अपने श्रीकृष्ण चन्द्र को फटकार दिया। उन्होंने कहा-

फूलन की माल ऐसी कहत मुलाममोंसों,
फूलन की माल में लिराखत न क्यों गेरें
मेरे दृग रोज ही ही बताबत सरोज ऐसे,

लै लै के सरोज रोज मन में न क्यों न भरैं
हौं तौ री न जै हौं आज पास बनमाली बेई
आप पिय पास पाँय इतकौ न क्यों धरैं
मेरो मुख चंद सो बतावै ब्रजचन्द रोज,
कहौ ब्रजचन्द जू सों चन्द देखिवो करैं।

शायद इस फटकार से ही होशियार होकर साथियों ने राधाजी के मुखमण्डल की छवि के आगे चन्द्रमा को भी हेय ठहरा दिया-

आनन्द को कन्द वृषभानुजा को मुख चंद
लीला होते मोहन के मानस को चोरैं हैं।
दूजो तैसो रचिवे को चाहत विरैचि नित,
राशि को बनावै अजौं मुख को न मोरै है।
फेरत है सान आसमान पै चढ़ाय पुनि,
पानी पै चढ़ायवे को बारिधि में बोरे है।
राधिका के आनन को जोर न विलोक विधि,
टूक टूक जोरै पुनि टूक टूक तोरै है।'

5. तिल को ताड़ करने की कहावत हमेशा से चली आ रही है। जो लोग निरंकुख हैं वे तिल सी चीज को ताड़ करके दिखलाते हैं। कवियों की निरंकुशता भी कुछ कम नहीं होती। 'निरंकुश ही कवय:' की लोकोक्ति प्रसिद्ध है। कवियों ने वास्तव में तिल को ताड़ करके लिखा है-

तेरे रुखसारे ताबाँ पर वह काला सा नहीं तिल है
किसी आशिक़ काजल भुनकर सिमटकर रह गया दिल है।

उर्दू कवियों की तरह हिन्दू कवियों की निरंकुशता भी एक से एक। लंका में सब बावन गज़ के हैं-

गेरे मुख पर तिल बनो ताहि करौं परनाम
मानो चन्द्र बिछाय कै पौढ़े सालमराम।

कवि पद्माकर ने क्या गजब ढाया है-

कैधौं रूप राशि में श्रृंगार रस अंकुरित,
कुकरित कैधौं तम तड़ित जुन्हाई मैं।
कहें 'पद्माकर' किधौं ये काम कारीगर,
नुकता दियो है हमे फरद सोहाई मैं।
कैधौं अरविन्द में मलिन्द सुत सोयो आन,
कैधौं तिल सोहत कपोल की लुनाई मैं,
कैधौं परयो इन्दु मैं कालिन्दी जल बिन्दु कैधौं,
गरक गोविन्द भयो गोरीकी लुनाई में।।

6. बसन्त वर्णन में हिन्दी कवि उर्दू कवियों से बहुत बढ़े हुए हैं। उर्दू वालों ने 'मौसमे बहार' को ज्यादातर महबूब की जवानी पर ही लिखा है। लेकिन हिन्दी कवियों ने उसे प्राकृतिक रंगों में रंगा है। हाथ कंगन को आरसी क्या बानगी देख लीजिए-

कूलन में केतिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है
कहें पद्माकर पराग हूँ मैं पौन हूँ मैं
पातिन में पीकन पलाशन पगन्त है
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में
देखौ द्वीप द्वीपन में दीपित दिगन्त है
वीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगरयो बसन्त है।

अब जरा बाग के चौधरी का बसन्त वर्णन भी सुन लीजिए। खुरपी से गमले की मिट्टी ठीक करते हुए फरमाते हैं-

जबकि पड़ने लगी चमन में खाद
बुलबुलो मौसिमे बहार आया।

(अधीर, भ्रमर, जनवरी 1923 ई.)

'भ्रमर' पत्रिका में कई आलेख हैं जिनमें पंडित राधेश्याम कथावाचक के पदों/कविताओं में सीधे नाम का उल्लेख है। लेकिन मूल लेख के लेखक का नाम छद्‌म है। भ्रमर पत्रिका (फरवरी 1923) में 'फुर्र-फुर्र' आलेख के लेखक का नाम 'खिलाड़ी' है। लेकिन पदों में कथावाचक के नाम का उल्लेख है। पूरा लेख पढ़कर विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि भाषा-शब्द एवं शैली की दृष्टि से इस आलेख के लेखक 'खिलाड़ी' ही कथावाचक हैं। पूरा आलेख होली के रंग में रंगा है। कथावाचक जी ने अपनी डायरियों में यत्र-तत्र होली एवं अन्य पर्वों की चर्चा की है। फुर्र-फुर्र आलेख के सभी पदों में होली की मस्ती है। कथावाचक जी का यह पद-

न बरजोरी करो हम से लला घनश्याम होली में।
हटाओ इस बने रंग का रिवाजे ख़ाम होली में।।
भरे झोली गुलालों की लिए टोली हो ग्वालों की।
बने हो आज फागुन के नये गुलफ़ाम होली में।।
ये बरसाना है हे कान्हा! यहाँ पर रंग न बरसाना।
अदल है यों किशोरी का करो आराम होली में।।
मरदुओं को यहाँ पर गोपियाँ नारी बनाती हैं।
कहीं श्याम न बन जाना बढ़ाकर नाम होली में।।
चलो जो होनी थी सो होली नई होली मुबारक हो।
पियो अब प्रेम बूटी का रंगीला जाम होली में।।
सुनी यह बात ललिता को हँसी इतने में राधा जी।
मिले हैं बाद मुद्दत के यह 'राधेश्याम' होली में।।

(भ्रमर : फरवरी, 1923 ई.)

विविध विषय विभूषित, मासिक पत्र भ्रमर अंक (मई और जून 1923 ई.) में ध्येय वाक्य के रूप में 'अधीर' नाम से कथावाचक की यह कविता प्रकाशित है-

फूल-फूल पर फूल कर
फँस मत जाना फाँस में

सन्ध्या होती है 'भ्रमर'
आना अपने बाँस में।

(अधीर : भ्रमर : मई से जून 1923 ई.)

कथावाचक 'भ्रमर' में अपने विचारों / कविताओं को छद्म नाम से इस लिए देते थे कि उसकी नकल या चोरी न हो। कथावाचक ने अपनी कविताओं / किताबों की नकल का दंश अपने जीवनकाल में झेला था। इसकी चर्चा उन्होंने अपनी डायरी में की है। 'भ्रमर' (अक्टूबर 1923 ई.) में कथावाचक के सतसंग-विचारों को 'अधीर' नाम से प्रकाशित हैं। विचारों में चिंतन की झलक वाले कुछ विचार–

हे हृदय स्थल के देवता, मैं तेरी खोज में हूँ। सच बता तू कहाँ है? उस दिन हृदय स्थल में तुझे देखा था, तू नहीं मिला, लोगों ने कहा–'बाहर है'। बाहर जब तुझे देखने लगा तो मालूम हुआ–'भीतर है।'

हे! बाहर और भीतर दोनों तरफ खेल करने वाले खिलाड़ी, जल्द बता तू कहौ है? हिन्दू कहते हैं–'मंदिर में हैं।' मुसलमान बताते हैं–'मस्जिद में है।' ईसाईयों का कहना है कि–'गिरजे में है।' हे तीनों जातियों के तीनों पवित्र स्थानों में अपने प्रकाश पूर्ण मुखड़े को छुपाने वाले तीनों गुणों से तीत-त्रिभुवननाथ, आज मैं पूछ के रहूँगा कि तू कहाँ है?

कहीं संध्या गायत्री हो रही है, कहीं रामायण का पाठ है, कहीं गीता पंचदशी का अवलोकन है, कहीं वेद ध्वनि हैं, कहीं प्राणायान और समाधि है, कहीं यज्ञ और हवन हैं, कहीं सत्य श्री अकाल का घोष है, कहीं अल्लाह हो अकबर के नारे हैं, कहीं वन्देमातरम की गूंज है, कहीं महावीर स्वामी की है, कहीं-कहीं 'हर-हर महादेव' की सदा है, यह सब है मगर तू कहाँ है?

बता तू कहाँ छुपा बैठा है? कामिनियों के लम्बे लम्बे बालों में या गोरे-गोरे गालों में? छोटे-छोटे बच्चों की तोतली बोली में या मधुर मुस्कान में? संगीत के मनोहर स्वरों में या मीठी तान में? फूलों की भीनी-भीनी ख़ुशबू में या सुन्दर रंगों में? कविता के हृदय लुभाने वाले पदों में छंदों में या अलंकारों में? आज बता दे प्यारे, आज बोल उठ सामलिया, तू कहाँ है?

तुलसी ने देखा, नानक ने देखा, सूर ने देखा, कबीर ने देखा, मन्सूर ने देखा, हक़ीकत ने देखा, मीरा ने देखा, सहजो ने देखा, अगर सच है सबने देखा तो मैं भी तुझे देखना चाहता हूँ। मेरे प्यारे सरकार, मेरे दीनदयाल मैं भी तुझे देखना चाहता हूँ, इसीलिये कह रहा हूँ, बार-बार कह रहा हूँ, तू कहाँ है?

आज ही सवेरे इन्हीं विचारों में डूबा हुआ था। उसी समय एक प्रकाश हुआ, मैं उठ बैठा। एक आवाज आई, मेरे कान खड़े हो गये। एक झोंका आया मैं उसमें उड़ चला। कितनी देर यह उड़ान रही, नहीं ख़बर। क्या देखा? गूँगे का गुड़ है, वाणी मौन है, लेखनी गुम है। दरवाजे पर कोई साधु गा रहा था-

मुझको कहाँ ढूँढे रे बन्दे मैं तो तेरे पास में
गुरुद्वारे में, गिरजे में भी, मन्दिर में भी, मस्जिद में भी
मिल तो जाता हूँ मैं लेकिन मिलता हूँ विश्वास में।

(अधीर : भ्रमर : अक्टूबर 1923 ई.)

पंडित राधेश्याम कथावाचक द्वारा सम्पादित 'भ्रमर गीत माला' की 'मधुर मुरली' का प्रकाशन का चौथा संस्करण 1968 ई. में राधेश्याम प्रेस (बरेली) से हुआ था। इसमें भ्रमर मासिक पत्रिका (सन 1922 से 1929 तक) में प्रकाशित कविताओं का प्रकाशन हुआ था। 'आवेदन' शीर्षक गीत में राधेश्याम कथावाचक की कविता 'अधीर' नाम से प्रकाशित है-

नाथ फिर आयी दीवाली।।
काल-चक्र में फिर भारत में, गड़बड़ कर डाली।
एक वर्ष में हुई देश की कितनी पामाली। नाथ...।।
सत्याग्रह छिड़ गया कहीं, तो कहीं पिटी ताली।
कहीं खोपड़ी पर संतों ने लाठी बजवाली। नाथ...।।
कहीं रार कानूनी होकर, बंधे धर्मशाली। नाथ...।।
कहीं पड़ी है गद्दी कोई, राजा से खाली।
कहीं बाढ़ की भीषणता ने, कर दी बेहाली।
दो जातियाँ लड़ी आपस में, होकर मतवाली। नाथ...।।

बाग हुआ जाता है बीहड़, आओ बनमाली
स्वयं को करनी होगी, अब देखा भाली। नाथ... !!

(अधीर : भ्रमर: 1925 ई.)

पंडित राधेश्याम कथावाचक ने 'अधीर' नाम से भ्रमर में निरन्तर लिखा है। यह आलेख मेरे पास उपलब्ध भ्रमर की फाइलों के आधार पर है। 'भ्रमर' की सन 1924, 25, 26 की फाइलें काशीनागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित हैं। यदि इन फाइलों में 'अधीर' नाम से कथावाचक की रचनाएं मिलीं उन्हें बाद में प्रस्तुत करूँगा। मैं अपनी लेखनी को यहाँ विराम देता हूँ।



मुख्य आवरण पर : 'वीर अभिमन्यु' (नाटक), पृष्ठ आवरण पर : मशरिकी हूर (उर्दू नाटक)
दोनों चित्र भ्रमर पत्रिका से साभार।

₹ 299.00

ISBN : 978-93-90419-08-1

बोधि
साहित्य जन-जन के लिए

बोधि जन-संस्करण
आवरण संयोजन : बोधि टीम